सार्थक विचारों की ज़रूरत

(कुछ लेख और कुछ समीक्षाएँ)

वेदप्रकाश सिंह

प्रकाशक: नॉटनल

प्रकाशन: अगस्त,2022

© *वेदप्रकाश सिंह*

ISBN: 978-93-92465-00-0

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साहित्य में वसंत

गांधी जी और हिन्दुस्तानी ज़बान

हिंदी का अंतरराष्ट्रीय स्वरूप

लाई हयात आए कज़ा ले चली चले

युद्ध का समाधान प्रेम

अंबेडकरवादी विचारक, शिक्षक डॉ. तेज सिंह

विडंबनात्मक स्थितियों का हास्यपूर्ण बयान

एक बेरोजगार युवक से परसाई की मुलाकात

शिवमूर्ति की कहानियाँ ग्रामीण जीवन में यातना के रूप :

बाज़ार के दौर में हिंदी कहानी

वर्तमान हिंदी कहानी में जाति और लिंग आधारित शोषण के रूप

मृत्यु और निराशाजनक जीवन की कहानियाँ

हिंदी में संकेत परिवर्तन (code switching) और हिंग्लिश का प्रचलन

भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ और हिंदी कहानियाँ

आदर्श का विचार अभी पुराना नहीं पड़ा है

महाप्रभु की कथा

त्यागे जाने का अभिशाप और शकुंतला

भूमंडलीकृत समाज की फसक गाथा

सच्चे समाज की सच्ची कहानी

इतिहास, अन्याय, साहित्य

अकेलेपन की पीड़ा

समय के बेसमय होने की क्रूर कथा

सामान्य में विशेष की ध्वनि

ओझल को सामने लाने की चिंता से निर्मित कहानियाँ

दहकते वर्तमान की कहानियाँ

बदलते यथार्थ की कहानियाँ

बचा रहेगा जीवन

दलित दायरे के दर्द

मनुष्यता के पक्ष में मौजूद कविताएँ

मनुष्य में भरोसा

विश्व शांति की प्रार्थना करती कविताएँ

इस बेहद संकरे समय में एक कवि का एकालाप

नए वर्गीय भावबोध की तलाश

बची हुई स्मृति की ये कलियाँ

अपनी कहानी कहने का अलग अंदाज

सरोकार को स्वर

देस परदेस की यात्रा के अनुभव

मुद्दे तो हैं मगर दृष्टिकोण नहीं

सचेतक, मुंशी जी और डॉ. रामविलास शर्मा

आधुनिक हिंदी गद्य का पुनःपाठ

गंभीर शोध की रिक्तता भरती वरिमा

सार्थक विचारों की जरूरत

देवनागरी लिपि और हिंदी संघर्ष की यात्रा

गुरु की खेती-बारी

भूमिका जैसा कुछ

यह आलोचना की पुस्तक नहीं है। लेकिन इसमें आलोचना के अलावा और कुछ नहीं है। कुछ विषयों और कुछ किताबों पर समय-समय पर लिखे और छपे लेखों-समीक्षाओं को एक साथ रखभर दिया गया है। अलग-अलग चौदह लेखों और तीस समीक्षाओं को आप यहाँ देख-पढ़ सकते हैं। हो सकता है यह किताब किसी को काम की भी लगे। मेरे लिए इसकी उपयोगिता अपने अब तक किए गए काम को एक साथ एक जगह देखनेभर की है। साथ ही किसे अपनी किताब देखने का सुख अच्छा नहीं लगता होगा! इन्हें जिन्होंने भी लिखवाया और छापा उनके प्रति सिर झुकाकर कृतज्ञता अर्पित कर रहा हूँ। इसमें व्यक्त विचार मेरे नहीं हैं। जिन लेखकों ने मुझे जाने-अनजाने प्रभावित किया उनका साफ असर आप यहाँ हर वाक्य पर महसूस कर सकेंगे और हो सकता है आपको कुछ वाक्य भी

प्रभावित करने वाले लेखकों और आलोचकों के मिल जाएँ! अगर ऐसा लगे तो इसे केवल संयोग माना जाए। कोशिश की गई है कि स्रोत की जानकारी लेखों और यहाँ तक की समीक्षाओं में भी दी गई है। किसी प्रकार से अपने पाठक के प्रति अन्याय का भाव यहाँ नहीं मिलेगा। जो मित्र-पाठक किसी भी वजह से इस किताब के पन्ने पलटने आएँगे वे हो सकता है बहुत खुश न हों लेकिन निराश नहीं होंगे। इन लेखों और समीक्षाओं में मैंने अपने पूरे मन से लिखा है भले ही इनमें से कुछ पूरी तरह से फरमाइशी लेख और समीक्षाएँ हैं।

मेरे लिखने की शुरुआत तो सबकी तरह परीक्षाओं में प्रश्नोत्तर लिखने से हुई। लेकिन आलोचना से जुड़ी पहली कोशिश तेईस साल की उम्र में यशवंत व्यास के उपन्यास 'कॉमरेड गोडसे' से हुई। एक मित्र जो 'महामेधा कारवां' नामक अखबार में काम करते थे, उनके कारण यह समीक्षा लिखी गई। शीर्षक उन्होंने ही दिया 'सच्चे समाज की सच्ची कहानी'। यह शीर्षक मुझे पसंद नहीं आया। जैसे किताब का शीर्षक भी कोई अच्छा नहीं था। इसे और विस्तार न देते हुए यहीं पर भूमिका को खत्म करते हैं। बाकी बातें लेखों और समीक्षाओं में आ गई हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में वसंत

संस्कृत साहित्य में कालिदास और खड़ीबोली हिंदी कविता में निराला के बाद गद्य के क्षेत्र में वसंत पर संभवतः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सबसे अधिक लिखा है। 'वसंत आ गया है' शीर्षक से तो द्विवेदी जी का एक निबंध भी है। इसके अलावा 'आम फिर बौरा गए', 'अशोक के फूल', 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद', 'कालिदास की लालित्य योजना' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आदि रचनाओं में द्विवेदी जी वसंत चर्चा करते हैं। वसंत का समय प्रकृति के पुनः समृद्ध होने का समय होता है। यह समय प्रकृति में नए जीवन के संचार का समय भी होता है। भीषण शीत ऋतु के बीतने और प्रकृति में नवता के संचार का भी यही समय होता है। इसी मौसम में प्रकृति, वन, उपवन और मानव मन में हर्ष भरने लगता है। 'सखि वसंत आया' हर्ष भरा वन के मन नवोत्कर्ष छाया निराला जी की ये पंक्तियां वन के मन ही नहीं मानवमात्र और समग्र प्रकृति में मरने वाले हर्ष की सूचना और साक्ष्य प्रस्तुत कर रही है। वसंत

ऋतु के दिनों में उत्तर भारत के सरसों उपजाने वाले क्षेत्रों में जाने पर सरसों के पीले फूलों से आच्छादित पृथ्वी दूर-दिगंत तक दिखलाई पड़ती है। 'फाग गाता मास फागुन' का भी यही समय होता है।

वसंत ऋतु की चर्चा हिंदी साहित्य में पर्याप्त रूप में हुई है। प्रायः वियोग श्रृंगार के उद्दीपन विभाव के रूप में। लेकिन स्वतंत्र रूप में सौंदर्य की एक छवि के रूप में, वसंत की चर्चा आधुनिक काल में ही अधिक हुई है।

"संदेश रासक' के रचयिता आदिकालीन कवि अब्दुल रहमान की नायिका वसंत ऋतु को मनोहर मधुमास कहती है। वह उसे वियोगियों की मदनाग्नि को विस्फुरित करने वाली बताती है। साथ ही मलयगिरि समीर का संचार करने वाला कहती है -

> 'ओ गयउ सिसिरुवगतिण दहंतु,
>
> महुमास मणोहरु इत्य पंतु ।
>
> गिरिमलय समीरणु गिरु सरंतु,
>
> मणि विओहि बिफ्फुरंतु ॥

इसके बाद बन तृण को जलाता हुआ शिशिर बता गया और यहां मनोहर प्राप्त हुआ। वियोगियों की मदनाग्नि को विस्फुरित करता हुआ मलयगिरि समीर

चलने लगा। 'संदेश रासक, संपादक : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ.सं. 190)

इसी तरह वियोग का एक चित्र जायसी के 'पद्मावत' में नागमती वियोग खंड में मिलता है। यहां वसंत ऋतु में प्रकृति और वियोगिनी नागमती के ऊपर होने वाले प्रभाव की दारुणता को व्यक्त किया गया है –

चैत वसंता होई धमारी। मोहि लेखे संसार ज्जारी।

पंचम विरह पंच सर मारै। रक्त रोइ सगरौ बन ढारै।

बुद्धि उठे सब तरिवर पाता। भीज मंजीठ टेसू बनराता।

मोरे आंव फरै अब लागे। अबहू संबरि घर आउ सभागे।

सहस भाव फली बनफती मधुकर फिर संबरी मालती।

मो कहं फूल भए जस कांटे। दिस्टि परत तन लग्गहि चांटे।

भर जोबन एहुं नारंग साखा सोवा बिरह अब जाइ न राखा ।

घिरिनि परेवा आव जस आइ परहु पिय टूटि।

नारि पराएं हाथ है तुम्ह बिनु पाव न छूटि।।

चैत में वसंत की धमार होती है। पर मेरे लेखे संसार उजाड़ है। कोयल अपने पंचम राग में विरह के कारण पिउ पिउ करती हुई काम के पंच बाण मारती है और रक्त के आंसू रोकर सारे वन में गिराती है। उन आंसुओं में डूबकर वृक्षों के नए पत्ते ताम्रवर्ण हो गए हैं। मंजीठ भी उनसे भीज गया है और वन का टेसू उनसे लाल हो गया है। मरे हुए आम फलने लगे हैं। सभागे कंत, अब भी मेरा स्मरण कर घर जाओ। वनस्पति सहस्रों रूपों में फली है। भौंरे मालती का स्मरण कर लौट आए हैं। मुझे फूल कांटे जैसे लग रहे हैं। उनके देखते ही मेरे शरीर में चींटे लग जाते हैं। इस नारंग वृक्ष की शाखा में यौवन भर गया है। विरह रूपी सुग्गा उन्हें खाना चाहता है। अब रक्षा नहीं हो सकती। गिरहबाज़ कबूतर जैसे आता है वैसे ही, हे प्रिय, तुम भी आकर टूटो। यह स्त्री पराए वश में है तुम्हारे बिना उससे न छूट पाएगी। पद्मावत, पृ. सं. 352-353) 'बारहमासा' के रूप में दर्ज यह वियोग वर्णन हिंदी का अपनी काव्यरूढ़ि है। इस कारण भी वसंत की चर्चा हिंदी साहित्य में काफी हुई है। रीतिकाल में ऋतु वर्णन को पर्याप्त महत्त्व दिया गया। यहां वसंत ही नहीं अन्य पांचों ऋतुओं पर कवियों ने अपने भाव व्यक्त किए हैं। रीतिकालीन कवि देव ने वसंत के प्रभाव का चित्रण करते हुए वसंत को मदन रूपी राजा का पुत्र बताया है। यह पद देखिए –

डार द्रुम पलना, बिछौना नवपल्लव के

सुमन झंगूला सोहै तन छबि भारी दै।
पवन झुलावे केकी कीर बहरावै दैव,
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै॥
पूरित पराग सो उतरैं करैं राई लोन,
कंजकलि नायिका लतानी सिर सारी दे।
मदन महीप जू को बालक बसंत, ताहि,
प्रताहि जगावत गुलाब चटाकरी दै॥

छंद की लय वसंत के प्रभाव की सहज प्राकृतिक लय के रूप में यहां उत्तर आई है। प्रकृति और काव्य की लय-समानता के संदर्भ में आधुनिक काल में निराला की कविता 'सखि वसंत आया' और केदारनाथ अग्रवाल की बसंती हवा का भी जिक्र किया जा सकता है जिसमें केदार जी वसंत को ग्रामीण नवयुवती के रूप में, उसके अल्हड़पन, अटखेलियों के रूप में निरूपित करते हैं। प्रकृति और नारी की सहज स्वाधीनता के भाव को भी दर्ज करते है। उसमें भी वसंत के प्रभाव की लय ही बोलती है। 'हवा हूँ, हवा में बसंती हवा हूं' में इसे सहज ही महसूस किया जा सकता है।

कविता के क्षेत्र में इस चर्चा के बाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की वसंत ऋतु संबंधी चर्चा पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि उनका संस्कृति चेता मन हजारों वर्षों के मानव इतिहास को जान लेना चाहता है। वे मनुष्य, प्रकृति और शब्द के माध्यम से प्राचीन काल के इतिहास-संस्कृति को, उसकी विकास-यात्रा के अज्ञात अल्पज्ञात विस्मृत हो रहे हिस्से को, जान लेना चाहते हैं। बार-बार इस इच्छा को वे व्यक्त भी करते हैं और अफसोस भी व्यक्त करते जाते हैं। वे ‘अशोक के फूल निबंध में लिखते हैं-"मेरा मन प्राचीन काल के कुंझटिकाच्छन्न आकाश में दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहा है?" संकलित निबंध, पृ.सं.3) वे इस कारण अपने आस-पास उपलब्ध छोटी-से-छोटी बात को भी उसकी परंपरा में जानना चाहते हैं "मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस साधना के पिछले हजारों वर्षों पर बरस जाना चाहता है।’ ‘अशोक के फूल’ निबंध में व्यक्त इस आकांक्षा इच्छा को आम फिर बौरा गए में प्रकट इस वाक्य के साथ मिलकर देखने पर एक संपूर्ण अर्थ बनता है। द्विवेदी जी कहते हैं-’मेरा मन अधभूले इतिहास के आकाश में चील की तरह मंडरा रहा है, कहीं कुछ चमकती चीज़ नज़र आई नहीं कि झपाटा मारा।" यहां वे अपनी भावभूमि के आधर को पाठक के साथ साझा कर रहे हैं। वे वसंत चर्चा में भी इसी उद्देश्य आकांक्षा के साथ प्रवृत्त होते हैं। उनके निबंधों के साथ-साथ उनके साहित्य को समझने का एक

सूत्र भी इन पंक्तियों में अंतर्निहित है। निबंधों की रचना-प्रक्रिया में यह बात काफी दूर तक हमें दिखाई भी देती है।

प्रकृति और शब्द की जो अर्थ परंपरा है, उसे द्विवेदी जी कभी नज़रअंदाज नहीं करते। क्या मालूम किस शब्द से फल से, पेड़ से, अर्थ की, स्मृति की कितनी बड़ी परंपरा जुड़ी हो। 'अशोक के फूल निबंध में वे लिखते हैं- "एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का भार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की भी अपनी स्मृति-परंपरा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चम्पे की भी है। सब क्या हमें मालूम है? जितना मालूम है, उसी का अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है?" "यह असहायता बोध इच्छा और अभाव की टकराहट से उपजा है। इच्छा है कि उस स्मृति परंपरा को जान लें, लेकिन उस परंपरा का जीवंत इतिहास अनुपलब्ध है, उसका अभाव है। इसकी टकराहट द्विवेदी जी के निम्न कथनों में व्यक्त हो रही है लेकिन वे हार मानने को तैयार नहीं है। मनुष्य की विजय यात्रा पर अपना अडिग विश्वास रखने के चलते आचार्य द्विवेदी इतिहास-पुराण सभी स्रोतों में जाकर इस यात्रा के सकारात्मक और वर्तमान में उल्लेखनीय बिंदुओं को खोज लाते हैं। वसंत की चर्चा, वसंत ऋतु में फूलने वाली आम्र मंजरियों की चर्चा का निहित उद्देश्य भी कमोबेश यही रहता है। वे मनुष्य की जययात्रा में विश्वास रखते हैं इसीलिए आज के समाज के द्वंद्व को प्राचीन काल के समाज के

द्वंद्व के साथ रखकर देखने पर उन्हें आश्चर्यजनक और आश्वस्तिपरक घटनाएं देखने को मिलती हैं और कुछ समानताएं भी। वसंत में आम की मंजरियों के साथ वे बिच्छू की बात करते हैं। यहां एक बड़ी उपलब्धि से पाठक को परिचित कराने से पहले उन्हें आत्मीय बना लेने के शिल्प में अपनी बात कहते हैं। आम के कोरको अथवा मंजरियों का संबंध एक ऐसे समाज से था जिन्हें "कंदर्प’" जाति कहा जाता है। ये आर्येतर जातियों में से एक जाति है। प्राचीन काल में भारत में आर्यों का अन्य आर्येतर जातियों से दीर्घकाल तक भीषण संघर्ष चला है लेकिन अंततः उन दोनों विरोधी रही जातियों में से मनुष्य की जिजीविषा शक्ति कुछ न कुछ सकारात्मक ग्रहण कर उस विद्वेष को भूल जाती है। यह संकेत आज के सामाजिक संघर्ष में भी मनुष्य की विजय यात्रा के अपराजित बने रहने का है । द्विवेदी जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं – “आर्यों के साथ असुरों, दानवों और दैत्यों के संघर्ष से हमारा साहित्य भरा पड़ा है। रह-रहकर मेरा ध्यान मनुष्य की इस अद्भुत विजय यात्रा की ओर खींच जाता है, कितना भयंकर संघर्ष वह रहा होगा जब घर में पालने पर सोए हुए लड़के तक चुरा लिए जाते होंगे और समुद्र में फेंक दिए जाते होंगे, पर हम किस प्रकार उसको भूल-भालकर दोनों विरोधी पक्षों के उपास्य देवताओं को समान श्रद्धा के साथ ग्रहण किए हुए हैं। आज इस देश में हिंदू और मुसलमान इसी प्रकार के लज्जाजनक संघर्ष में व्याप्त हैं। बच्चों

और स्त्रियों को मार डालना, चलती गाड़ी से फेंक देना, मनोहर घरों में आग लगा देना मामूली बातें हो गई हैं। मेरा मन कहता है कि ये सब बातें भुला दी जाएंगी। दोनों दलों की अच्छी बातें ले ली जाएंगी बुरी बातें छोड़ दी जाएंगी। पुराने इतिहास की ओर दृष्टि ले जाता हूँ तो वर्तमान निराशाजनक नहीं मालूम होता। कभी-कभी निकम्मी आदतों से भी आराम मिलता है।" यह 'निकम्मी आदत' इतिहास बोध से संचालित होने वाली आदत है। इसमें वे प्रकृति, पेड़-पौधो, फूल, ऋतु, पर्व, उत्सव, मेले-ठेले, लोगों के व्यवहार, शब्द की अर्थ परंपरा आदि सभी साधनों से इस मनुष्य की विजय यात्रा और मानव समाज के जीवंत इतिहास को जान लेना चाहते है। यह जान लेना एक गहरे दायित्व बोध के साथ इतिहास बोध से संचालित होता है जिसमें वे वर्तमान मानव समाज की समस्याओं के हल खोजने का प्रयास भी करते है। जब ऐसा पहले हो चुका है तो अब भी हो सकता है। जब दो विरोधी जातियों के प्रतीकों को आज हम एक साथ स्मरण कर रहे हैं तो आज के संकट का भी ऐसा ही हल नहीं निकाला जा सकता! ऐसी ही मानसिक प्रवृत्ति में द्विवेदी जी आम्र मंजरियों और बिच्छू का एक साथ स्मरण करते हैं।

जो बात इतिहास में दबी रह गई उसे लोग जान गए हैं और तो और बच्चों की दुनिया को भी आम्र मंजरियों को हाथ पर रगड़कर बिच्छू के ज़हर से बचने

का राज पता चल गया है। इस एक बात से द्विवेदी जी प्राचीन काल में दो विरोधी रहे पक्षों के अंततः समन्वय की ओर संकेत करते हैं। देवताओं और असुरों के संघर्ष में जो जीत गया उसकी सेना में कृष्ण थे और पराजितों में शिव थे लेकिन अब उनका ज़िक्र विरोधी के रूप में नहीं किया जाता है। द्विवेदी जी इस संबंध में लिखते हैं - "पुराणों की गवाही पर मान लिया जा सकता है कि असुरों की आखिरी हार अनिरुद्ध और ऊषा के विवाह के अवसर पर हुई थी। असुरों की ओर से भगवान शंकर का समूचा दल लड़ रहा था। शिवजी श्रीकृष्ण से गुंथे हुए थे, प्रद्युम्न अर्थात कामदेवता स्कंद देवसेनापति) से । शिवजी के दल में भूत थे, प्रमथ थे, यातुधान थे, बेताल थे, विनायक थे, डाकिनियां थीं, प्रेत थे, पिशाच थे, कूष्माण्ड थे, ब्रह्मराक्षस थे -यानी पूरी सेना थी, सांप-बिच्छू भी रहे होंगे। और तो और, मलेरिया का बुखार भी था। इस लड़ाई में असुर बुरी तरह हारे। शिवजी भी हारे।" आम्र कोरकों के बाण से बेचारे बिच्छू के हारने का भी यही संदर्भ है। आम्र कौरक को प्रद्युमन ने संधान किया। इसी घटना के बाद बिच्छू आम्र कोरकों से कमतर हो गया। और उसके जहर का असर भी ऐसे हथेली पर नहीं होता है जिस पर वसंत ऋतु के समय फूलने वाली आम की मंजरियों को रगड़ा गया हो। यह सब चर्चा द्विवेदी जी इस निर्बंध शैली में करते हैं वह वसंत चर्चा के भीतर समाहित है। जैसे आम और अशोक के फूलने का समय वसंत ऋतु है उसी तरह

शिरीष और पलाश आदि के फूलने का भी यही समय होता है। शिरीष के फूल' पर लिखते हुए द्विवेदी जी भीषण गर्मी में फूलों से लदे शिरीष को कालजयी अवधूत की संज्ञा देते हैं लेकिन शिरीष वसंत आगमन के साथ लहक उठता है। जेठ मास और आषाढ़ तक बना रहता है। द्विवेदी जी शिरीष की दुर्दमनीयता के बारे में लिखते "फूल है शिरीष। वसंत के आगमन के साथ लहक उठता है। आषाढ़ तक तो निश्चित रूप से मस्त बना रहता है। मन रम गया तो भरे भादों में भी निर्धात फूलता रहता है। जब उमस से प्राण उबलता रहता है और लू से हृदय सुखता रहता है। एकमात्र शिरीष कालजयी| अवधूत की भाँति जीवन की अजेयता का मंत्रप्रचार करता रहता है।" वसंत में फूल कर शिरीष विकट गर्मियों के लिए अपनी जीवन-शक्ति संचित कर लेता है मानो आने वाली विषम परिस्थिति का उसे भान हो और वसंत के मौसम में इकट्ठी ऊर्जा को बाद तक काम में लाना हो। यही जीवन की अजेयता है, जिसे शिरीष कालजयी अवधूत की तरह प्रकट करता है।

वसंत की विस्तृत चर्चा द्विवेदी जी 'आम फिर बौरा गए और वसंत आ गया है' निबंधों में करते हैं। यहां उनका निबंधकार अपनी शैली में जीवन-जगत के नाना विषयों के भीतर छिपी इतिहास की कड़ियों को, उनकी अर्थ परंपरा को जान लेना और पाठकों के साथ साझा कर लेना चाहता है। वे आम के बौराने,

उसके फूल आने, बिच्छू के जहर, अमृत और अम्ल शब्द की परंपरा मदनदेवता के अमोघ बाण के रूप में आम्र मंजरी और अंततः हमारे देश की संस्कृति, उसकी यात्रा को इस निबंध की परिधि में ले आते हैं। ले आना ऐसी किस्सागोई में कि पाठक साथ-साथ चलता हुआ अनेक विषय प्रदेशों की यात्रा कर डालता है और थकान का नाम भी नहीं महसूस करता। आत्मीय बना लेने वाली सहज बातचीत से वसंत की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी नाना विषयों से पाठक का परिचय कराते चलते हैं। जरा शुरुआत की अनौपचारिक शैली देखिए-"वसंत पंचमी में अभी देर है, पर आम अभी से बौरा गए। हर साल ही मेरी आंखें इन्हें खोजती हैं। बचपन में सुना था कि वसंत पंचमी के पहले अगर आम्र मंजरी दिख जाए तो उसे हथेली पर रगड़ लेना चाहिए, क्योंकि ऐसी हथेली साल भर तक बिच्छु के जहर को आसानी से उतार देती है। बचपन में कई बार आम की मंजरी हथेली पर रगड़ी है। अब नहीं रगड़ता, पर वसंत पंचमी से पहले जब कभी आम मंजरी दिख जाती है तो बिच्छू की याद अवश्य आ जाती है।" यहां वे जिस सहजता से वसंत चर्चा करते हुए आम की मंजरी और फिर बिच्छू पर आ जाते हैं वह देखने लायक बात है और यहीं से वे बिच्छू वाली बात को पकड़कर विषय के अगले भाग की और पाठक को ले चलते है। बिच्छू के स्वभाव को अपरिवर्तनशीलता और आम्र, अम्र, अम्ल, अम्रित और उसके अमृत बनने की

चर्चा के बाद द्विवेदी जी महादेव शिव के अचूक बाण बिच्छू और मदनदेवता के अमोघ बाण आम्रमंजरी की बात करते दिखते हैं।

यहां वसंत चर्चा एक माध्यम बन जाता है। उसके सहारे जीवन जगत के नाना विषयों पर वे चर्चा का मौका निकाल लेते हैं। बातचीत केवल वसंत या आम के बौराने पर ही नहीं है बल्कि इस बहाने अपनी संस्कृति के एक पक्ष को सामने लाना भी है। इस संस्कृति में बदलते सौंदर्य बोध की भी चर्चा वे करते हैं। सौंदर्यबोध में हो रहे परिवर्तन की और विचार करते हुए द्विवेदी जी कहते है- कालिदास ने आम्र-कोरकों को वसंतकाल का 'जीवितसर्वस्व' कहा था। उन दिनों भारतीय लोगों का हृदय अधिक संवेदनशील था। वे सुंदर का सम्मान करना जानते थे। गृह देवियां इस लाल-हरे-पीले आम्र कोरक को देखकर आनंद विह्वल हो जाती थीं। वे इस ऋतुमंगल पुष्प को श्रद्धा और प्रीति की दृष्टि से देखती थीं। आज हमारा संवेदन भोथा हो गया है।" संवेदन के भोथे होते जाने के अफसोस के बाद वे निष्क्रिय-उदास नहीं हो रहे हैं, बल्कि पाठक को भारहीन ज्ञान की उपलब्धि कराकर उसकी आस्वदनपरकता में भी वृद्धि करने का प्रयास कर रहे हैं। जिस आत्मीय शैली में वे अपनी बातें करते हैं, उससे ऐसा लगता है कि यह सब कुछ किसी प्रवाह में, गप्प के प्रवाह में आता चला जा रहा है लेकिन ऐसा नहीं है। वे संस्कृति के इतिहास को जानकर दिखाकर आज की अपूर्णताओं को

भरने की इच्छा भी करते हैं। इसी इच्छा का परिणाम यह वाक्य है-“आज हमारा संवेदन भोथा हो गया है।“

वसंत की चर्चा करते हुए भी द्विवेदी जी इसके माध्यम से छिपे हुए मानव-समाज के जीवंत इतिहास को खोज लेना चाहते हैं। वे किसी लोक प्रवाद को हंसकर उड़ा देने के लिए तैयार नहीं है। क्या पता किस बात से मनुष्य समाज के जीवंत इतिहास की खोई हुए कोई कड़ी ही मालूम चल जाए वे आम्र मंजरी के साथ बिच्छू के संबंध पर तब तक विचार करते हैं जब तक कोई स्वाभाविक संबंध पता न चल जाए। द्विवेदी जी इस संबंध में अपने मन की दुनिया को व्यक्त करते हैं-"लेकिन आम्रमंजरी के साथ बिच्छू का संबंध अब भी मुझे चक्कर में डाले हुए है। पोथिया पढ़ता हूँ, उनका सम्मान भी करता हूँ, पर लोकप्रवादों को हंसकर उड़ा देने की शक्ति अभी संचय नहीं कर सका हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि इन प्रवादों में मनुष्य-समाज का जीवंत इतिहास सुरक्षित है।" इस जीवंत इतिहास को वे वसंत चर्चा के माध्यम से सामने लाते हैं।

वसंत की चर्चा करते हुए मनुष्य और वर्तमान समय-समाज द्विवेदी जी के सामने से ओझल कभी नहीं होता। वसंत के आने के बावजूद प्रकृति में उमंग के न आने की बात को, हिंदुस्तान के जवानों में उमंग के न आने की बात से, वे जोड़ते हैं। वसंत में फूलने वाले वृक्षों का उल्लेख करते हुए महुआ, जामुन,

अमरुद, शिरीष, पलाश, आम आदि की चर्चा करते हैं। द्विवेदी जी प्रकृति, समाज और मानव मन में वसंत के लाए जाने की बात करते हैं। वसंत आता नहीं बल्कि ले आया जाता है। प्रकृति के पेड़-पौधो भी और मनुष्य भी इसी नियम से चल रहे हैं। वसंत आ गया है, का शोर-गुल है लेकिन जिन पेड़-पौधो पर यदि नहीं आया है उन तक द्विवेदी जी संदेश पहुंचाने के साधन की अनुपलब्धता की बात करते हैं। क्या इन तक यह बात पहुंचाने का कोई साधन नहीं हो सकता

द्विवेदी जी प्रकृति और समाज को एक साथ जोड़ते हुए लिखते है- "पढ़ा हूँ, हिंदुस्तान के जवानों में कोई उमंग नहीं है, इत्यादि इत्यादि इधर देखता हूं कि पेड़-पौधे और भी बुरे हैं। सारी दुनिया में हल्ला हो गया कि वसंत आ गया पर इन कमबख्तों को ख़बर ही नहीं। कभी-कभी सोचता हूं कि इनके पास तक संदेश पहुंचाने का क्या कोई साधन नहीं हो सकता! महुआ बदनाम है कि उसे सबके बाद वसंत का अनुभव होता है, पर जामुन कौन अच्छा है। वह तो और भी बाद में फूलता है। और कालिदास का लाड़ला यह कर्णिकार? आप जेठ में मौज में आते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि वसंत भागता-भागता चलता है। देश में नहीं काल में किसी का वसंत पंद्रह दिन का है तो किसी का नौ महीने का। मौजी है अमरूद । बारह महीने इसका वसंत ही वसंत है. थोड़ी दूर पर वह पलाश ऐसा फुला है कि ईर्ष्या होती है। मगर उसे किसने बताया कि बसंत आ गया है? मैं

थोड़ा-थोड़ा समझता। हूँ, वसंत आता नहीं ले आया जाता है, जो चाहे और जब चाहे अपने पर ले आ सकता है, वह मरियल कांचनार ले आया है। अपने मोटे राम तैयारी कर रहे हैं, और मैं?" वह वसंत जैसी समृद्धि और वांछित परिवर्तन की चर्चा भी है। यह विषम पूंजीवादी समाज की भी चर्चा है जिसमें किसी का 'बसंत' पंद्रह दिन का होता है और किसी का सालभर का । यह आता नहीं ले आया जाता है। कोई वंचित ही बना रहता है। और कोई संपन्नता से उसके बल पर समस्त समृद्धि को अपने पास इकट्ठा कर लेता है। यह ठेठ वसंत चर्चा ही नहीं है बल्कि इसके भीतर गहरे अर्थ ही गूंथे गए हैं। संस्कृति में इतिहास बोध समाहित है और प्रकृति चर्चा में देशकाल का बोध इसी बोध से द्विवेदी जी के चिंतन को वर्तमानता प्राप्त होती है। वह केवल अतीत चर्चा ही नहीं| रहती उसके साथ-साथ उसमें वर्तमानता का बोध भी अनुस्युत रहता है। यही बोध उनके लेखन को सदा समकालीन बनाए रखता है। यह बात निबंध और अन्य रचनाओं पर भी सटीक बैठती है।

पिछले उद्धरण में वे प्रकृति से चलाकर मनुष्य (मैं) तक की चर्चा करते हैं। इस चर्चा से मनुष्य बाहर या कमतर नहीं है। वसंत के आने की चर्चा में ही द्विवेदी जी पर जोड़ने को माया और समाज में पैसे के राज को खत्म किये जाने के उपाय की बात भी जोड़ते हैं। यह पैसे का राज खत्म हो जाए, को 'वसंत आ

गया है' की चर्चा से द्विवेदी जी का संस्कृति-चिंतक मन ही जोड़ सकता था। वसंत पर द्विवेदी जी प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद और कालिदास की लालित्य योजना के संदर्भ में भी चर्चा करते हैं। वसंत कालिदास को भी परम प्रिय है। कालिदास द्विवेदी जी के प्रिय रचनाकार हैं। कालिदास की वसंतप्रियता के बारे में द्विवेदी जी ने ही लिखा है कि वे अपने किसी भी ग्रंथ में बसंत का उसके उत्सव का वर्णन करने का कोई मौका नहीं चूकते और तो और मेघदूत जैसे वर्षा काव्य में भी वसंत के चित्रण का स्थान कालिदास खोज निकालते हैं, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद में ऋतु संबंधी उत्सव' पर विचार करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है प्राचीन काव्यों, नाटकों, आख्यायिकाओं और कथाओं से जान पड़ता है कि भारतवर्ष ऋतु संबंधी उत्सवों को भलीभांति मनाया करता था। इन उत्सवों में दो बहुत प्रसिद्ध है वसंतोत्सव और कौमुदीमहोत्सव पहला वसंत ऋतु का उत्सव है और दूसरा शरद ऋतु का संस्कृत का शायद ही कोई उल्लेखनीय कवि हो जिसने किसी न किसी बहाने इन दो उत्सवों को चचा न की हो । वसंतोत्सव के विषय में यह बात तो और अधिक निश्चय के साथ कही जा सकती है कालिदास जैसे कवि ने अपने किसी ग्रंथ में बसंत का और उसके उत्सव का वर्णन करने का मामूली मौका भी नहीं छोड़ा। मेघदूत वर्षा का काव्य है पर यक्षप्रिया के उद्यान का वर्णन करते समय प्रिया के चरणों के आघात से

फूट उठने वाले अशोक और मुख की मदिरा से सिंचकर खिल उठने वाले बकुल के बहाने कवि ने वहां भी वसन्तोत्सव को याद किया है।" यह प्रवृत्ति द्विवेदी जी के प्रिय कवि कालिदास की है। संभवतः इसीलिए वसंत की चर्चा द्विवेदी जी के साहित्य में अनेक स्थानों पर आता है।

'कालिदास की लालित्य योजना' पर लिखते हुए द्विवेदी जी कालिदास की रचनाओं पर बारी बारी से लिखते है। उसमें वे कालिदास की प्रारम्भिक रचना कही जाने वाली कृति ऋतुसंहार में वस्तु का रसपूर्ण वर्णन चित्रण करते हैं। 'ऋतुसंहार की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं- और अंत में, वसंत जाता है। वसंत क्या आया, प्रफुल्ल आम्रमंजरियों के पैने बाण लेकर भ्रमरावली लो प्रत्यंचावाले धनुष पर उन्हें संधान करके युवक प्रेमियों के चित्त को वेध देने वाला कोई योद्धा ही आ पहुंचा। अद्भुत है यह वसंत । सब प्रकार से सुंदर वृक्ष फूलों से लदे गए, तालाबों में कमल खिल बढ़े, पवन में सुगंधी आ गई, स्त्रियों में अनुराग भावना संचरित हुई, संध्या सुखदायक हो गई और दिन रमणीय हो उठे।" यह सुखदायक रमणीयता वसंत के आने का प्रभाव है। द्विवेदी जी इस प्रभाव के मानव समाज मे फैलने का ही संकेत 'वसंत आ गया है' निबंध में करते हैं। बसंत की कुछ चर्चा द्विवेदी जी कालिदास की लालित्य योजना' में 'कुमारसंभव' के

तीसरे सर्ग के संदर्भ में भी करते हैं। यहां समाधिस्थ शिव के सामने पड़ने पर जलकर भस्म होने वाले कामदेव का जिक्र आता है।

वसंत ऋतु में ही पड़ने वाले फाल्गुन मास की पूर्णिमा को मनाए जाने वाले मदनोत्सव होली) का विशद वर्णन-चित्रण द्विवेदी जी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में करते हैं, यहां वे बसंत में खिलने वाले अशोक के लाल फूलों को अलंकरण के रूप में पहने लोगों का भी जिक करते हैं। उन युवतियों का भी वर्णन करते हैं जिन्होंने अशोक के फूल अपने बालों में लगाए हैं। होली के मदमत्त मदनोत्सव) का प्रत्यक्ष वर्णन द्विवेदी जी यहां प्रस्तुत करते हैं।

वे वसंत को प्रकृति ही नहीं मनुष्य समाज की सुखद परिवर्तनकारी व्यवस्था का रूप मानते हुए से लगते हैं, जिसमें से पैसे के राज के खत्म होने के बाद ही मानवीय व्यवस्था आ सकती है। वे पैसे और घर जोड़ने की माया के महत्त्व को अस्वीकार नहीं करते हैं। वे इस संबंध में लिखते हैं-"मैं बराबर सोचता रहा की क्या कोई ऐसा उपाय नहीं हो सकता कि समाज से पैसे का राज खत्म हो जाए। हमारे समस्त बड़े प्रयत्न इस एक चट्टान से टकराकर चूर हो जाते हैं। क्या कोई ऐसी व्यवस्था हो सकती है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने मतलब भर का पैसा पा जाए और उससे अधिक पा सकने का कोई उपाय ही न हो ? वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के असीमित असमान विकास पर यह वाक्य प्रश्नचिह्न

लगाता है। द्विवेदी जी इस अंतिम वाक्य से समाज में विषमता की समस्या की ओर भी संकेत करना चाह रहे हैं। विषमता रहित समाज में ही सबके हिस्से वसंत समान रूप से आ पाएगा। नहीं तो किसी का वसंत पदह दिन का होगा किसी का बारह महीने का। यह स्थिति चाहे प्रकृति में अथवा मानव समाज में, द्विवेदी जी दोनों को ही वरेण्य नहीं मानते। न ही इसमें सौंदर्य के दर्शन ही हो सकते हैं। विषमता प्रकृति में हो या मानव समाज में दोनों ही अवस्थाओं में असुंदर होती है। अतिरिक्त जब नहीं होगा तभी सबके पास मतलब भर का होगा। इसके बाद वसंत चर्चा सिर्फ प्राकृतिक न रहकर मानवीय चर्चा में बदल जाती है। वसंत में अर्थ गौरव बढ़ जाता है। वसंत ऋतु मात्र न रहकर अब एक मानवीय परिस्तिथि का द्योतक हो जाती है जिसमें सभी के पास मतलब भर के संसाधन अवश्य हो। यह सपना बेहद मानवीय और जनोन्मुख है। साथ ही आजकल के समाज को देखते हुए बिलकुल प्रासंगिक भी है।

गांधी जी और हिन्दुस्तानी ज़बान

बात उन दिनों की है जब गांधी जी दक्षिण अफ्रीका में 'गांधी भाई' कहलाते थे। सन् 1893 में गांधी जी एक साल के लिए दादा अब्दुला एंड कम्पनी के वकील बनकर अफ्रीका पहुँचे। झगड़ने वाले दोनों पक्ष के लोगों से मिले। मिलकर अदालत से बाहर ही समझौता करवाया[1]। उनके इस काम को दोनों पक्षों ने ही नहीं बल्कि सभी लोगों ने पसंद किया। आगे भी वे अफ्रीका और फिर भारत में अनेक झगड़ों को सुलझाने का प्रयास सत्य और अहिंसा के अपने अमोघ अस्त्रों से करते रहे। भारत लौटकर वे फोर्ट विलियम कॉलेज के दिनों यानी 1800 ई। के आसपास से शुरू हुए हिंदी-उर्दू के ऐतिहासिक झगड़े को भी इसी तरह सुलझा देना चाहते थे।

हिंदी सभी भारतीयों की भाषा बने

'हिन्द स्वराज' किताब में गांधी जी ने शिक्षा के विषय पर संवाद करते हुए अपने काल्पनिक प्रश्नकर्ता पाठक को जवाब देते हुए लिखा- "हर एक पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा का, हिन्दू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी

का, पारसी को फारसी का और सबको हिंदी का ज्ञान होना चाहिए। कुछ हिन्दुओं को अरबी और कुछ मुसलमानों और पारसियों को संस्कृत सीखनी चाहिए। सारे हिंदुस्तान के लिए जो भाषा होनी चाहिए, वह तो हिंदी ही होनी चाहिए। उसे उर्दू या नागरी लिपि में लिखने की छूट रहनी चाहिए।"[2] यह गांधी जी की बुनियादी भाषा-नीति है। जो वे अंत तक कायम रखते हैं। हाँ, केवल हिंदी की जगह वे बाद में हिन्दुस्तानी शब्द का इस्तेमाल करने लगते हैं।

गांधी जी की हिंदी यानी हिंदी जमा उर्दू यानी हिन्दुस्तानी

हिंदी-उर्दू-हिन्दुस्तानी में कोई बड़ा अंतर गांधी जी नहीं देखते थे। केवल संस्कृत और अरबी-फारसी शब्दों की अधिकता और अभाव का ही अंतर वे हिंदी-उर्दू बोलने-लिखने वाले कुछ लोगों में देखते थे। और लिपियों का भेद आपसी सुलह से सुलझाना चाहते थे। हिन्दुस्तानी के सन्दर्भ में वे दोनों लिपियों को बराबर महत्त्व देते थे। वे मानते थे कि अंत में जो लिपि सबसे ज्यादा सरल होगी, वही लोकप्रिय होगी। यानी भाषाओं का भेद वे नहीं मानते थे और लिपियों का अंतर सरलता के सूत्र से गांधी जी सुलझाना चाहते थे।

गांधी जी की तीन ख्वाहिशें

गांधी जी हिन्दुस्तानी की बात कहते हुए एक उपाय के अनेक उपचार करना चाहते थे। हिन्दुस्तानी भाषा भारत की राष्ट्रभाषा या कौमी ज़बान बन जाती तो गांधी जी तीन ख्वाहिशें पूरी होतीं।

पहली ख्वाहिश- वे देश को उसकी ज़बानों में शिक्षित, आत्मनिर्भर और सक्षम बनते हुए देखना चाहते थे। इसे वे सच्चा स्वराज मानते थे। पराई भाषा और वस्तुओं पर निर्भरता उन्हें अस्वीकार थी।

दूसरी ख्वाहिश- वे हिन्दू-मुसलमान के बीच पैदा किए गए विवाद को सुलझाना चाहते थे। अंग्रेजी शिक्षा और शासन व्यवस्था ने हिन्दू और मुसलमानों में भेद को हवा दी। भाषा विवाद से उसे भड़काया। इसे गांधी जी भाषा मिलाप से सुलझाना चाहते थे।

तीसरी ख्वाहिश- वे पूरे देश को अंग्रेजी के नहीं हिन्दुस्तानी भाषा के धागे से बांधना चाहते थे। इससे हिंदुस्तान एक-दूसरे से ज्यादा अच्छी तरह जुड़ता। बीच में पराई भाषा की दीवार भी नहीं आती।

उनकी तीनों ख्वाहिशें अधूरी ही रह गईं। न देश का अधिकांश हिस्सा वास्तव में शिक्षित हो पा रहा है। न हिन्दू-मुसलमान के बीच की दूरी को पाटने का काम पूरा हुआ। न इस देश को जोड़ने वाली कोई एक कौमी ज़बान तय हो पाई।

हिन्दुस्तानी का पहली बार जिक्र और अंग्रेजी की कठिनाई

हिन्दुस्तानी शब्द का उल्लेख भाषा के रूप में गांधी जी ने अपने लेखन में पहली बार शायद अक्तूबर 1919 में किया था। लेकिन इससे पहले और बाद में भी गांधी जी ने जब-जब हिंदी का जिक्र किया तो उनका इशारा हिन्दुस्तानी ज़बान की ओर ही था। इसे उन्होंने अनेक लेखों और भाषणों में स्पष्ट किया है। यानी हिन्दुस्तानी को लेकर उनकी राय 'हिंद स्वराज' के लिखे जाने से पहले ही बन चुकी थी और जीवन के अंतिम दिनों तक इस विषय पर वे बोलते और लिखते रहे। गांधी जी ने 'यंग इंडिया' में आठ अक्तूबर 1919 को अंग्रेजी में एक लेख लिखा[3]। जिस घटना का जिक्र इस लेख में है, वह घटना आज भी बड़ी रोचक, सारगर्भित और प्रासंगिक है। इस लेख में उन्होंने बताया कि विधान परिषद में अंग्रेजी में एक भाषण के दौरान एक भारतीय प्रतिनिधि श्रीमान सिन्हा गलत अंग्रेजी बोल गए। जब वहाँ बैठे एक अंग्रेज सज्जन ने इस गलती की ओर इशारा किया तो दूसरे अंग्रेज सज्जन ने कहा कि यह जबान फिसलने की बात है। लेकिन वक्ता श्रीमान सिन्हा ने अपनी भाषा सम्बन्धी गलती मानी और कहा कि अंग्रेजी के मामले में हमसें गलतियाँ हो जाती हैं। विधानसभा में घटित इस मजेदार घटना के बाद गांधी जी ने अपने लेख में प्रोफेसर यदुनाथ सरकार की बात का उल्लेख किया है। इसमें उन्होंने कहा कि अंग्रेजी हमारी ज़बान नहीं है। इसे बोलने से पहले

हमें बहुत सोचना पड़ता है। इसका तनाव मन पर होता है। जिससे गलती हो ही जाती है। इसके बदले अगर हम लोग अपनी प्रांतीय सभाओं में अपनी प्रांतीय भाषाएँ बोलें और राष्ट्रीय सभाओं में हिन्दुस्तानी बोलें तो अच्छा हो। यह हिन्दुस्तानी हिंदी और उर्दू का जोड़ है। और यदि पिछले पैंतीस सालों में कांग्रेस ने हिन्दुस्तानी का इस्तेमाल अपनी बैठकों में किया होता तो वह इतनी सूक्ष्म-सीमित अवस्था में अब तक न रहती। गांधी जी ने इस घटना का हास्यपूर्ण शीर्षक भी दिया- 'हमसे गलतियाँ हो जाती हैं'। इस लेख का एक अंश है

"जिस समय माननीय सिन्हा दंडविमुक्ति विधेयक इन्डेम्निटी बिल) पर बोल रहे थे, वे शब्दों के प्रयोग में गड़बड़ा गए। सर जार्ज लाउन्डेज ने उन्हें टोका लेकिन परमश्रेष्ठ सभापति ने यह कहकर उनका बचाव किया कि यह जबान की चूक है। तत्पश्चात श्री सिन्हा ने ये स्पष्ट तथा शालीन शब्द कहे : "आपके लिए यह समझना कठिन है कि इस परिषद् में विदेशी जबान बोलने में हमें क्या कठिनाई होती है। हमसे गलतियाँ हो जाती हैं।" बात बिलकुल सही है। हमसे अपनी मातृभाषा में बोलते समय भी गलतियाँ हो जाती हैं। लेकिन वे इतनी हास्यास्पद नहीं होतीं जितनी कि जब हम विदेशी जबान में बोलने की कोशिश करते हैं। प्रोफ़ेसर यदुनाथ सरकार ने कहा है कि हमारे अंग्रेजी बोलने और सोचने से हमारे दिमाग पर इतना बोझ पड़ता है कि हम स्वराज्य का आरम्भ अपनी विधान-

सभाओं में अपनी भाषा का उपयोग करके कर दें — प्रांतीय विधान सभाओं में प्रांतीय भाषाओं का उपयोग हो तथा शाही परिषद् इम्पीरियल कौन्सिल) में हिंदी और उर्दू के मिश्रण हिन्दुस्तानी का।"[4]

यह बात ठीक आज से सौ साल पहले की है। तब अंग्रेजों का राज था। अंग्रेजी का भी राज था। लेकिन अब तो अंग्रेजों का राज नहीं है। लेकिन अंग्रेजी का राज शायद पहले से भी ज्यादा है। अब अंग्रेजी का उपयोग नहीं करने वाले पहले से अधिक शर्मिंदा होते और किए जाते हैं। अभी हाल में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश रंजन गोगोई ने एक जिला न्यायाधीश से कहा कि आपको यहाँ अंग्रेजी में ही बोलना चाहिए। जिला न्यायाधीश अपनी पदोन्नति के बारे में अपनी पैरवी करने के लिए उच्चतम न्यायलय में हाज़िर हुए थे। लेकिन अब कानूनन उन्हें हिंदी में नहीं बल्कि अंग्रेजी में ही अपनी बात कहने का आदेश है।[5] अंग्रेजी के पक्ष में भारतीय संविधान के अनुच्छेद 348 में कानून बन चुका है। इसलिए अब कोई नहीं कह सकता कि हमें अपनी सभी कचहरियों में प्रांतीय और हिंदी भाषा का इस्तेमाल ही करना चाहिए।

अंग्रेजी केवल शर्म नहीं अब पीछे रह गए भारत के लिए जीने-मरने का भी सवाल बन गया है। ऐसी ही एक घटना इंदौर में घटी। इंदौर के एक इंजीनियरिंग कॉलेज में मध्यप्रदेश के सीहोर से एक मेधावी छात्र शुभम मालवीय दाखिला लेता है।

उसके गरीब माता-पिता ने अपनी गरीबी से लड़ते हुए उसे यहाँ पहुँचाया। वे सब्जी बेचते हुए अपनी गरीबी के ख़त्म होने और शुभम के कामयाब होने का सपना देखते हैं। लेकिन जो शुभम स्कूल तक हिंदी में पढ़ने के कारण होनहार था। वह इंदौर के इंजीनियरिंग कॉलेज में अंग्रेजी माध्यम में आते ही एकदम फिसड्डी हो गया। उसे इस बात का इतना तनाव हुआ और जीवन मुश्किल लगा कि उसने आत्महत्या कर ली। उसने पढ़ाई से डरकर नहीं बल्कि अंग्रेजी के खौफ के कारण यह कदम उठाया।

दैनिक भास्कर पत्र के अनुसार – "अंग्रेजी नहीं आने से परेशान इंजीनियरिंग के एक छात्र ने फांसी लगा कर जान दे दी। मरने से पहले छात्र ने एक सुसाइड नोट भी छोड़ा है, जिसमें सिर्फ चार लाइनें लिखी हैं। उसने माता-पिता को लिखा है कि 'मम्मी-पापा मुझे माफ कर देना। आप मुझे पढ़ाना चाहते थे, लेकिन मुझे अंग्रेजी नहीं आती है। इसलिए मैं ठीक से नहीं पढ़ पा रहा हूं।"[6] यह खबर हिमालयी समस्या का एक छोटा सा तिनका मात्र है। यह परिणाम उस व्यवस्था का है जिसे 1835 में मैकाले ने प्रस्तावित किया था। जिसकी पुरजोर मुखालफत गांधी जी ने की थी। शिक्षा का माध्यम हिन्दुस्तानी ज़बान बने और उससे ऐसा स्वराज गांधी जी पाना चाहते थे जिसमें अपने मुल्क की बड़ी जनसंख्या शिक्षित हो सके। वे अंग्रेजी को दूध में मिले जहर के समान बताते हुए उसके मोह से

निकलने की अपील करते हुए कहते हैं- ‘‘प्रसन्नता की बात है कि इंदौर में सब कार्य हिंदी में होता है। पर क्षमा कीजिएगा प्रधान मंत्री साहब का जो पत्र आया है, वह अंग्रेजी में है। इंदौर की प्रजा यह बात नहीं जानती होगी, पर मैं उसे बतलाता हूँ कि यहाँ अदालत में प्रजा की अर्जियां हिंदी में ली जाती हैं, पर न्यायाधीशों के फैसले और वकील-बैरिस्टरों की बहस अंग्रेजी में होती है। मैं पूछता हूँ कि इंदौर में ऐसा क्यों होता है? हाँ, मैं मानता हूँ कि अंग्रेजी राज्य में यह आन्दोलन सफल नहीं हो सकता, यह ठीक है। पर देशी राज्यों में तो सफल होना ही चाहिए। शिक्षित-वर्ग, जैसा कि माननीय पंडित जी ने अपने पत्र में दिखाया है, अंग्रेजी के मोह में फंस गया है और अपनी राष्ट्रीय मातृभाषा से उसे असंतोष हो गया है। पहली माता अंग्रेजी) से हमें जो दूध मिल रहा है, उसमें जहर और पानी मिला हुआ है, और दूसरी माता मातृभाषा) से शुद्ध दूध मिल सकता है। बिना इस शुद्ध दूध के मिले हमारी उन्नति होना असंभव है। पर जो अँधा है, वह देख नहीं सकता, गुलाम यह नहीं जानता कि अपनी बेड़ियों किस तरह तोड़े। पचास वर्षों से हम अंग्रेजी के मोह में फंसे हैं। हमारी प्रजा अज्ञान में डूबी रही है।’’[7] शुभम मालवीय जैसे अनेक भारतीय भाषाओं के होनहार विद्यार्थी अंग्रेजी न आने के कारण आत्महत्या कर लेते हैं। या पिछड़ जाते हैं। इस स्थिति को गांधी जी आज से सौ साल पहले भी समझ रहे थे।

देश और कांग्रेस में 'हिन्दुस्तानी' की प्राण-प्रतिष्ठा

गांधी जी नौ जनवरी 1915 में भारत लौटने के बाद से ही कांग्रेस को सच्चे अर्थों में हिन्दुस्तानियों की संस्था बनाने का काम करने लगे। 1916 के कांग्रेस के राष्ट्रीय अधिवेशन में उन्होंने अपनी बात विरोध के बावजूद हिंदी में भी कही। वहां मौजूद तमिल प्रदेश के प्रतिनिधियों ने अंग्रेजी में बोलने का आग्रह किया। इस बारे में गांधी जी ने 28 दिसंबर 1916 को लिखा है- "मैं देखता हूँ, मेरे तमिल भाइयों ने मुझसे अपील की है कि मैं उनके सम्मुख अंग्रेजी में बोलूं और मैं उनके प्रति-आग्रह को अंशतः स्वीकार कर रहा हूँ। किन्तु मैं बदले में उनसे यह अपील करना चाहता हूँ कि वे अगले वर्ष-भर में राष्ट्रभाषा सीख लें।"[8] हिंदी से उनका अर्थ हिंदी और उर्दू के मेल से बनी हिन्दुस्तानी भाषा है। जिसे वे यहाँ राष्ट्रभाषा कह रहे हैं।

इसके बाद भी सन् 1919 तक भारतीय जनता की प्रमुख संस्था कांग्रेस अपने काम अंग्रेजी में ही करती थी। यह बात गांधी जी को ठीक नहीं मालूम हुई तो उन्होंने मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में अमृतसर में हुए कांग्रेस के 34 वें राष्ट्रीय अधिवेशन 27 दिसंबर 1919 - 1 जनवरी 1920) में हिन्दुस्तानी ज़बान के पक्ष में अपनी बात पहली बार कही। वहाँ मौजूद एनी बेसेंट ने इस कदम का थोड़ा विरोध किया। गांधी जी ने इस बात का उल्लेख करते हुए 21 जनवरी

1920 को 'यंग इंडिया' में 'अपील टु मद्रास' लेख लिखा। इसमें विस्तार से अपनी भाषा-नीति को साफ़ करते हुए लिखा है -

"मैं देखता हूँ कि अबकी कांग्रेस का सारा काम खासकर हिन्दुस्तानी में होने की वजह से श्रीमती एनी बेसंट नाराज हुई हैं, और वे इस आश्चर्यजनक परिणाम पर पहुँची हैं कि इससे कांग्रेस राष्ट्रीय न रहकर एक प्रांतीय सभा बन गई है...सन् 1915 से मैं, एक के सिवा, कांग्रेस की सभी बैठकों में शामिल हुआ हूँ। उस के कारबार को अंग्रेजी के बदले हिन्दुस्तानी में चलाने की उपयोगिता के विचार से मैंने उनका खास तौर से अभ्यास किया है। मैंने सैकड़ों प्रतिनिधियों और हजारों प्रेक्षकों से इसकी चर्चा की है। लोकमान्य तिलक और श्रीमती बेसंट सहित सभी लोकसेवकों की अपेक्षा मैं शायद सारे देश में ज्यादा घूमा-फिरा हूँ, और पढ़े-लिखों व अनपढ़ों को मिलाकर सबसे ज्यादा लोगों से मिला हूँ, और मैं सोच-समझकर इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि राष्ट्र का कारबार चलाने के लिए या विचार विनिमय के लिए हिन्दुस्तानी को छोड़कर दूसरी कोई भाषा शायद ही राष्ट्रीय माध्यम बन सके। हिन्दुस्तानी यानी हिंदी और उर्दू के मिलाप से पैदा होनेवाली भाषा) । साथ ही व्यापक अनुभव के आधर पर मेरी यह पक्की राय बनी है कि पिछले दो सालों को छोड़कर बाकी सब सालों में कांग्रेस का करीब-करीब सारा ही काम अंग्रेजी में चलाने से राष्ट्र को बहुत नुकसान उठाना पड़ा है। इसके

अलावा, मैं यह भी कहा चाहता हूँ कि एक मद्रास प्रान्त को छोड़कर बाकी सब जगह राष्ट्रीय कांग्रेस के दर्शकों और प्रतिनिधियों की बड़ी संख्या अंग्रेजी के मुकाबले हिन्दुस्तानी को हमेशा ही ज्यादा समझ सकी है। इसका एक आश्चर्यजनक परिणाम यह हुआ है कि इन तमाम वर्षों के लम्बे समय में कांग्रेस दिखाने भर को राष्ट्रीय रही है, लोक-शिक्षा की सच्ची कसौटी पर उसे कसें, उसकी कीमत कूतें, तो कहना होगा कि वह कभी राष्ट्रीय नहीं थी। दुनिया का दूसरा कोई देश होता, तो इस तरह की संस्था, जो हर साल अपनी लोकप्रियता में बढ़ती ही रही है, अपनी जिन्दगी के 34 सालों में आम लोगों के सामने उनकी अपनी भाषा में तरह-तरह के सवालों की चर्चा करके उन्हें हल करती, और इस तरह लोगों को राजनीति की तालीम देती। इसलिए कांग्रेस की पिछली बैठक में दूसरी कमियाँ चाहे जो रही हों,फिर भी इसमें शक नहीं कि वह उससे पहले की बैठकों के मुकाबले ज्यादा राष्ट्रीय थी, और वह इस वजह से कि ज्यादातर दर्शक और प्रतिनिधि उसके काम-काज को समझ सके थे। यदि श्रोता श्रीमती बेसंट को सुनना न चाहते थे, वे ऊब गये थे, तो इसलिए नहीं ऊबे थे कि उन्हें उनकी बात सुननी ही न थी, या कि उनके दिल में श्रीमती बेसंट के लिए अनादर था, बल्कि वजह उसकी यह थी कि भाषण के बहुत कीमती और दिलचस्प होते हुए भी वे उसे समझ नहीं पाते थे। और, जैसे-जैसे राष्ट्रीय भावना जागेगी और राजनीतिक

ज्ञान और शिक्षा की भूख खुलेगी- और खुलनी भी चाहिए- वैसे-वैसे अंग्रेजी बोलनेवालों के लिए अपने सर्वसाधारण श्रोताओं का ध्यानपात्र बनना अधिकाधिक कठिन होता जाएगा, फिर भले ही वक्ता कितना ही शक्तिशाली और लोकप्रिय क्यों न हो। इसलिए मैं मद्रास प्रान्त की जनता से प्रार्थना करता हूँ कि वह इस बात को समझ ले कि लोक-सेवा का काम करने वालों के लिए हिन्दुस्तानी सीखना जरूरी है। मद्रास के सिवा दूसरे सभी प्रान्तों के श्रोता बिना कठिनाई के कमोबेश हिन्दुस्तानी समझ सकते हैं। दयानंद सरस्वती उत्तर हिंदुस्तान के बाहर की जनता को भी अपने हिन्दुस्तानी भाषणों से वश कर लेते थे, और जनसाधारण भी बिना किसी कठिनाई के उनकी बात को समझ सकते थे। कांग्रेस का सारा काम अंग्रेजी में चलता रहा, इससे सचमुच राष्ट्र को बहुत नुकसान उठाना पड़ा है। इसका मतलब यह होता है कि 31 करोड़ की आबादी में से सिर्फ 3 करोड़ 80 लाख से कुछ ऊपर मद्रासी लोग हिन्दुस्तानी वक्ता की बात को समझ नहीं सकते। मैंने इसमें मुसलमानों की गिनती नहीं की है, क्योंकि सभी जानते हैं कि मद्रास इलाके के ज्यादातर मुसलमान हिन्दुस्तानी समझते हैं। तो फिर सवाल यह रहता है कि उस इलाके के 380 लाख लोगों का धर्म क्या है? क्या उनके लिए हिंदुस्तान अंग्रेजी सीखे? या फिर बाकी के 2,770 लाख हिंदुस्तनियों के लिए उन्हें हिन्दुस्तानी सीखनी चाहिए? स्व. न्यायमूर्ति

कृष्णस्वामी ने अपनी अचूक और सहज बुद्धि से इस बात को ताड़ लिया, और मंजूर किया था कि देश के अलग-अलग हिस्सों में आपस के व्यवहार के लिए हिन्दुस्तानी ही एक माध्यम बन सकती है। मैं नहीं जानता कि आजकल कोई इस स्थापना का विरोध करता हो। यह कभी हो नहीं सकता कि हजारों लोग अंग्रेजी भाषा को अपना माध्यम बनायें, और अगर यह मुमकिन हो, तो भी चाहने लायक तो कतई नहीं। इसकी सीधी-सादी वजह यह है कि अंग्रेजी के जरिये मिलने वाला उच्च और पारिभाषिक ज्ञान आम लोगों तक पहुँच नहीं सकता।"[9]

इस सुदीर्घ उद्धरण में गांधी जी की हिन्दुस्तानी भाषा विषयक अनेक चिंताएँ और स्थापनाएँ एक साथ देखने को मिल रही हैं।

1. अंग्रेजी के बल से कांग्रेस या कोई भी सभा राष्ट्रीय नहीं हो सकती है।
2. हिन्दुस्तानी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है।
3. हिन्दुस्तानी का अर्थ हिंदी और उर्दू का मिला-जुला रूप है। लगभग पूरा देश हिन्दुस्तानी को समझता है।

   कुछ लोगों के विरोध के चलते पूरा देश अंग्रेजी को नहीं अपना सकता है। न यह जरूरी है और न व्यावहारिक होगा।

निष्कर्ष के रूप में गांधी जी की यह बात कही जा सकती है-

जिसे गांधी जी हिन्दुस्तानी कहते हैं, वह दो अलग लिपियों में लिखी जा रही एक ही ज़बान है। जो हिंदी और उर्दू का मेल है। जो न तत्सम बहुला हिंदी है और न फारसी और अरबी लफ्जों से लदी हुई उर्दू है। वह सरल हिंदी ही हिन्दुस्तानी है। जो राष्ट्र की भाषा हो सकती है। इस बारे में अपनी बात स्पष्ट करते हुए गुजरात के भड़ौंच में उन्होंने एक भाषण में कहा-"हिंदी भाषा मैं उसे कहता हूँ, जिसे उत्तर में हिन्दू और मुसलमान बोलते हैं और देवनगरी या फारसी उर्दू की) लिपि में लिखते हैं। इस व्याख्या का थोड़ा विरोध किया गया है। ऐसी दलील दी जाती है कि हिन्दी और उर्दू दो अलग भाषाएँ हैं। यह दलील सही नहीं है। उत्तर भारत में मुसलमान और हिन्दू दोनों एक ही भाषा बोलते हैं। भेद पढ़े-लिखे लोगों ने डाला है। इसका अर्थ यह है कि हिन्दू शिक्षित-वर्ग ने हिंदी को केवल संस्कृतमय बना दिया है। इस कारण कितने ही मुसलमान उसे समझ नहीं सकते। लखनऊ के मुसलमान भाइयों ने उस उर्दू में फारसी भर दी है और उसे हिन्दुओं के समझने के अयोग्य बना दिया है।"[10]

हिंदी-उर्दू के इस भाषा विवाद को सुलझाकर वे हिन्दुस्तानी के माध्यम से देश के बड़े हिस्से को शिक्षित होते देखना चाहते थे। वे हिन्दू और मुसलमानों में मिलाप कर उनके बीच की दूरी कम करना चाहते थे। हिन्दुस्तानी भाषा इस दूरी के बीच पुल का काम करती। साथ ही इस हिन्दुस्तानी के ज़रिये वे पूरे हिन्दुस्तान को

जोड़ना चाहते थे। पर अफ़सोस है कि गांधी जी की ये तीनों की ख्वाहिशें अधूरी रह गईं।

सन्दर्भ :-

1. जोशी, सोपान, आलेख बापू की पाती, प्रकाशन जनसंपर्क विभाग, आई. टी. एम. यूनिवर्सिटी, ग्वालियर, मध्यप्रदेश, प्रथम संस्करण सितम्बर 2018, पृष्ठ 64

2. गांधी जी, हिन्द स्वराज, अनुवादक अमृतलाल ठाकोरदास नाणावटी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, संस्करण 1949, पृष्ठ संख्या 74
3. गांधी, एम.के. संपादक, यंग इंडिया, दिन बुधवार, 8 अक्टूबर, 1919, वॉल्यूम 1, संख्या 45, प्रथम पृष्ठ
4. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय खंड 16, अगस्त 1919- जनवरी 1920), प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, दिसम्बर 1965, अंग्रेजी से) पृष्ठ संख्या 227
5. https://www.firstpost.com/india/in-supreme-court-you-must-speak-in-english-cji-ranjan-gogoi-tells-judge-after-hearing-him-argue-in-court-in-hindi-5491101.html
6. दैनिक भास्कर, 29 अक्तूबर, 2018 https://www.bhaskar.com/mp/indore/news/an-engineering-student-was-not-found-hanging-in-english-033601-3085510.html, https://zeenews.india.com/hindi/india/madhya-pradesh-chhattisgarh/be-student-commit-suicide-in-indore-due-to-english-problem/466625

7. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड 14, द्धअक्तूबर 1917-जुलाई 1918), प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, अगस्त 1965, पृष्ठ संख्या 278

8. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड 13, जनवरी 1915- अक्तूबर 1917) प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, मार्च 1965, पृष्ठ संख्या 322

9. गांधी, एम. के., संपादक) यंग इण्डिया, एन अपील टु मद्रास, 21 जनवरी, 1920, पृष्ठ संख्या 2, अंक 2, संख्या 3, दिन बुधवार, अहमदाबाद, अंग्रेजी में मूल रूप से छपा), पुनः प्रकाशित ‘कांगेस में ‘हिन्दुस्तानी’, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, पृष्ठ संख्या 15-17

10. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड 14, अक्तूबर 1917-जुलाई 1918), प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, अगस्त 1965, पृष्ठ संख्या 29

लाई हयात आए क़ज़ा ले चली चले

आख़िरी मुगल बादशाह बहादुरशाह ज़फ़र के उस्ताद शेख़ इब्राहीम ज़ौक़ (1790-1854) की एक गज़ल है-

लाई हयात आए क़ज़ा ले चली चले

अपनी ख़ुशी न आए न अपनी ख़ुशी चले

यह गज़ल लक्ष्मीधर मालवीय जी (1934-2019) को बहुत पसंद थी। इस गज़ल के पहले शेर की पहली पंक्ति इतनी पसंद थी कि उन्होंने इस पंक्ति (लाई हयात आए क़ज़ा ले चली चले) को आधा-आधा बाँटकर अपनी दो किताबों का शीर्षक बनाया। संभवतः दोनों किताबें मालवीय जी की ज़िन्दगी के बड़े हिस्से को सामने लाती हैं। मैंने अभी तक पहली किताब 'लाई हयात आए' ही पढ़ी है दूसरी किताब 'क़ज़ा ले चली चले' अभी प्रकाशनाधीन है।

दिल्ली में रहते हुए ‘जनसत्ता’ में छपने वाले कॉलम ‘शब्दों के रास’ के जरिये लक्ष्मीधर मालवीय जी से पहला परिचय हुआ। लेकिन वे तब तक मेरे लिए ओम थानवी जी के संपादन में ‘जनसत्ता’ में छपने वाले हिंदी के अनेक गंभीर लेखकों में से एक थे। इससे अधिक मैं उनके बारे में कुछ नहीं जानता था। ‘जनसत्ता’ में मैं उनको पढ़ता था। कुछ समझ आता था और बहुत कुछ नहीं भी आता था। दिल्ली विश्वविद्यालय में ‘देव ग्रंथावली’ भी देखी थी। उनके जीवन और रचनाओं से थोड़ा अधिक परिचय सन् 2017 में जापान आने के बाद ही हुआ।

ओसाका विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ाना शुरू करने के कुछ दिन बाद ही मुझे पता चला कि इसी विश्वविद्यालय में लक्ष्मीधर मालवीय जी भी पढ़ाते थे। वे ओनोहारा में इसी घर में कुछ समय रहे भी, संयोग से जहाँ अब मैं रह रहा हूँ। ओसाका विश्वविद्यालय के पूर्व विभागाध्यक्ष प्रोफेसर अकिरा ताकाहाशि जी उनके विद्यार्थी और सह-अध्यापक रहे हैं। मालवीय जी से जुड़ी कुछेक दिलचस्प बातें उन्होंने भी बताई हैं। ताकाहाशि जी ने बताया कि मालवीय जी बहुत सख्त अध्यापक थे। उनकी सख्तमिजाजी का एक मज़ेदार किस्सा यूँ है। एक बार एक विद्यार्थी मालवीय जी के पास आया। विद्यार्थी पढ़ने में कमजोर था। उसे परीक्षा में कम अंक मिले थे। मालवीय जी अपने कमरे में बैठे कुछ पढ़ रहे थे। उनका

कमरा शायद छठी मंजिल पर था। विद्यार्थी कमरे में आया और बोला कि आपने मुझे फेल कर दिया है। आप मुझे पास कर दीजिए नहीं तो मैं आपके कमरे की खिड़की से नीचे कूदकर आत्महत्या कर लूँगा। मालवीय जी ने ध्यान से उस जापानी विद्यार्थी की बात सुनी। आराम से अपनी कुर्सी से उठे। खिड़की खोलकर कहा- कूद जाओ।

27 नवम्बर 1934 को इलाहाबाद में जन्मे मालवीय जी का बचपन बनारस में बीता। वहीं उनके दादा महामना मदनमोहन मालवीय जी (1861-1946) रहते थे। मदनमोहन मालवीय जी ने 1916 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। मदनमोहन मालवीय भारतीय स्वतंत्रता सेनानी, शिक्षाविद, पत्रकार और प्रसिद्ध वकील थे। मालवीय जी का परिवार पंजाब से मध्य देश के मालवा क्षेत्र में बसा और फिर वहाँ से सन् 1449 के लगभग इलाहाबाद आकर बसने के कारण 'मालवीय' नाम के पुकारा जाने लगा। पंडित मदनमोहन मालवीय जी के दादा श्री प्रेमधर चतुर्वेदी जी कथावाचक थे। यही उनका पारिवारिक जीविकोपार्जन का साधन था। श्री प्रेमधर चतुर्वेदी जी के पुत्र श्री ब्रजनाथ चतुर्वेदी जी भी कथावाचक थे। कथावाचन से ही परिवार का पालन-पोषण होता था। मदनमोहन मालवीय जी को भी उनके परिजन इसी काम में प्रवीण करना चाहते थे। लेकिन वे संस्कृत और अंग्रेजी की शिक्षा के साथ वकालत की शिक्षा हासिल

कर पहले अंग्रेजी के शिक्षक बने बाद में उन्होंने वकालत भी की। मदनमोहन मालवीय जी कांग्रेस के चार बार अध्यक्ष बने। उन्होंने चौरा-चौरी आन्दोलन में अभियुक्त बनाए आन्दोलन कर्मियों की ओर से केस लड़ा और जीता था। माना जाता है 'सत्यमेव जयते' का कथन उन्होंने ही प्रचलित करवाया था।

मदनमोहन मालवीय जी के पाँच बेटे और पाँच बेटियाँ थीं। उनके बेटे मुकुंद मालवीय जी ने बम्बई में व्यापार-कार्य किया। वे अधिक शिक्षा न ले सके। बीए में अनुत्तीर्ण रहे। मुकुंद मालवीय जी ने अपने बेटे लक्ष्मीधर मालवीय जी के नौकरी करने के निर्णय को भी पसंद न किया। लक्ष्मीधर मालवीय जी ने अपने पिता से अपने सम्बन्धों के बारे में कुछेक बातें सूत्र रूप में भी लिखी हैं। उन्होंने नवम्बर 1962 में शिमला में आत्महत्या की थी। मालवीय जी की बेटी मधु जी ने इस बात से इनकार किया है। इसे वे दुर्घटना बताती हैं। उन दिनों मालवीय जी जयपुर में अध्यापन कार्य कर रहे थे।

मालवीय जी का बचपन बनारस और किशोरावस्था का कुछ समय इलाहबाद में बीता। वे जब 12 साल के थे तब उनके दादा महामना मदनमोहन मालवीय जी का देहांत हो गया। उस समय तक वे बनारस में ही रहकर संस्कृत पाठशाला में अध्ययन करते थे। जब मालवीय जी दस वर्ष के थे तब उनके पिता ने उन्हें हिन्दू विश्वविद्यालय की संस्कृत शास्त्री की कक्षा में बैठाया था। उसके बाद वे

अपनी माता जी के साथ अपने मामा ब्रजमोहन व्यास जी के पास इलाहाबाद चले गए। इलाहाबाद में ही मालवीय जी का पैतृक निवास भी था, जिसमें उस समय कोई किरायेदार जबरन मौजूद था। इलाहाबाद के ही सीएवी इंटर कॉलेज से आगे की पढ़ाई की। उसके बाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी.ए और एम.ए के बाद 'महाकवि देव के लक्षण ग्रंथ' पर माताप्रसाद गुप्त जी के निर्देशन में डी.फिल. की उपाधि प्राप्त की।

इसी बीच इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अस्थाई रूप से अवैतनिक अध्यापक के रूप में अध्यापन कार्य भी किया। उस समय विभागाध्यक्ष डॉ. रामकुमार वर्मा जी थे। उनके न चाहने के कारण मालवीय जी की वहाँ नियुक्ति नहीं हुई। 18 जुलाई 1961 को वे हमेशा के लिए इलाहाबाद को छोड़ जयपुर नौकरी करने के लिए निकले। जयपुर में मालवीय जी लगभग साढ़े पाँच साल रहे। 24 अप्रैल 1966 को जयपुर और अपनी माता, पत्नी इंदु जी और दो बेटियों गौरी जी और मधु जी समस्त परिवार और मित्रों को भारत में छोड़ वे जापान के ओसाका शहर आ गए। तीन साल के बाद 1969 में तोक्यो नौकरी करने के लिए गए। लेकिन स्थाई आय और नौकरी के अभाव में जीवन घोर अनिश्चितता और गरीबी से ग्रस्त रहा। फिर भी इन अनिश्चित और बेहद थकाऊ दिनों को मालवीय जी ने अपने जीवन के स्वर्णिम दिन कहा है। इन्हीं दिनों तोक्यो में उनकी भेंट अकिको

जी से हुई। 19 जून 1971 को तोक्यो में शादी की। वहाँ से 1973 में एक साल के बेटे अमित को लेकर वापस ओसाका लौटे। और फिर 1990 तक ओसाका विश्वविद्यालय में अध्यापन करते रहे। सेवानिवृत्ति के बाद क्योतो में घर लेकर पत्नी और दो बच्चों के साथ रहने लगे।

1934 में इलाहाबाद में जन्मे मालवीय जी की मृत्यु 10 मई 2019 को क्योतो में उनके घर पर हुई। वे 1966 ई. से लेकर जीवन के अंतिम दिन तक जापान में रहे। उन्होंने लगभग 53 साल यहाँ बिताए। जब वे राजस्थान से अपनी नौकरी छोड़ जापान के शहर ओसाका आए तब उनकी उम्र 32 साल की थी।

ओसाका विश्वविद्यालय में श्री जगत दवे जी के अचानक वापस लौट जाने के बाद भारतीय अध्यापक का पद एक साल खाली रहा। उनके बाद डॉ लक्ष्मीधर मालवीय जी ओसाका विश्वविद्यालय आए। तब इसका नाम ओसाका गाईकोकुगो दाईगाकु था। इसके अलावा उन्होंने कुछ समय तोक्यो में भी अध्यापन कार्य किया। ओसाका विश्वविद्यालय में करीब 20 साल हिंदी पढ़ाने के बाद उन्होंने सेवानिवृत्ति के बाद सात साल तक क्योतो में तुलनात्मक संस्कृति के बारे में भी अध्यापन कार्य किया। मालवीय जी ने कुछ समय तोक्यो में भी रहकर काम किया।

वे अपनी मातृभाषा अवधी के अलावा हिंदी, ब्रज, संस्कृत, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, स्पेनिश, जापानी आदि भाषाएँ गहराई से जानते थे। वे रीतिकाल के मर्मज्ञ विद्वान और धीर शोधकर्ता थे। उन्होंने श्रीपति मिश्र ग्रंथावली (१९९९), देव सम्पूर्ण ग्रन्थावली (२००२) के साथ-साथ बिहारी सतसई (२००८), और सुवंश कृत उमराउकोश (२०१०) आदि रचनाओं का प्रामाणिक संपादन किया। उन्होंने चार उपन्यास भी लिखे- किसी और सुबह (१९७८), रेतघड़ी (१९८१), दायरा (१९८३) और यह चेहरा क्या तुम्हारा है (१९८५)। उनके चार कहानी संग्रह भी हैं- हिमउजास (१९८१), शुभेच्छु (१९८२), फंगस (१९८५), और आइसबर्ग (२०१६)। मक्रचाँदनी (१९९५) नाम से चौथे कहानी-संग्रह का जिक्र 'आइसबर्ग' कहानी संग्रह के फ्लैप पर ज़रूर मिलता है लेकिन वह मुझे उपलब्ध नहीं हो सका। मालवीय जी की बेटी मधु जी ने बताया कि वह संग्रह प्रकाशित नही हो पाया था। उसकी कहानियाँ 'आइसबर्ग' संग्रह में हैं।

इनके अलावा दो आत्मकथ्य-संस्मरणों की किताबें भी हैं- 'लाई हयात लाए' (२००४), स्फटिक (२००७) (दो खण्डों में)। भाषा और अन्य विषयों पर 'जनसत्ता' आदि समाचार पत्रों में लिखे लेखों का संग्रह 'शब्दों का रास' (२०१४)। 'कज़ा ले चली चले' किताब उनकी इच्छा के अनुसार मरणोपरांत प्रकाशित होनी है।

वे सिर्फ हिंदी के अध्यापक और लेखक ही नहीं थे। वे कुशल चित्रकार और आधुनिकतावादी और बेहद साहसी फोटोग्राफर भी थे। उन्होंने अनेक नग्न चित्र भी खींचें हैं। जिनमें से दो चित्र 'रेतघड़ी' नामक उपन्यास में हैं। सन् 1984 में दिल्ली में उनके छायांकनों की एकल प्रदर्शनी दिल्ली में हुई।

वे जीवन को भरपूर जीने वाले औघड़ व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति थे। एक लेख में भारत में उनकी बेटी मधु जी ने लिखा कि उन्होंने 55 साल की उम्र में आठ सौ सीसी की बड़ी भारी मोटरसाईकिल खरीदी उसका बेहद कठिनाई से मिलने वाला लाइसेंस लिया। और अपना यह शौक पूरा किया। वे घुम्मकड़ भी बहुत थे। उन्होंने लगभग पूरा लैटिन अमरीका घूम रखा था। इसके लिए उन्होंने स्पेनिश भी सीखी और इस भूगोल से जुड़ा एक उपन्यास भी लिखा- 'और किसी सुबह' (लेखक के परिचय में किताब का नाम हर जगह 'किसी और सुबह' लिखा है और किताब पर शीर्षक है 'और किसी सुबह'))।

जापान आने के बाद मैं अक्सर ही साथी शिक्षकों से मालवीय जी के बारे में कुछ न कुछ सुनता ही रहा हूँ। उनसे मिलने का मेरा बहुत मन था। कई बार मेल द्वारा उनसे बात भी हुई। फोन पर भी एकाध बार संवाद हुआ। वे जापान की धर्मनगरी माने जाने वाले राज्य क्योतो के कामेओका शहर के एक गाँव में रहते थे। मेरे द्वारा मिलने आने के लिए कहने पर हमेशा कहते- "इतनी दूर कैसे आओगे?

रहने दो।” मैं जापान में इतना नया और साथ में यात्राभीरू था और अब भी हूँ कि उनकी बातें मानता रहा। जापान में एक साल बीत जाने के बाद उनकी बेटी तारा जी से एक संस्थान में मुलाकात हो गई। उनसे मालवीय जी की मेल आईडी लेकर उनको मेल किया। मेल भेजने के अगले ही दिन 15 अप्रैल, 2018 को उनका पहला मेल आया।

“प्रियवर,

मुझ बनवासी को आपने याद किया, आभारी हूं। इटावा वाले देव कवि का काव्यकोश संपादित करने में पिछले कई दशकों से लगा हुआ हूं। २ लाख १६ हज़ार शब्द हैं। कितना अधूरा छोड़ जाता हूँ, देखना है। पुराने काव्य में आपकी रुचि अगर हो तो लाभान्वित होना चाहूँगा।

इस काम के पीछे कहीं आता-जाता नहीं। आयु के चरण ही आगे बढ़ते जाते हैं।

श्रीमतीजी से मेरा सादर अभिवादन कहना न भूलें।

लक्ष्मीधर मालवीय”

देव काव्य, ब्रजभाषा और कोशविज्ञान में मेरी शून्य गति होने की मैंने बात कही। अपनी अल्पज्ञता के बावजूद मालवीय जी से मिलने की अपनी इच्छा मैं उनसे बार-बार दुहराता रहा। मैंने कोश के काम को देखने और उनके कुछ काम आने

की इच्छा व्यक्त की तो उन्होंने देवकाव्य कोश के कुछ पन्ने भेजे। 15 अप्रैल 2018 को ही उन्होंने दूसरा संक्षिप्त मेल भेजा।

''बंधुवर,

तत्काल आपके सिर पर हाथ रख रहा हूँ, भस्मासुर का। साथ में कोश के चंद पन्ने नमूने के। देखें। आशा है मनोरंजन होगा।

मा० ''

आशीर्वाद के हाथ को भी भस्मासुर का हाथ कहना, उनका अपना तरीका था। वे मानते थे कि हितैषी व्यक्ति जरूरी नहीं कि मनोहारी बातें बोले। वे 'हितम् मनोहारि च दुर्लभं वच:' की सूक्ति मानने वाले व्यक्ति भी थे। भारवि के किरातार्जुनीय की यह चर्चित सूक्ति उन्होंने एक मेल में भी मुझे भेजी थी।

अगले महीने यानी मई 2018 में मैंने मालवीय जी से ओसाका विश्वविद्यालय में हिंदी-शिक्षकों के इतिहास के बारे में पूछा तो उन्होंने यह मेल किया। 84 साल की उम्र में वे मेरी यह इच्छा पूरी कर भी कैसे सकते थे! 12 मई 2018 को उन्होंने मेल किया-

''प्रिय बंधु,

रक्तचाप के मारे तेज़ चक्कर, घर के भीतर ही चलना कठिन है।

जिद निभाने के लिए सुबह कुर्सी पर, कोश का एक ही शब्द आगे बढ़ाने में ही सारी शक्ति क्षीण हो जाती है।

क्षम्य हूँ।

लक्ष्मीधर मालवीय''

इस मेल के बाद मुझे अपनी गलती का एहसास हुआ। लगभग पाँच महीने बाद मालवीय जी का अगला मेल आया। 6 अक्टूबर 2018 को उन्होंने मुझसे तोक्यो में भारतीय दूतावास के विवेकानंद सांस्कृतिक केंद्र के निदेशक डॉ. सिद्धार्थ सिंह जी का जिक्र किया। वे मालवीय जी से मिलकर उनका साक्षात्कार करना चाहते थे। वे डॉ. सिद्धार्थ सिंह जी) मुझे भी इस साक्षात्कार में शामिल करना चाहते थे। वह साक्षात्कार भी न हो सका। इसी मेल में उन्होंने डॉ. सिद्धार्थ सिंह जी का मेल आईडी पूछा। साक्षात्कार के लिए कोई सुगम तरीका वे आगे बताते लेकिन उसका समय नहीं आ पाया। 6 अक्टूबर 2018 को उन्होंने लिखा था-

''प्रियवर

आशा है, सपरिवार सानंद हैं।

"कल तोक्यो से विवेकानंद केंद्र के प्रधान का फोन आया था। उन्हें मैंने अपना ईमेल का पता दिया, उसमें मुझसे कहीं चूक तो नहीं हो गई। कृपया उनका पता मुझे दे दें। वह आपको माध्यम बनाकर मेरा इंटरव्यू जैसा कुछ करना चाहते हैं। इससे सुगमतर मार्ग है, बाद में सुझाऊँगा।

लक्ष्मीधर मालवीय"

आगे तीन दिन बाद 9 अक्टूबर 2018 फिर एक मेल आया। मैंने मालवीय जी से उनके बचपन से लेकर अब तक के जीवन के बारे जानने की जिज्ञासा व्यक्त की थी। उनका मेल आया। साथ में एक लेख बनारस में अपने बचपन के बारे में भेजा। 9 अक्टूबर 2018 को उन्होंने लिखा-

"बनारस और मेरे बाल्यकाल में आपको जिज्ञासा थी। सो यह लेख। हितम मनोहारि च दुर्लभं वच:"

लेख का शीर्षक था – शव का काशी। जीवन की सीख देते हुए किरातार्जुनीय में लिखा भारवि का यह श्लोक भी लिखा। 'शव का काशी' लेख जितना मालवीय जी के बनारस के जीवन पर है उससे अधिक बनारस की उस सांस्कृतिक

विपन्नता के बारे में भी है जो अपने इतिहास को संजोकर रखने में महान असमर्थ है। इस लेख पर कुछ विस्तार से आगे बात की जाएगी।

इस मेल के बाद वर्ष 2019 के नववर्ष की शुभकामनाओं के साथ मैंने मालवीय जी को मेल किया। उसी दिन उनका मेल आया। मुझे उनके इसी मेल का इतने दिनों से इंतजार था। जापान में आप बिना किसी की इच्छा से नहीं मिल सकते हैं। इसलिए मुझे मालवीय जी से मिलने के लिए उनकी इजाज़त का इंतजार था। इस लेख में उन्होंने शीत ऋतु बीत जाने पर मिलने आने की बात कही। जापान में सर्दियाँ काफी लम्बी होती हैं। अक्टूबर से शुरू होकर लगभग मई महीने तक सर्दियाँ रहती हैं। मई या जून से ही गर्मी शुरू होती है। समुद्र में या ठण्डे पानी से नहाने लायक गर्मी तो अगस्त में आ पाती है। खैर मुझे उनके अगले मेल और शीत बीत जाने का इंतजार था। उनका यह मेल 2 जनवरी 2019 को आया था। पहले उसे पढ़ लेते हैं-

''शीत का मौसम बीते तो अवश्य पधारें। अभी कल तारा से आपकी चर्चा कर रहा था।''

तारा मालवीय जी की तीसरी और सबसे छोटी बेटी हैं। उनकी दो बेटियाँ भारत में हैं। जापानी पत्नी अकिको जी से उन्हें एक बेटा और एक बेटी हैं। उनकी बेटी

तारा जी ओसाका विश्वविद्यालय में ही हिंदी पढ़ती थीं। और ओनोहारा में मेरे निवास के पास एक संस्थान में नौकरी करती हैं। जहाँ मैं और मेरी पत्नी रूपा जी जापानी सीखने कभी-कभार चले जाते हैं। वहीं तारा जी से परिचय हुआ और मित्रता हुई। वे अपने पिता जी का हाल-समाचार अक्सर देती रहती थीं।

सर्दियाँ ख़त्म होने का इंतजार बहुत लम्बा हो गया। बीते साल 2019 की जापान की सर्दियाँ ज्यादा ही लम्बी हो गईं और अचानक भारत से डॉ. रामप्रकाश द्विवेदी जी द्वारा यह दुखद खबर मिली कि मालवीय जी नहीं रहे। (डॉ. रामप्रकाश द्विवेदी जी दिल्ली विश्वविद्यालय के डॉ. भीमराव अम्बेडकर महाविद्यालय में हिंदी के अध्यापक हैं।) मालवीय जी से अब कभी मिलना नहीं हो सकेगा!

मालवीय जी की बेटी तारा जी से परिचय हुआ तो साल 2018 में मेरे निवास पर आईं। यह पहले उनका ही घर था। आईं तो पिता मालवीय जी की अनेक बातें कीं। एक विडियो दिखाया। उसमें अपने घर के पास मालवीय जी टहल रहे हैं। काफी कमजोर और बूढ़े लग रहे हैं। जापान में अस्सी-पिचासी साल में भी कोई बूढ़ा और कमजोर नहीं लगता है। जापान में अधिकतर लोग उम्रखोर होते हैं अपनी उम्र से काफी कम का लगना जापानी लोगों और यहाँ रहने वालों की खास विशेषता है। इसलिए मालवीय जी कुछ ज्यादा ही कमजोर लगे।

वे कमजोर भले दिखने लगे हों लेकिन वे अशक्त नहीं थे। अंतिम दिनों में भी अपने लिए भारतीय खाना खुद पकाते थे। पत्नी का बनाया खाना तो खाते ही होंगे लेकिन उनकी बेटी ने बताया कि वे रोटी और भारतीय खाना अब खुद बनाते हैं। कितनी भी ठंड या गर्मी हो सुबह सात बजे अपने कम्प्यूटर के सामने बैठकर काम करना शुरू कर देते थे। वे स्वभाव के बहुत जिद्दी थे। यह बात उनकी बेटी तारा जी अक्सर ही कहती हैं।

जापान के निचाट अकेलेपन को उन्होंने अपनी जीवनशैली और निरंतर पढ़ने की वृत्ति से ही परे रखा होगा। यहाँ अधिकतर वृद्ध अकेले रहते और अकेले ही मरते हैं। जिसे जापानी में ‘कोदोकुशी’ कहते हैं। इस विषय पर एकबार मालवीय जी की एक छोटी सी टिप्पणी पढ़ने को मिली थी। मृत्यु के क्षणों में भी कोई आसपास न हो ऐसी लाचारी अनेक जापानी वृद्ध-वृद्धाएँ भोग रहे हैं। लेख इसी लाचारी पर था। साथ ही कोई पड़ोसी किसी को न बुलाता है न आता है। पचीसों साल एक ही दीवार की दूरी भी यहाँ लोग बनाए रखते हैं। इसे निजता की सबसे ऊँची अवस्था भी कह सकते हैं। लेकिन यह निजता अनेक बार किसी शाप की तरह भी लगने लगती है। उनकी यह टिप्पणी अंग्रेजी में डान (Dawn) समाचारपत्र में छपी एक खबर में टिप्पणी रूप में 10 अप्रैल 2015 को छपी थी।

मालवीय जी अभी पचासी साल के थे। लेकिन वे अपने चचेरे भाई और अन्य परिजनों से यही कहते कि नब्बे साल तो जिऊंगा ही। यह उनकी जिजीविषा ही थी, जो वे ऐसा कहते थे।

मालवीय जी ने अपनी जिन्दगी अपनी शर्तों और तरीकों से जी। उसे बेझिझक लिखा। आप उनके लिखे और जिए जीवन को जानें यही इस लेख का ध्येय है। मैंने मालवीय जी पर लिखा हुआ बिल्कुल न के बराबर पढ़ा है। ओम थानवी जी और मधु मालवीय जी के ही छोटे-छोटे दो लेख पढ़े हैं।

युद्ध का समाधान प्रेम

'कनुप्रिया' 'अंधा युग' का अगला कदम है। दोनों रचनाओं की भाव-भूमि और प्रश्न समान हैं। और दोनों ही रचनाओं में समाधान गायब हैं। 'अंधा युग' युद्ध से शुरू होकर युद्ध की निरर्थकता पर जाकर खत्म होता है और 'कनुप्रिया' प्रेम से शुरू होकर युद्ध की निरर्थकता पर ही पहुँचती है। दोनों ही रचनाओं में लौकिक-

अलौकिक, सांसारिक-मानसिक स्थितियों और उलझनों का वर्णन-चित्रण किया गया है। एक और 'इतिहास की दुर्दांत शक्तियाँ' हैं, उनसे पैदा होने वाले उद्वेग हैं तो दूसरी ओर 'चरम तन्मयता' में भीतर 'साक्षात्कृत' होने वाला सच है। इन दोनों को अलग-अलग देखा गया है। क्या इन दोनों प्रकार से सचों के लिए कोई एक मूल्यस्तर नहीं खोजा जा सकता है? इसी मूल्यस्तर की खोज का प्रयास धर्मवीर भारती इस रचना में करते हैं। ऐसा उनका पूर्वकथन है। छोटी-बड़ी उन्नीस कविताओं की शृंखला द्वारा वे बाहरी और भीतरी सच को एक साथ रखकर किसी अभूतपूर्व मूल्यस्तर की खोज करना चाहते हैं। लेकिन यह खोज केवल एक कवि की अमूर्त इच्छा बनकर ही रह जाती है। समस्या जब सामाजिक हो तो उसका समाधान या उसका मूल्यांकन भी सामाजिक ही होगा। युद्ध की समस्या का समाधान किसी मानसिक या अलौकिक स्तर पर जाकर खोजा ही नहीं जा सकता है। इसलिए इस कृति में भी किसी प्रकार का कोई समाधान रचनाकार चाहकर भी नहीं दे सका है। लेकिन अगर रचना को पीछे से आगे की ओर करके पढ़ें तो शायद एक समाधान मिल जाता है। युद्ध के बरक्स प्रेम का रास्ता ही संभवतः रचनाकार के मन में रहा होगा। जिसे रचना के अंत में नहीं बल्कि शुरू में ही उन्होंने दे दिया।

कनुप्रिया के बारे में पूर्ववर्ती विद्वानों ने क्या-क्या कहा है, इसे भी संक्षेप में यहाँ देख सकते हैं। मेरा मत निम्नलिखित तीनों प्रकार के विचारों से थोड़ा अलग है- कनुप्रिया के बारे में विश्वम्भरनाथ उपाध्याय लिखते हैं- ‘‘इस सीमा तक कनुप्रिया एक समस्यात्मक रचना है। उसमें कोई पूर्ण विश्व दृष्टि विकसित नहीं हो सकी। उसमें अंधायुग का ही कवि बोलता है जो विश्वयुद्ध जन्य मूल्य चिंता से उलझन में है, दुखी है, दग्ध है। वह कोई मार्ग नहीं पाता, एक चक्र में घूमता है लेकिन उसमें मानवीय कोमलता है और उसकी मंशा यह है कि काश चरम तृप्ति के क्षणों का ही राज्य होता! कवि की मानवीय संवेदना ही हमें प्रभावित करती है, और जहाँ तक वह समस्या की पहचान करता है, वहाँ तक वह युग के प्रति सजग भी है पर भारती में कोई समाधान, कोई वैचारिक संगति, कोई जीवनदर्शन खोजना उनके साथ अन्याय करना है।’’ (सम्भोग का चित्रकार- विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, धर्मवीर भारती, लक्ष्मणदत्त गौतम, कुमार प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1974, पृष्ठ संख्या 183)

रमेशकुंतल मेघ ने इसे ‘गद्यगीतात्मक कृति’ माना है। वे इस कृति की भूमि के बारे में लिखते हैं- ‘‘इस भूमि में एक ओर सिद्धों की सहज साधना का महासुख है, दूसरी ओर वैष्णवों का महाभाव है, और तीसरी ओर पश्चिम के अस्तित्ववादी दार्शनिकों का क्षण-बोध है।’’ धर्मवीर भारती ने राधा को सिद्धों के महासुख और

वैष्णवों के महाभाव और अस्तित्ववादी क्षणवाद का मिश्रण कर दिया है- “‘कनुप्रिया’ के रचयिता ने सिद्ध-साहित्य पर शोध-पुस्तक भी लिखी है। अतः वह वैष्णव राधा को आधुनिक राधा, त्रिपुरसुन्दरी राधा और दार्शनिक राधा— तीनों ही एक संग बनाता है।” (रमेश कुंतल मेघ, चरवाही भूमिका का आयतीकरण, धर्मवीर भारती, लक्ष्मणदत्त गौतम, कुमार प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1974, पृष्ठ संख्या 188)

चंचल चौहान कनुप्रिया को एक ‘कलात्मक फ्रॉड’ घोषित करते हुए लिखते हैं कि “कनुप्रिया का असली रूप कविप्रिया यानी स्वयं कविता है, कनु स्वयं कवि, वे परम्परागत राधा कृष्ण की तस्वीरें नहीं हैं। ‘कविता’ और ‘कवि’ का रूपकात्मक स्वरूप ही इस कृति में चित्रित हुआ है। इसलिए ‘कनुप्रिया’ का संसार वायवी है, ‘एब्सट्रैक्ट’ है।” (धर्मवीर भारती, लक्ष्मणदत्त गौतम, कुमार प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1974, पृष्ठ संख्या 205)

यह काव्य कृति एक लंबा एकालाप है जो कनुप्रिया या राधा के माध्यम से कवि हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इस एकालाप का काव्य-प्रयोजन भी हम लोग साथ-साथ खोजेंगे। कनु यानी कान्हा या कृष्ण का पक्ष भी कनुप्रिया यानी राधा कहती है। लेकिन यह एकालाप कनुप्रिया मात्र का नहीं है बल्कि संसार की सभी

स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करने का प्रयास करने वाली किसी विश्व-स्त्री का एकालाप है। और कृष्ण समस्त विश्व-पुरुष हैं। धर्मवीर भारती इस कृति को इस से भी व्यापक अर्थ में हमारे सामने लाते हैं। प्रकृति में मौजूद समस्त चराचर को उन्होंने कनु-कनुप्रिया रूप में देखा है। समस्त प्रकृति को ही प्रेमी-प्रेमिका भाव में रँगकर देखने से सभी प्रकार से संघर्षों का भी अंत इस प्रयास में निहित है।

कालिदास साहित्य में मौजूद अशोक के फूलों और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रसिद्ध 'अशोक के फूल' से हिंदी साहित्य के पाठक परिचित हैं। अशोक के इसी फूल के फूलने को संभव बनाने वाली स्थिति से 'कनुप्रिया' की शुरुआत होती है। द्विवेदी जी ने अशोक के लाल-लाल फूलों को काम देव के पाँच पुष्पों में से एक कहा है। जो अपने जीवन-वर्ष के वसंत का इंतज़ार कर रहा है और सुन्दरियों के महावर रचे पैरों के कोमल स्पर्श से फूल उठता है। धर्मवीर भारती ने इसी बिंदु की नई व्याख्या से अपने काव्य की शुरुआत की है। वे कहते हैं कि अशोक का पेड़ जिस सुन्दरी के पदाघात की प्रतीक्षा कर रहा है वह सुन्दरी धूल बनकर उसके तने से होकर उसके वृक्ष के शरीर में ही पूर्वराग की तरह उपस्थित रहती है। वह इसे भूले रहता है। सुन्दरी के पैरों का कोमल आघात तो केवल उसे

जामवन्त-हनुमान प्रसंग की तरह उस पेड़ में निहित उसकी उल्लास-शक्ति की याद भर दिलाता है।

अशोक के फूल का फूलना और उस लाल सौन्दर्य को संभव करने वाली शक्ति कब से उसके भीतर ही सोई हुई है, इसे न जानने के कारण वह किसी सुंदरी के पदाघात का न जाने कब से इंतजार कर रहा है। और उल्लसित होने का कारण बाहर न होकर उसके भीतर ही है। यानी वह किसी बाहरी आघात से नहीं बल्कि उसके भीतर रेशे-रेशे में समाई हुई राधा-शक्ति के कारण संभव होता है। अब यह जो शक्ति है जिससे अशोक के फूल खिलते हैं उस शक्ति में निहित शक्ति भी कृष्ण-शक्ति है। प्रेमी प्रेमिका को देखकर जो उल्लास का भाव अपने भीतर और बाहरी प्रतिक्रियाओं - अनुभावों में पाता है इसका कारण बाहरी नहीं है बल्कि उसके शरीर के रेशे-रेशे में प्रेमिका पहले से ही मौजूद है। वही प्रेमिका-तत्त्व प्रेमी में उल्लास बनकर बाहर प्रकट हो रहा होता है। और उस प्रेमिका में प्रेमी पहले से ही मौजूद है जिसके कारण वह ऐसा कर पाती है। यह प्रेम का अद्वैतभाव है। इसी अद्वैत से जीवन के संघर्षों को मिटाया जा सकता है। चूँकि आप सबके सामने इस समय वे पंक्तियाँ नहीं हैं इसलिए कुछ पंक्तियों को उद्धृत करना अनुपयुक्त नहीं होगा।

"ओ पथ के किनारे खड़े/ छायादार पावन अशोक-वृक्ष/ तुम यह क्यों कहते हो कि/ तुम मेरे चरणों के स्पर्श की प्रतीक्षा में/ जन्मों से पुष्पहीन खड़े थे/ तुम को क्या मालूम कि/ मैं कितनी बार केवल तुम्हारे लिए--/ धूल में मिली हूँ/ धरती में गहरे उतर/ जड़ों के सहारे/ तुम्हारे कठोर तने के रेशों में/ कलियाँ बन, कोंपल बन, सौरभ बन, लाली बन../ चुपके से सो गई हूँ/ कि कब मधुमास आए और तुम कब मेरे/ प्रस्फुटन से छा जाओ!/ फिर भी तुमको याद नहीं आया, नहीं आया/ तब तुम को मेरे इन जावक-रचित पाँवों ने/ केवल यह स्मरण करा दिया कि मैं तुम्हीं में हूँ।" इन पंक्तियों के बाद प्रेमिका में छिपे प्रेमी-तत्त्व के बारे में भी पढ़ें- "यह जो अकस्मात/ आज मेरे जिस्म के सितार के/ एक-एक तार में तुम झंकार उठे हो../ सच बतलाना मेरे स्वर्णिम संगीत/ तुम कब से मुझ में छिपे सो रहे थे।"

लेकिन इस काव्य-कृति की काव्य-वस्तु इतनी सीमित नहीं है। उसमें एक किशोरवय की लड़की के उलाहने और समर्पण के मनोभाव भी भरे हुए हैं। एक भाव जो शुरू के कई हिस्सों में साथ रहता है वह है प्रिय और प्रिया का अद्वैत भाव। दोनों दो नहीं एक ही हैं। लेकिन युद्ध में जाते ही अद्वैत का यह विचार

खंडित हो जाता है। राधा और कृष्ण दोनों अब दो अलग-अलग सत्ताएँ बन जाते हैं। कृष्ण तीर की भांति और राधा प्रत्यंचा की तरह पीछे रह जाती है-

“कौन था कनु, वह,
तुम्हारी बाहों में
जो सूरज था, जादू था, दिव्य था, मंत्र था
अब सिर्फ मैं हूँ, यह तन है और याद है!
मंत्र-पढ़े बाण-से छूट गए तुम तो कनु,
शेष रही मैं केवल
काँपती प्रत्यंचा-सी” (आठवाँ संस्करण पृष्ठ 58)

राधा या कनुप्रिया इस रचना की काव्य-नायिका है। उसके और कृष्ण के बीच प्रेम और वियोग को इस बड़ी कविता का विषय बनाया गया है। कृष्ण के साथ राधा के लौकिक-अलौकिक, मानसिक और जिस्मानी प्रेम की कहानी के बाद कुरुक्षेत्र के रणस्थल में जा चुके कृष्ण और पीछे-अकेली छूट चुकी राधा की कहानी उसी की जबानी पाठक पढ़ता-सुनता है। कनुप्रिया काव्य की इतनी ही कहानी है। अब इसे विभिन्न रूपों में जीवन के और विषयों से भी जोड़ने की कोशिश कवि करता है। इस काव्य में विचार के कई आधर आरोपित करने की

सफल-असफल कोशिश करता है। प्रेम और युद्ध में से आपको कोई एक विषय चुनना हो तो आप किसे चुनेंगे? निश्चित ही सभी लोग प्रेम को ही चुनेंगे। फिर कृष्ण ने क्यों राधा के साथ प्रेम छोड़ युद्ध का रास्ता चुना? उसका परिणाम इस काव्य के अंत में और 'अंधा युग' दृश्य काव्य में आप पढ़ ही चुके हैं। फिर क्यों राधा को अकेला छोड़ कृष्ण रण में अपनी अठारह हजार अक्षौहिणी सेना के साथ चले जाते हैं? क्यों उस आम की डाल को भी कटवा दिया जाता है जिसकी बौर से कनु ने कनुप्रिया की माँग भरी थी? क्यों उस अशोक और कदंब को भी सेना के गुजरने के लिए काट दिया जाता है? इन सभी प्रश्नों के जवाब राधा पूछती है।

प्रेम, मनुष्य का जीवन और प्रकृति तीनों को ही युद्ध के कारण नष्ट होना पड़ता है। फिर उस प्रेम को छोड़ कृष्ण युद्ध को क्यों स्वीकार करते हैं? युद्ध की इसी व्यर्थता को सामने लाने वाली कृति 'अंधा युग' है। जिसमें सैनिकों के शुरुआती वाक्यों से ही युद्ध की निरर्थकता का संकेत रचनाकार देने लगता है। और अंत में गांधारी के प्रश्नों से उसका अंत होता है। कनुप्रिया की कहानी भी यही है।

एक ओर प्रेमी कृष्ण हैं तो दूसरी ओर युद्ध में गए हुए कृष्ण। कनुप्रिया युद्ध में घट रहीं अमानुषिक घटनाओं के लिए कृष्ण को दोषी ठहराते हुए प्रश्न करती है-

“हारी हुई सेनाएं, जीती हुई सेनाएं/ नभ को कंपाते हुए, युद्ध-घोष, क्रंदन-स्वर,/ भागे हुए सैनिकों से सुनी हुई/ अकल्पनीय अमानुषिक घटनाएं युद्ध की/ क्या ये सब सार्थक हैं?/ चारों दिशाओं से/ उत्तर को उड़-उड़कर जाते हुए/ गृद्धों को क्या तुम बुलाते हो” (आठवाँ संस्करण पृष्ठ 68)

इसी तरह का आरोप अंधा युग में गांधारी कृष्ण पर लगाती है कि कृष्ण अगर चाहते तो युद्ध को टाल सकते थे। इन सारी अमानुषिक घटनाओं और हत्याओं को होने से बचाया जा सकता था। युद्ध स्थल पर आने वाले गिद्धों को कृष्ण ने बुलाया था क्या?

अंबेडकरवादी विचारक, शिक्षक डॉ. तेज सिंह

डॉ. तेज सिंह मेरे एम. फिल. के शोध निर्देशक थे। सन् 2007 में दिल्ली विश्वविद्यालय से एम. फिल. के लघु शोध प्रबंध के लिए विषय चयन के बाद विभाग द्वारा शोध निर्देशक के रूप में मुझे डॉ. तेज सिंह का निर्देशन प्राप्त हुआ। विषय 1857 की राज्यक्रांति से संबंधित था। औपनिवेशिक प्रतिरोध का स्वरूप और 1857 पर आधारित उपन्यास 'गदर' विषय पर डॉ. तेज सिंह सर ने मुझे जिस प्रकार की शोध कार्य अनुकूल स्वाधीनता दी वह मेरे लिए अविस्मरणीय है। विषय के चयन के बाद एक दिन दिल्ली विश्वविद्यालय के दक्षिण परिसर में

उनसे पहले पहल मुलाकात हुई। खूब लंबे, हँसमुख, सांवले रंग के अपनी उम्र से कम लगते, दाढ़ी और सिर के बाल थोड़े सफेद होते हुए, खुलकर मिलने 'वाले शिक्षक। शिक्षक के साथ सबको एक ही मुलाकात में सहज रूप में आत्मीय बना लेने वाले व्यक्ति।

साउथ कैंपस की कैंटीन से दो कप चाय लेकर वहीं पीछे लॉन में बेंच पर सर ने मुझसे बात की। यह उनके साथ मेरी पहली मुलाकात थी। उनकी लिखी कुछ किताबें मैंने लाइब्रेरी में देखी थीं.. उनके अंबेडकरवादी चिंतक रूप का कुछ-कुछ परिचय भी था। मैंने 2007 में 1857 की 150 वीं वर्षगांठ पर कुछ दलित चिंतकों के भिन्न रुख वाले लेख भी देखे थे, जिनका अनुसरण करने पर 1857 की क्रांति के औपनिवेशिक प्रतिरोध के स्वरूप को क्षति पहुँचती थी। यह लड़ाई सभी वर्गों वर्णों ने साथ मिलकर लड़ी थी न कि भिन्न जातिगत अथवा धार्मिक पहचान के झंडे तले। मुझे लगा कि कहीं डॉ. तेज सिंह भी मुझे 1857 की क्रांति को इसी बँटी हुई लड़ाई के रूप में देखने का आग्रह अथवा निर्देश न दे दें! लेकिन ऐसा नहीं हुआ। उन्होंने मेरी बात मानो खुद ही समझ ली थी। वे बोले, "यह तुम्हारा काम है। इस पर तुम्हारी जो राय हैं, वैसे ही इसे करना इसे मेरी विचारधारा से देखने की कोई जरूरत नहीं है। जहाँ भी कोई परेशानी आए

और कोई बात समझ न आए वहाँ मुझसे बात कर लेना। सारे अध्याय एक-एक कर मुझे दिखा भी देना।"

इस तरह की अकादमिक स्वतंत्रता शोध कार्य के लिए बेहद जरूरी होती है। ‘डॉ. तेज सिंह सर से जितना मिलना चाहिए या उतना मैं नहीं मिल पाया। उनकी किताबें और त्रैमासिक पत्रिका ‘अपेक्षा’ जरूर देखता रहा। अचानक ही जुलाई 15, 2014 की शाम को उनके देहांत की खबर सुनी तो विश्वास ही नहीं हुआ। वे अस्वस्थ नहीं थे और अपनी उम्र से कम के लगते थे, सन् 2011 में वे - फरवरी अप्रैल 2015 दिल्ली विश्वविद्यालय से सेवा निवृत्त हुए थे, तब भी विश्वास नहीं हुआ था कि सर 65 वर्ष के हो गए लेकिन अब तीन ही साल बाद यह दुःखद सत्य भी सामने हैं कि ये हमारे बीच नहीं हैं।

डॉ. तेज सिंह का जन्म 13 जुलाई 1946 को घोंडली गाँव में हुआ। आरंभिक शिक्षा के बाद उन्होंने एम.ए., एम.फिल. और पीएचडी की उपाधि जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से प्राप्त की। यहाँ रहकर वे मार्क्सवाद और जनवादी लेखक संघ के संपर्क में आए। आगे चलकर 1996 में वे दिल्ली विश्वविद्यालय में रिसर्च साइंटिस्ट हुए। और यहीं वे अंबेडकरवाद से प्रभावित हुए। उन्होंने दलित विमर्श से खुद को अलग करते हुए इसे अंबेडकरवाद कहना पसंद किया। उन्होंने ‘अपेक्षा’ के जुलाई-दिसंबर 2013 के अंक में अपने

संपादकीय में अंबेडकरवाद और दलित लेखन के अंतर को समझाते हुए लिखा है, "अंबेडकरवादी साहित्य का वैचारिक आधर अबेडकरवाद और उसकी विचारधारा है। अंबेडकरवाद और अंबेडकरवादी साहित्य में जातिगत चेतना के लिए कोई जगह नहीं है, जबकि दलित स्त्रीवादी लेखन दलितवाद से प्रेरित है, प्रभावित है और दलितवाद चल रहे थे। दलितवाद का मूल आधर जातिवादी चेतना ही है। इसलिए वह दलितपन से भी मुक्त नहीं है। दलित लेखन में दलित 'वर्ग' ने दलित जातियों का स्थान ले लिया है। इससे इस समाज में वर्ग चेतना के बजाय जातिवादी चेतना विकसित हो रही है।

डॉ. तेज सिंह ने दलितवाद की मूल कमजोरी पर यहाँ चोट की है, उसे चिह्नित किया है। ये इसमें आती हुई जातिवादी चेतना से अपना विरोध व्यक्त करते हैं। वे यहाँ उसे वर्गीय भावबोध से संपृक्त होने की ओर सलाह भी देते हैं।

डॉ. तेज सिंह का विश्वास लोकतंत्र, मार्क्सवाद और अंबेडकरवाद पर अमिट था। वे इन तीनों के समन्वय से एक रास्ता निकालने की कोशिश करते रहे। उन्होंने लिखा भी है, "भारत के लोकतांत्रिक ढांचे के कायम होने से पहले बहुसंख्यक समाज को उसके मूलभूत अधिकारों से वंचित किया जाता रहा है। हिंदूधर्म ग्रंथों के आधर पर आज भी समाज के विशिष्ट वर्ग को विशेष अधिकार मिले हुए हैं, जबकि बहुसंख्यक वर्ग के फरवरी अप्रैल 2015 हिस्से में अधिकारों

के बजाय सिर्फ कर्तव्य ही आते रहे हैं। इसमें स्त्रियां भी शामिल हैं, उन्हें भी उन कत्तव्यों का पालन करना पड़ता है। स्त्री के लिए कर्तव्य का अर्थ पति की सेवा करना है जिसे सेवाधर्म कहा गया है।

इस तरह देखें तो डॉ. तेज सिंह अंबेडकरवादी चिंतन के द्वारा एक सर्व समावेशी रास्ते के साथ समतामूलक समाज की स्थापना का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य लेकर चल रहे थे।

उन्होंने अनेक पुस्तकें भी लिखीं। इनमें नागार्जुन का कथा साहित्य, राष्ट्रीय आंदोलन और हिंदी उपन्यास आज का दलित साहित्य, उत्तरशती की हिंदी कहानी, दलित समाज और संस्कृति, प्रेमचंद और रंगभूमि एक विवाद : एक संवाद, अंबेडकरवादी विचारधारा और समाज, अंबेडकरवादी साहित्य का समाजशास्त्र आदि प्रमुख हैं। साथ ही उन्होंने कई पुस्तकें संपादित भी की। जैसे- अंबेडकरवादी कहानी रचना और दृष्टि और अंबेडकरवादी स्त्री चिंतन प्रमुख हैं। इनका प्रकाशन होना अभी शेष है। अध्यापन, लेखन और संपादन कार्य के अलावा वे संगठन कर्ता भी रहे। वे दलित लेखक संघ के पहले अध्यक्ष बने।

विडंबनात्मक स्थितियों का हास्यपूर्ण बयान

जितना ध्यान आलोचकों ने अमृतलाल नागर के उपन्यासों पर दिया है उतना कहानियों पर नहीं दिया। इसकी वजह क्या हो सकती है ? इस पर नागर जी के पाठकों का ध्यान जाना चाहिए। प्रेमचंद के उपन्यास जितने सराहे गए कहानियों को भी वैसी ही लोकप्रियता मिली। नागर जी के उपन्यासकार रूप को आलोचकों और पाठकों ने भरपूर तवज्जो दी। उनके अधिकांश उपन्यासों के संबंध में यह बात कही जा सकती है। उनका पहला उपन्यास 'महाकाल' (बाद में 'भूख' नाम से प्रकाशित) सन् 1947 में आया। उनका पहला कहानी संग्रह 'वाटिका' सन् 1935 में आया। उस समय नागर जी की उम्र महज उन्नीस वर्ष थी। इस कहानी संग्रह को उन्होंने प्रेमचंद जी के पास भी भेजा। प्रेमचंद जी ने कहानी संग्रह की कुछेक कहानियों को पढ़ा। पढ़कर उन्हें इन कहानियों में यथार्थ

के बजाय गद्यकाव्य जैसा कुछ देखने को मिला। जिनका आधर जीवन पर नहीं था और उनसे जीवन पर प्रकाश भी नहीं पड़ रहा था। प्रेमचंद जी के इस पत्र ने नागर जी के अनुसार उनकी जन्मपत्री ही बदल दी। यानी अब वे गद्यकाव्य से जीवन के यथार्थ की ओर मुड़े। एक कारण तो यही नजर आता है जिसके चलते नागर जी के कहानीकार रूप की चर्चा उपन्यासकार के मुकाबले कम हुई। उनके उपन्यास आरंभ से ही यथार्थ की जमीन पर चले।

नागर जी ने अपने लंबे लेखकीय जीवन में सौ से अधिक कहानियाँ और चौदह उपन्यास लिखे। इसके अलावा रिपोर्ताज, संस्मरण, निबंध, जीवनी, हास्य व्यंग्य, नाटक और बाल साहित्य की रचना की। गुजराती, मराठी और अंग्रेजी साहित्य से कुछेक अनुवाद भी किये। रचनाकाल के अुनसार इनमें सबसे पहला स्थान कहानियों और फिर अनुवाद का है। अपने पहले उपन्यास से पूर्व उनके तीन कहानी संग्रह-वाटिका 1935, अवशेष 1938, तुलाराम शास्त्री 1941 आ चुके थे। नवाबी मसनद नामक एक हास्य व्यंग्य रचना 1939 में आई। तीन अनूदित पुस्तकें भी सामने आ चुकी थीं। मादाम बावेरी का संक्षिप्त भावानुवाद ‘प्रेम की प्यास’ नाम से 1937 में। मोपासां की कहानियाँ ‘बिसाती’ शीर्षक से 1938 में। चेखोव की कहानियाँ ‘काला पुरोहित’ 1939 में। इसके साथ ही 1946 में ‘नटखट चाची’ नाम से एक बाल साहित्य की पुस्तक की प्रकाशित हो चुकी

थी। यहां ये सब रचनाएं और उनके रचनाकाल बताने का एक प्रयोजन यह भी है कि नागर जी ने उपन्यास लिखने से पहले लगभग ग्यारह पुस्तकें लिखी थीं। यह सब उनके उपन्यासकार की तैयारी थी। इससे पहले पास-पड़ोस में होने वाले कवि-सम्मेलनों में वे कविताएँ भी सुनाया करते थे। जिन्हें उन्होंने कहीं संकलित नहीं किया।

नागर जी ने अपनी सभी कहानियों को रचनावली में स्थान नहीं दिया है। केवल सत्तर-पचहत्तर कहानियों को ही इसमें रखा है। लगभग पांच दशक तक नागर जी ने कहानियाँ लिखीं। जिस समय नागर जी ने कहानी लिखना आरंभ किया उस समय प्रेमचंद और प्रसाद कहानियाँ लिख रहे थे। उन्होंने प्रेमचंद की शैली न अपनाते हुए भी अपनी कहानियों को यथार्थवाद के ही पाले में रखा। पांच दशक की लंबी अवधि में अनेक कहानी आंदोलन आए और गए। नागर जी की कहानी कला में समयानुसार बदलाव भी आया। लेकिन उन्होंने अपनी कहानियों को वाद और आंदोलन से अप्रभावित ही रखा। 1980-84 तक उन्होंने कहानियाँ लिखीं। 1986 में सभी कहानियों को ‘एक दिल हजार अफसाने’ नाम से संकलित करवाया।

नागर जी ने अपनी कहानियों के जरिये हिंदी कथा साहित्य को अनेकानेक अविस्मरणीय चरित्र दिये। उनकी अनेक कहानियाँ रेखाचित्र अथवा

व्यक्तिव्यंजक संस्मरण प्रतीत होती हैं। रचनावली की भूमिका लिखते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने अमृतलाल नागर को बुनियादी तौर पर रेखा-चित्रकार ही माना है। नागर जी की कहानियों में घटनाओं का अपना महत्त्व होता है लेकिन वे पात्रों को उभारने में सिद्धहस्त हैं। ऐसी कहानियाँ प्रायः हास्यजनक हैं। कुछेक करुणास्पद भी हैं। शेखी बघारने वाले पात्रों को विभिन्न रूपों में उन्होंने देखा-दिखाया है। ऐसे पात्र कहीं कहीं करुण लगते हैं तो कहीं कहीं हास्यास्पद। इन कहानियों पर समय की छाप के साथ क्षेत्रीयता यानी लखनऊ की अमिट छाप साफ साफ देखी जा सकती है। तत्कालीन समाज, भाषा-बोली, आपसी संबंधों को जस का तस कहानियों में चित्रित किया गया है। नागर जी की कहानियों की एक विशेषता यह भी है कि वे अपने क्षेत्र से जुड़ी कहानियाँ हैं। जिस क्षेत्र से रचनाकार का संबंध रहा है कहानियों में प्रायः वह क्षेत्र आ ही जाता है। जब वे किसी कल्पित स्थान की बात करते हैं ऐसी कहानियाँ प्रभावहीन लगती हैं।

नागर जी व्यक्तियों के रेखाचित्र बनाने में माहिर कथाकार हैं। पात्रों की अच्छाई-बुराई को पाठकों के सामने रखते जाते हैं। इन पात्रों में लखनऊ के टिपिकल चरित्रों की मौजूदगी सर्वाधिक है। शेखी बघारने वाले लोगों की हास्यापद जीवन स्थितियों को कहानी में चित्रित करने का कोई अवसर नागर जी नहीं छोड़ते हैं। कई बार तो एक ही पात्र उनके ऊपर इस प्रकार हावी होता है कि वह कई

कहानियों में दिख जाता है। ऐसे व्यक्तियों की खास जीवन शैली, बोली, दुखपूर्ण जीवन स्थिति का बयान वे निर्मम होकर करते हैं।

डॉ. मक्खनलाल उर्फ डाक्टर फरनीचरपलट इसी प्रकार के जीव हैं। उनका पेशा उठ चुका है। कोई मरीज अब उनके पास नहीं आता है। उनका कम्पांउडर राजू बिना तनख्वाह दुकान से सामान चोरी कर वहां नौकरी करता है। डाक्टर साहब के साइनबोर्ड पर अनगिनत डिग्रीयों का जिक्र है। वे डिग्रीयां साइनबोर्ड से उखड़ रही हैं। वे उन डिग्रीयों का नाम लेकर खुद को एमबीबीएस डाक्टर मिश्रा से पांच अक्षर ज्यादा डिग्रीयां वाला डाक्टर बताते हैं। जो भी मरीज वहां से गुजरते हैं, उन्हें राजू जबरन डाक्टर मक्खनलाल उर्फ फरनीचरपलट के पास लाने की कोशिश करता है। लेकिन वे सभी डाक्टर मिश्रा के पास ही जाना चाहते हैं। इनके चंगुल से छूटने के लिए मरीज लट्ठ चलाने की धमकी भी देते हैं। डाक्टर फरनीचरपलट की इसी लाचारी को हास्य के रूप में यहां दिखाया गया है। उन्हें अपने परिवार के आठ लोगों का पेट पालना है। और कोई काम आता नहीं है या करना नहीं चाहते। राजू उन्हें डाक्टरी छोड़ कुल्फी बेचने की सलाह देता है। जिससे की उनके परिवार का गुजारा आसानी से हो जाएगा।

नागर जी ने डाक्टर की जीवन स्थिति और मनःस्थिति का जीवंत चित्रण किया है। संवाद और कार्य व्यापार बहुत प्रभावशाली हैं। रामू के व्यवहार से डाक्टर

का गुस्सा आसमान छूने लगा तो इसी बीच रामू को बाहर मरीज दिख गए। उनका गुस्सा नीचे उतर आया। व्यवहार बदल गया। नागर जी इस घटना का मनोरंजन चित्रण किया है-''डाक्टर मक्खनलाल का क्रोध अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। रामू की मुस्काहट और पानी के गिलास को देखकर वे आपे में न रहे और दांत पीसते, मुट्ठियां मांजते हुए अंदर आये। पतलून नीचे खिसकने लगा, डाक्टर साहब को पतलून सम्हालने की फिक्र पड़ी, गुस्सा ठिठक गया। तब तक मौके का लाभ उठाकर रामू बोल उठा, ''क्या तमासा कर रहे हैं साहेब ? वो सामने मरीज आ रहे हैं।''

डाक्टर साहब ने सड़क की तरफ घूमकर यों देखा ज्यों अकाल के टूटे को पकवानों भरी थाली की खबर मिली हो। डाक्टर साहब ने खुशामद और मचलने की क्रिया को एक साथ साधकर बड़ी आतुरता के साथ कहा, ''जा-जा बेटा, लपककर, बुला ला उन्हें। कहना, असली मशहूर डाक्टर यही हैं। जल्दी जा, कहीं कोई उन्हें मिसरा का पता न बता दे।''

इस कवायद का कोई सकारात्मक असर नहीं पड़ा। मरीज डाक्टर मिश्रा के पास ही जाना चाहते थे। अंततः वहीं चले गए। पीछे रह गए डॉक्टर मक्खनलाल और उनका कम्पाउंडर राजू। शेखी बघारने की प्रवृति नागर जी के अधिकांश कहानियों के पात्रों की स्थायी प्रवृति मालूम पड़ती है। डाक्टर लाचार हैं। मरीजों

के सामने अपने धंधे की शेखी बघारते हैं। कोई मरीज आता नहीं है। खाने के भी लाले पड़े हैं। ऐसे में वे खींचकर लाए मरीजों को अपने बारे में बताते हैं- बड़ी मुश्किल है, इतने मरीज आते हैं कि आज चार महीने से सोने और खाने तक ही फुरसत नहीं मिली। बड़ा डाक्टर होना भी मुसीबत है।''[1] इस झूठ का भी कोई प्रभाव उन पर नहीं पड़ता है। वे उन्हें जाली डाक्टर कहकर वहां से निकल जाते हैं।

ऐसी विडंबनात्मक स्थितियों और इस तरह के हास्यास्पद किंतु अंततः करुण पात्रों की सर्जना अमृतलाल नागर की कहानी कला की अन्यतम विशेषता है। इन्हीं डाक्टर मक्खनलाल उर्फ डाक्टर फरनीचरपलट को केंद्र में रखकर नागर जी ने एक और कहानी लिखी है-'डाक्टरी साइनबोर्ड'। इस कहानी में दो-तीन पात्रों को और जोड़ा है। एक सेठ जी हैं जो प्रसिद्ध कंजूस मक्खीचूस हैं। सेठ भजगोविंद उनका नाम है। उन्होंने अपना इलाज डाक्टर मक्खनलाल से कराया। अठन्नी फीस बनी जिसे वे देने में दिलचस्पी नहीं रखते हैं। डाक्टर का कम्पाउंडर रामू वहां से सामान चोरी कर भाग गया है। पत्नी बच्चों को लेकर अलग रहती है। उनके मकान में रहने वाली किरायेदारिन ने आधा किराया कई महीनों से नहीं दिया है। और सेठ भजगोविंद उनकी अठन्नी नहीं देता है। इसी का रोना वे रोते रहते हैं। अब नई घटना यह हुई कि उनके साइनबोर्ड पर बचे अक्षरों से कुछ अक्षर

कोई मिटा गया है और उस पर मक्खन लाल शर्मा के ल को काटकर मक्खन ला और शर्मा को काटकर उसके आगे बे लिखकर 'मक्खन ला बेशर्म' लिख गया है। इस पर डाक्टर साहब अपना सिर पटक पटककर रो रहे हैं। इस स्थिति में उनकी मदद वालिद उपनाम से शायरी करने वाला एक युवक करता है। वह उनकी अठन्नी, बचे हुए किराये और साइनबोर्ड सारी समस्याओं को हल करवा देता है। लेकिन उनसे मजा लेने के लिए कुछ नई फालतू डिग्रीयां उनके साइनबोर्ड में जुड़वा जाता है। अब इस पर डाक्टर उनको आशीर्वाद के साथ गालियां दे देकर याद किया करते हैं-''डाक्टर के साइनबोर्ड में एच. एम. डी. (कलकत्ता), बी. एम. डी. (कोयम्बत्तूर), और एच. एम. बी. (कैलिफोर्निया) के अतिरिक्त डी. बी. पी. और डी. एम. ए. की नई डिग्रीयां भी मौजूद थीं। डाक्टर पहले तो इन दो नई डिग्रीयों के जुड़ने से प्रसन्न हुए, पर बाद में डी. बी. पी. के अर्थ 'डाक्टर बमपुलिस' और डी. एम. ए. के अर्थ 'डाक्टर आफ मुहल्ला अनाथालय' मुहल्ले वालों से सुनकर वे अब वालिद को आशीर्वाद के साथ-साथ गालियां भी दिया करते हैं।''[2]

अमृतलाल नागर की कहानियों में ही नहीं उनके उपन्यासों में भी यह हास्य रस सर्वत्र दिखाई पड़ता है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठकों को स्थितियों और व्यक्तियों के वैचित्र्य को दिखाकर हंसाना प्रमुख माना है। सहज

मस्ती भरे मन से ऐसे पात्रों पर लिखना और पाठकों को हास्य रस का आनंद कराना इनका ध्येय रहा। इन कहानियों में विडंबनात्मक जीवन स्थितियों का भरपूर चित्रण भी मिलता है। व्यंग्य के साथ लेखक की पात्र के प्रति करुणा का भाव अदृश्य रहता है। नागर जी की हास्य व्यंग्यपूर्ण रचनाओं के संबंध में डॉ विश्वनाथ त्रिपाठी ने नागर जी के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है-''नागर जी अपने ढंग के अकेले व्यंग्यकार हैं। समकालीन व्यंग्य की विशेषताएं-विसंगति और विषमता से क्षुब्ध होकर चोट करना इनमें नहीं मिलता। न ही यह इनका उद्देश्य है। नागर जी बहुत ही हल्के ढंग से परिहास करते हुए चुटकी काटते हैं जिसके पीछे सदाशयता, सहानुभूति का भाव रहता है। अपने व्यंग्य के विषय में ये लिखते हैं, ''मैंने आज की शैली के अनुसार विशुद्ध व्यंग्य नहीं लिखा। सहज मस्ती भरा मन पाया। जब जैसी मौज आई वैसी ही रंग-तरंगों में स्वयं बहकर अपने पाठकों को भी बहाता रहा।'' ('चकल्लस' की भूमिका)। कस्बाई जीवन के चित्र, वहां की विविधतापूर्ण संस्कृति, भाषा-बोली सहज रूप में नागर जी के व्यंग्य के कथा-साहित्य में भी मिलती है।''[3]

नागर जी ने अपनी कहानियों में लखनऊ की तहजीब को भी सामने लाने की कोशिश की है। आजादी से पहले के लखनऊ को नागर जी ने अपने बालपन और आगे भी बड़े करीब से देखा है। उसके अनोखेपन को अपनी कहानियों और

उपन्यासों में भी करीब-करीब वैसा ही दिखाने की कोशिश की है, जैसा उन्होंने उसे देखा था। लोगों के आपसी संबंध, भाषा का खास लहजा, चहल-पहल, शेखी बघारने का शगल, आपसी चालबाजियां सबको जीवंत रूप में अनेक कहानियों में नागर जी ने चित्रित किया है। लखनऊ की भाषा-बोली और शेखी बघारने वाले पात्रों पर अनेक कहानियाँ नागर जी ने लिखी हैं। 'नजीर मियां', 'मुंशी घिर्राऊलाल', 'हमारे पड़ोसी मुंशी बख्तावरमल', 'नवाब साहब' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं।

'हमारे पड़ोसी मुंशी बख्तावरमल' कहानी में मुंशी बख्तावरमल को झूठ बोलने की दुर्निवार आदत है। वे सबसे बिना संकोच के झूठ बोलते हैं। अपने को महान सिद्ध करने और लगातार हास्यास्पद बने रहने का उन्हें चस्का लगा हुआ है। उन्हें मुंह से उर्दू और फारसी बराबर झरती रहती है। अवध के नवाब वाजिदअली शाह से वे अपनी नजदीकी बताते हैं। गांधी जी के स्वराज आंदोलन की खिल्ली उड़ाते हैं। और कहते हैं कि वे जब चाहें तब चुटकी बजाते ही 'सौराज' दिला दें। एक नंबर के चापलूस और डरपोक किस्म के शेखीबाज मुंशी बख्तावरमल इस कहानी के नायक और विदूषक सब हैं। एक बार वे पुलिस वालों के चंगुल में अपनी शेखी के चलते फंस गए। वहां से हाथ जोड़ और पैर पकड़कर ही निकल पाए। ''मोटर लॉरी जब कोतवाली में पहुंची और सिपाही इन्हें हवालात की

तरफ ले जाने लगे तब तो आप बहुत घबराए, लगे रो-रोकर दारोगा जी के पैर पकड़ने। रोके फरमाते हैं, ''ऐ हुजूर, मैं तो सरकार का पुराना खैरख्वाह हूं।'' दारोगा साहब मुस्कराकर बोले, ''अजी वाह, कैसी बात करते हैं आप ? आप तो नवाब वाजिदअली शाह साहब के खास दाहिने हाथ थे, आपके जरा तेवर बदल देने से ही गदर मच गया था और साहब आपने तो कई बार सौराज दिलाया है...।'' मुंशीजी ज़ार-ज़ार रोने लगे, कहा, ''हुजूर बुढ़ापा बिगड़ जाएगा। यह सारी इज़्ज़त खाक में मिल जाएगी।''[4] इन कहानियों को केवल हास्य की श्रेणी में ही रखा जा सकता है। लेकिन महत्त्व इस तरह से देखने में आता है कि आजादी से पहले के लखनऊ को उसके खास अंदाज में दिखाने की कोशिश इन कहानियों में अवश्य मिल जाती है। माहौल की जीवंतता को इन कहानियों में महसूस किया जा सकता है। शहरीकरण और वर्तमान भूमंडलीकरण ने पात्रों की इस श्रेणी को लगभग खत्म कर दिया है। मुंशी बख्तावरमल की बेवकूफी, शेखीबाजी और बात-बात में खुद को नवाब वाजिदअली शाह से जोड़ने की बात करने वाले पात्र तत्कालीन लखनऊ की विशेषता हुआ करती होगी। जिसे इन कहानियों में फिर से याद किया जा सकता है।

नागर जी की कहानी कहने की शैली में दास्तानगोई वाला पुट भी देखने को मिलता है। वे अपने पाठकों से ऐसे पात्रों का परिचय किस्सा अथवा दास्तान

सुनाने की शैली में करवाते हैं। ऐसा शिल्प कमोबेश हर कहानी में मिलता है। ऐसा ही एक किस्सा 'नवाब साहब' का है। वे हैं तो लखनवी जो तस्लीम लखनवी से मिलकर अपने फटी चादर को शेखी के पैबंद से ढंकते हैं। तस्लीम लखनवी अमृतलाल नागर जी का ही नाम था। इस किस्से में लखनऊ के पुराने दिनों की दोनों लोग बात करते हैं। भेंट लखनऊ से बाहर कलकत्ते में होती है। कहानी का अंत बेहद मार्मिक है। नागर जी की कई कहानियों में शेखी बघारने वाले पात्र आते हैं। कहानीकार और व्यक्ति अमृतलाल नागर इस मानसिक स्थिति के मनोवैज्ञानिक सच को जानते हैं। यह शेखी किसी अभाव से पैदा हो रही है। वह अभाव वर्तमान की आर्थिक स्थिति में भी छिपा होता है। लेकिन भूतकाल की वास्तविक अथवा अवास्तविक संपन्नता से ऐसे पात्र उसे भरने की हास्यास्पद असफल कोशिश करते हैं। नागर जी निर्मम होकर उसे चित्रित करते हैं। पात्रों को प्रायः उनकी हास्यास्पद स्थिति में दिखाते हैं। कई बार उसका मजा भी लेते हैं। तो कई बार पाठक को उस मनोवैज्ञानिक मर्म तक पहुंचाकर रुक जाते हैं जहां से यह शेखी बघारने का भाव उपज रहा था। यह सचाई अंत में करुणास्पद होकर सामने आती है। प्रथम दृष्ट्या जो हास्यास्पद लग रहा था उसके पीछे का सच कैसा है, इसे नागर जी ने 'नवाब साहब' कहानी में दिखाया है।

उनकी जिंदगी यशपाल की कहानी ‘परदा’ की याद दिलाती है। बाहर से कुछ और भीतर से बिलकुल जर्जर। यही हाल नवाब साहब का है। वे अपने घर को अपने किसी अजीज का घर बताते हुए वाचक को लेकर चलने का बड़े संकोच के साथ आग्रह करते हैं। यह आग्रह भी बारिश की स्थिति से उपजी मजबूरी में सामने आया। लेकिन घर पर पहुँचते ही जिन बच्छन का नाम लिया उन्हीं ने ‘अब्बाजान’ कहकर भीतर से उनको पुकार लिया। नवाब साहब की सारी नवाबी धरी रह गई। घर में तीन-तीन दिन के फाके हो रहे हैं और वे अपने पुराने कल्पित संपन्न दिनों की याद करते हैं और वर्तमान को भी धोखे में रखने की पुरजोर कोशिश करते हैं। कहानी का अंत इस प्रकार है-‘‘यह कहते हुए नवाब साहब आगे बढ़े, मैं भी उनके पीछे ही चला। दो-तीन सीढ़ी घूमकर एक कमरे के दरवाजे पर खड़े हो नवाब साहब ने आवाज लगाई, ‘‘अमां बच्छन हैं ?’’ अंदर से एक लड़के ने जवाब दिया, ‘‘जी आ रहा हूं अब्बाजान।’’ निहायत गुस्से में नाक-भौं सिकोड़कर नवाब साहब ने अपनी छड़ी दरवाजे पर ठोंककर कहा, ‘‘लाहौलबिलाकूवत् ? अबे चुप।’’ बच्छन ने दरवाजा खोलते हुए नवाब साहब से कहा, ‘‘ऐ अब्बा, आज जरा चुपके से रहिएगा, अम्मीजान आज बड़ी खफा हो रही हैं।’’ मैं नवाब साहब के पीछे खड़ा था, इसलिए पहली झलक में बच्छन शायद मुझे देख न पाया। नवाब बच्छन साहब छः पैबंदों से जुड़ा हुआ मैला

पाजामा पहने हुए, नंगे बदन, गले और बांहों में आठ-दस गंडे-तावीज़ बांधे खड़े थे।''[5] यह स्थिति उनके छिपाए भी नहीं छिपी। जब यह बाहर आई तो उनकी पुराने दिनों की बड़ी बड़ी बातें टकराकर इसे और भी विसंगतिपूर्ण बना देती है।

नागर जी ने इन कहानियों में हिन्दू-मुसलमान की साझा संस्कृति को भी प्रस्तुत किया है। यह खास हिंदुस्तानी तहजीब थी। जिसे अब तोड़ा और भुलाया जा रहा है। वर्तमान संदर्भ में ये कहानियाँ सांप्रदायिक शक्तियों और विचार का विरोध करती हैं। इन कहानियों में हिंदू और मुसलमान एक संस्कृति के हिस्सा बनकर आते हैं। जिसे वर्तमान की कहानियों में देखना सुखद आश्चर्य लगता है। प्रेमचंद के बाद यशपाल और भीष्म साहनी के यहां ही मुस्लिम पात्र कहानियों में आते हैं। इस संदर्भ में अमृतलाल नागर का नाम अक्सर ही छोड़ दिया जाता है। नागर जी के यहां मुसलमान पात्र बड़ी संख्या में आते हैं। हिंदी कथा साहित्य में हिंदू कथाकारों में प्रेमचंद के बाद संभवतः अमृतलाल नागर ने ही मुस्लिम जीवन को व्यापक रूप में अपनी रचनाओं का आधर बनाया है। इसमें यह भी जोड़ना जरूरी है कि नागर जी का यह प्रयास अनायास अथवा प्रयाससिद्ध न होकर सहज लगता है। इसमें काम आती है वह भाषा जो इस जीवन को उसी भाषा-बोली और वातावरण में सामने लाने का काम करती है।

हिंदी और उर्दू के मेल से बनी हिंदुस्तानी भाषा को इन कहानियों में सहज रूप से देखा जा सकता है। उर्दू के फसानों को लगातार पढ़ने और एक अफीमची किस्सागो को बहुत दिनों तक सुनने का अवसर नागर जी को मिला था। इससे उनकी भाषा और कहन पर किस्सागोई और उर्दू का अच्छा असर देखने को मिलता है। श्रीलाल शुक्ल ने नागर जी की कथा शैली पर विचार करते हुए लिखा है-‘‘1936-37 में एक अफीमची किस्सागो नागर जी के पास हफ्ते में दो बार आते थे। उनके मुंह से जीवंत शैली में अनेक प्रचलित किस्से ही नहीं, उर्दू के कई पुराने क्लासिक भी नागर जी ने सुने। ‘फिसान-ए-आज़ाद’ ही नहीं, ‘अलिफ लैला की कहानियाँ’, ‘तिलिस्मे होशरूबा’, ‘सैरे कोहसार’ आदि भी उन्होंने सुनीं। ऐसा नहीं हुआ कि नागर जी ने इन कथाओं की शैली और मुहावरे यथावत् ग्रहण कर लिये हों, पर उन्होंने इनके शिल्प के उस तत्व को बड़े विवके के साथ ग्रहण किया जो किस्सागो को श्रोता से और एक अच्छे लेखक को पाठक से जोड़ता है।’’6 नागर जी की शैली और पाठक से जुड़ने की उनकी तरकीब यहां सामने आती है।

नागर जी ने स्त्री जीवन को भी केंद्र में रखकर कहानियाँ लिखीं। जिनमें ‘शकीला की मां’ काफी चर्चित रही। वेश्या जीवन की उत्तर अवस्था को आधर बनाकर यह कहानी बुनी गई है। लेखक की यह प्रारंभिक कहानी बेहद यथार्थवादी और

मार्मिक है। वह किस तरह अपने को संभावित ग्राहक के सामने दयनीय याचक के रूप में पाती है इसे नागर जी ने बखूबी दिखाया है। उन्होंने अनेक विषयों को अपनी कहानियों का आधर बनाया। इसमें कई बार बिलकुल सामयिक और चर्चित विषय भी होते थे। ऐसे विषयों पर लिखते हुए कहानी की अपेक्षा रपट जैसा आस्वाद ये 'कहानियाँ' देने लगती हैं।

संदर्भ :-

1. अमृतलाल नागर रचनावली खंड 7, संपादन डॉ. शरद नागर, राजपाल एंड संज, संस्करण 1992, पृ. सं. 195

2. वही, पृ. सं. 301

3. डॉ विश्वनाथ त्रिपाठी, आलोचक का सामाजिक दायित्व, साहित्य भंडार, प्रथम संस्करण 2016, पृ. सं. 41

4. अमृतलाल नागर रचनावली खंड 7, संपादन डॉ. शरद नागर, राजपाल एंड संस, संस्करण 1992, पृ. सं. 78

5. वही, पृ. सं. 94

6. श्रीलाल शुक्ल, भारतीय साहित्य के निर्माता अमृतलाल नागर, साहित्य अकादेमी, संस्करण 1994, पृ. सं. 7

एक बेरोजगार युवक से परसाई की मुलाकात

हरिशंकर परसाई की एक कहानी है 'एक घण्टे का साथ' कहानी क्या है एक मुलाकात है, एक बेरोजगार क्षुब्ध युवक से। जो इतना विद्वान है कि सुकरात भी हो सकता था। लेकिन स्थितियों ने उसे सिरफिरा बना दिया है। ऐसा सिरफिरा कि पागल भी उस पर हंसते हैं। उसके जीने के ढंग में और समाज की स्थिति में एक असंगति आ गई है। यहां असंगति इसे सिरफिरा बना रही है। क्षुब्ध होना मानो उसके व्यक्तित्व का स्थायी भाव हो गया है।

वह अकेला और भूखा है। अयोग्य नहीं, बेरोजगार है। योग्यता और श्रम का वास्तविक मूल्य और महत्त्व उसे नहीं मिल पाया। इसे मार्क्सवादी शब्दावली में 'एलियनेशन' भी कहा जा सकता है। परायापन इसे ही कहते हैं। एलियनेट तो वह है ही घर-परिवार मित्रों से संबंधहीनता वाली स्थिति में वह निरूपाय, क्षुब्ध, आत्महत्या के रास्ते पर चला जा रहा है। स्थितियां और उसके अनुभव इतने

कड़वे रिक्त हैं कि वह उसके व्यवहार का एक हिस्सा बन चुके हैं। वह सहज ही क्षुब्ध होता है।

वह काइयां नहीं है। कोई उसके साथ अच्छा व्यवहार करे तो वह भी अपना 'सहज' व्यवहार करता है। उसका सहज व्यवहार कड़वे शब्दों, क्षुब्ध मनःस्थिति के रूप में सामने आता है। असंगति उसने हर जगह पायी इसलिए उसके बोलचाल में भी यह आ गई है। हर क्षण उसका क्षुब्ध होना असंगति ही है। जोकि स्थितियों के कारण मन में उगी है। इसे हटाने दूर करने लायक अनुभव उसके पास नहीं है। उसे हर अनुभव अब बेस्वाद ही लगता है। जिसे चाहकर भी यह मूलरूप में नहीं ले पा रहा है। चाहकर इसलिए कि वह अपनी इस मनःस्थिति को बदलने की चेष्टा जरूर कर रहा है। परसाई लिखते हैं- 'क्षण-क्षण में जिसके भीतर वेदना, प्रेम, प्रतिहिंसा, ईर्ष्या, करुणा और क्रोध के भाव बिजली की तरह कौंध जाते हैं, उसकी किस बात को मानूं? इस भाव-अनेकता के बाद भी एक भाव सर्वोपरि बना बैठा है उसके मन में, वह है क्षोभ का। फैज ने लिखा था क्यों मेरा दिलशाद नहीं है, क्यों मैं खामोश रहा करता हूँ। यह युवक भी सर्वथा नाखुश बना रहता है। खामोश और भीतर से खौलता हुआ। हर किसी को अपनी परेशान स्थिति का कारण मानता हुआ। मानता ही नहीं ठहराता हुआ।

परसाई ने मुक्तिबोध पर एक संस्मरण लिखा है। प्रेमचंद को अपना पुरखा कहा है। मुक्तिबोध ने लिखा है 'हर आत्मा में महाकाव्य पीड़ा है। परसाई इस युवक की अदृश्य महाकाव्य पीड़ा को पाठकों के सामने प्रकट करने का प्रयास करते हैं। प्रेमचंद की कहानी 'कफन' के पात्र घीसू-माधव के व्यवहार की अमानवीयता असंगति से भी इस युवक का व्यवहार जुड़ता है। श्रम का अवमूल्यन तो इसका भी हुआ ही है। लेकिन सीमित संदर्भ में ही यह समानता है। अमरकांत की कहानी 'हत्यारे' याद आती है। जो स्वयं व्यवस्था द्वारा काटे गए हैं, पागल कुत्तों की तरह, वे अब दूसरों को काट रहे हैं। जो पाया सो देते हुए। इस स्थिति पर करुणामयी तो हुआ जा सकता है लेकिन इसका बचाव नहीं किया जा सकता। 'दुखों के दागों को तमगों सा पहना' वाली स्थिति यहां देखने को मिलती है। अगर ऐसा नहीं होता तो निस्संगता और आत्महत्या की बात मन में न उठती

इतना होने पर भी परसाई उस युवक की स्थिति का मनोविज्ञान समझते हैं। इसके पीछे छिपे आर्थिक कारणों को पहचानते हैं। क्रांति कहना जितना आसान है करना उतना ही दुष्कर। अकेला होना नियति-सा भी हो जाता है कई बार मीठे और तिक्त का विवेक भी ऐसे में चला जाता है।

सहज असहज, अच्छे बुरे का अंतर भी धुंधला हो जाता है। फिर किसी व्यवहार में तर्क ढूंढ़ना अन्याय ही होगा। समाज उसके तर्क से परे जा चुका है। वह भी समाज के लिए तर्कातीत हो चुका है- ‘अब उसकी बात पर लोग हंसते हैं। वह मनोरंजन का साधन भी बन जाता है।’ उसमें और समाज के सोचने में एक अंतर आ चुका है। इसीलिए अब उसे हर बात से, हर किसी से, हर व्यवहार से शिकायत है। परसाई ने लिखा है- ‘अब वह विचित्र हो गया है। पर कितने लोग जानते हैं कि अपने आपको खोकर उसने यह वैचित्र्य अर्जित किया है। अब उसे हर आदमी से शिकायत है। उसे लगता है कि हर आदमी उसका दुश्मन है। उसकी आस्था टूट रही है। कोई हंसता है, तो वह सोचता है, यह मेरा उपहास कर रहा है। गम्भीर रहता है, तो यह कि मुझे देखकर मुंह फुला लेता है। कोई नमस्कार करता है. तो सोचता है, व्यंग्य करता है। बिना नमस्कार किये निकल जाता है, तो यह कि घमंड पीटता है। कोई उसे नाश्ता कराता है तो सोचता है कि वह अपनी सम्पन्नता का ढोल पीटता है। नाश्ता नहीं कराता है, तो यह कि घोर स्वार्थी है। प्रेम प्रगट करने पर चिढ़ता है, सहानुभूति पर खीझ उठता है। ‘मतलब यह कि उसके हर व्यवहार में प्रतिक्रिया और क्षोभ आ गए हैं।

परसाई यहां झुंझलाहट को करुणा में परिवर्तित करने का काम करते हैं। उसके और आत्महत्या की बात मन में न उठती। व्यवहार में झुंझलाहट को पैदा

करने के पर्याप्त तत्त्व हैं लेकिन परसाई प्रेमचंद की ही नहीं भवभूति की परंपरा के लेखक हैं, इसलिए पाठक उस बेरोजगार क्षुब्ध युवक के प्रति करुणा महसूस करते हैं।

शिवमूर्ति की कहानियाँ : ग्रामीण जीवन में यातना के रूप

ग्रामीण जीवन के विडंबनात्मक पक्ष को सामने लाने का काम शिवमूर्ति की कहानियाँ करती हैं। विडंबना अकसर वहाँ घटित होती है जहाँ दो अनिवार्य सी दिखने वाली स्थितियों का टकराव प्रस्तुत हो। शिवमूर्ति मानो कहानी रचने से पूर्व जीवन की इन्हीं विडंबनाओं की तलाश करते हैं। ये तलाश और उसकी

प्रस्तुति कमोबेश शिवमूर्ति की हर कहानी में मिलती है। ये विडंबनाएँ इतनी दुर्निवार-सी लगती हैं जैसे इनसे बच निकलना किसी के लिए मुमकिन ही न हो। ऐसी जीवन स्थिति की रचना शिवमूर्ति करते हैं जिसमें यातना की निर्विकल्प स्थिति होती है । उस एक यातना - विशेष का अन्त विडंबना में वे करते हैं । इस तरह यातना और विडम्बना दोनों दुखात्मक पक्षों से उसकी कहानियाँ रची जाती हैं। आशा की हल्की-सी किरण 'अकाल दण्ड' कहानी में मिलती है। सुरजी सेक्रेटरी बाबू को उसका दण्ड देती है। यहाँ एक बार अमानवीयता और क्रूरता हारती-सी लगती है। विडंबना फिर भी यहाँ बराबर मौजूद है। जिस यौन शोषण के लिए सेक्रेटरी जाना जाता है, सुरजी कहानी के अन्त में सेक्रेटरी को उस अत्याचार के लिए सर्वथा अयोग्य कर देती है। विडंबना यही है। अब तक सेक्रेटरी का जीवन और उसकी कैसी सटीक लेकिन क्रूर सजा सुरजी उसको देती है। यह सेक्रेटरी के जीवन की विडंबना कही जा सकती है।

शिवमूर्ति ग्रामीण समाज में स्त्री जीवन की कथा-व्यथा के रचनाकार हैं । 'कसाईबाड़ा' 'शनिचरी', 'अकाल दण्ड' की 'सुरजी', 'तिरिया चरित्तर' की विमली', 'केशर कस्तूरी' की 'केशर', 'ख्वाजा ओ मेरे पीर' की 'मामी' और 'सिरी उपमा जोग' की 'कमला की माँ' सभी की जीवन-स्थितियों में आने वाली त्रासद स्थितियों को इन कहानियों में दिखाया बताया गया है। इन कहानियों का

देश ‘गाँव’ है। और काल आठवाँ नौवाँ दशक का भारतीय समाज है। ‘कसाईबाड़ा’ में गाँव के प्रधान ने कुछ लड़कियों का सामूहिक विवाह गाँव से बाहर करवा कर उन्हें देह व्यापार में धकेल दिया है । शनिचारी अपनी बेटी को वापस पाने के लिए प्रधान के दरवाहे पर अनशन करती है। गाँव का नया लीडर उसे बढ़ावा और आश्वासन देता है। इसके एवज में वह शनिचरी की थोड़ी-बहुत बची हुई ज़मीन भी धोखे अपने नाम करवा लेता है। गाँव का ही पगलेट ‘अधरंगी’ शनिचरी का साथ देता है। अधरंगी वास्तविकता को जानता है। साहसी सर्कमक और निडर है। लेकिन पागल है। वह प्रधान और लीडर दोनों का भेद जानता है। शनिचारी लीडर के बहकावे में आ जाती है। बहकावे में आकर ही वह अपनी जमीन से हाथ धो बैठती है। बहकावे में आकर ही शनिचरी प्रधान से जहर मिला दूध पी जाती है। शनिचारी धोखे और बहकावे में मारी जाती है। सारा गाँव भयभीत-अकर्मक बना रहता है।

मनुष्य-निर्मित अथवा प्रकृति प्रदत्त आपदाएँ सबसे ज्यादा असर सबसे कमजोर पर छोड़ती हैं। इन स्थितियों का लाभ लेने वाले लोगों की कमी नहीं है। यह लाभ विविध रूपों में होता है। ‘अकाल दण्ड’ कहानी में अकाल पड़ा है। लगातार तीसरा सावन भी सूखा बीत गया। पानी अन्न- चारा कुछ भी नहीं है। सहायता अनियमित और अपर्याप्त मिलती है। सहायता बाँटने वाले ऐसे में राजा

होते हैं। जो जितना अमानवीय होता है वह उतना अधिक लाभ में रहता है। 'सैक्रेटरी बाबू' निहायत लम्पट है। सुरजी का पति परदेस में है। वह निर्धन और निरन्न हैं। घर में बूढ़ी-अंधी सास हैं। सेक्रेटरी की निगाह सुरजी पर है। कैसे भी छल-बल से उसे पाना चाहता है। सुरजी सबल और पतिव्रता है। सेक्रेटरी बाबू दो बार उस पर हमला करते हैं। अपनी दुर्गति कराते हैं। तीसरी बार में सुरजी सेक्रेटरी बाबू को पुरुषत्व-विहीन कर देती है। कहानी प्रतिकार के भाव पर आकर खत्म होती है। लेकिन यह प्रतिकार सुरजी ही कर सकती है। वहीं रंगी बाबू अन्याय देखकर भी अकर्मक- निश्चेष्ट बने रहते हैं। प्रतिकार निर्लोभी व्यक्ति का गुण है। लोभी रंगी बाबू का नहीं। "रंगी बाबू को लगता है कि चावल और गेहूँ के बोरे उन्हें लगातार गूँगा बनाते जा रहे हैं। गूँगा और बहरा दोनों।" (केशर, कस्तूरी, शिवमूर्ति, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 2007, पृ. 54)

"तिरिया चरित्तर' शिवमूर्ति की काफी चर्चित और विवादास्पद कहानी रही है। विमली के जीवन के दो हिस्से इसमें दिखते हैं। पहली वाली विमली जितनी व्यावहारिक, सचेत, पराक्रमी, कुशल, वाग्मी और चतुर है, बाद वाली उतनी ही अकुशल और किंचित कमजोर भी बन जाती है। विमली के पिता के दोनों हाथ दीवार के नीचे आने से बेकार हो चुके हैं। बड़ा भाई पत्नी को लेकर अलग रहता है। विमली बूढ़े माँ-बाप का सहारा बनने का प्रण करती है। वह ईंटों

के भट्टों पर ढूवाई का काम करती है। कभी-कभार 'डरेवर बाबू' के लिए मुर्गा तैयार कर देती है। जितना काम उतना पैसा। इससे घर चलता है। कहीं काम करने वाला बिल्लर उसे छेड़ता है। शादी करना चाहता है। विमली के घर बिल्लर की बहन रिश्ता लेकर जाती है। विमली की शादी बचपन में हो चुकी है। गौना अभी नहीं हुआ। पति कलकत्ता में रहता है। उसका नाम जानकर विमली ने हथेली पर गुदवा रखा है 'सियाराम'। इस अनदेखे पति के चलते विमली बिल्लर का रिश्ता नामंजूर कर देती है। विमली का ससुर विसराम जल्दी गौना करना चाहता है। बेटा अभी परदेस में है। तब भी वह बहू को घर ले आता है। बड़ी धूमधाम और खर्चे से। विमली का पति कहानी के अन्त तक नहीं लौटता है। यह बात चौंकाती हैं। अव्यावहारिक और अनकंविंसिंग भी लगती है। कहानी में विमली के साथ बाद में घटित होने वाली यातना को और अधिक निर्विकल्प क्रूर बनाने के लिए शिवमूर्ति ऐसा करते हैं। ससुर विमली को चरित्रभ्रष्ट समझता है। वह छल-बल से उसका बलात्कार भी करता है। प्रसाद में अफीम खिलाकर विमली के साथ दुषकृत्य करता है। विडंबना यह है कि गाँव की पंचायत में वह सिरे से झूठी कहानी सुनाकर विमली को 'डरेवर' के साथ रास रचाने वाली सिद्ध करता है। इसकी सजा भी ससुर द्वारा पतोहू विमली के माथे पर गर्म कलछुल से दाग कर दिया जाता है। यानी अपराधी ही न्यायाधीश बन बैठा है। यातना की दुर्दमनीयता

और विडम्बना के मेल से 'तिरिया चरित्तर' कहानी रची जाती है। पुरुष समाज की रूढ़ धरणा जो स्त्री के प्रति आदि-अनादि काल से चली आई है। उसके निहितार्थ को कहानी खोलती है।

'भरत नाट्यम' थोड़ी जटिल भावबोध की कहानी है। इस कहानी का अन्त अव्याख्येय तो नहीं किंचित अतार्किक लगता है। कष्ट का हद से गुजर जाना ही उसे तर्क से परे बनाता है। बेरोजगारी और आदर्शों के टूटने को भी कहानी में पिरो दिया गया है। यहाँ नारी दुख के साथ पुरुष दुख भी मिला हुआ है। वाचक 'मैं' पुरुष है। वह पति भी है। बेरोजगार, अपमानित और तीन-तीन लड़कियों का पिता भी है। समाज परिवार, माँ-बाप और पत्नी को उससे बेटा चाहिए। सब उसे असमर्थ नकारा समझते हैं। सम्भवतः पत्नी भी। पत्नी चोरी छिपे उसे खाने के बाद दूध का गिलास देती है। "उसके अनुसार यदि पति तगड़ा है तो लड़का होगा, पत्नी तगड़ी है तो लड़की। इसे वह भाई साहब का उदाहरण देकर बखूबी सिद्ध कर देती है। मुझे चोरी से दूध पिलाने का उद्देश्य भी यही है कि अधिक स्वस्थ होकर मैं एक बेटा दे सकूँ।" (वही, पृ. 88) पत्नी में पुत्र पाने की ग्रंथि अनायास नहीं है। ग्रामीण क्या शहरी आधुनिक कहे जाने वाले समाज में भी सामाजिक पदानुक्रम में बेटों वाली माँ को बेटियों वाली माँ से ज़्यादा सम्मान का हकदार माना-समझा जाता है। शायद इसी ग्रंथि के चलते पत्नी उसके

बड़े भाई से सम्बन्ध बनाती है। "कई दिनों बाद पत्नी ने स्वीकार किया, "उनकी कोई गलती नहीं है। मैं ही उनका हाथ पकड़कर मँडहे में लिवा लाई थी, बेटा पाने के लिए।" बेटे की इस चाह के चलते पत्नी खलील दर्जी के साथ भाग जाती है। "तेरी मेहरारू तो भाग गई कलकत्ता, खलील दर्जी के साथ।" वाचक 'मैं' पत्नी के दुख को संवेदनशील होकर समझता है।, "मैं माचे पर लेट जाता हूँ... चली गई, चलो जहाँ भी रहे, सुखी रहे... पता मालूम होता है... लिखता कि बेटे होने पर ख़बर करे।" यह दुखकी अतार्किकता और अभूतपूर्व यौन नैतिकता है। पत्नी के भाग जाने के बाद भी उसके लिए मन मलिन, क्रुद्ध नहीं है। यह तर्कहीनता वाचक के तर्कहीन आचरण में जाकर पर्यवसित होती है। कहानी के अन्त में- "मैं माचे से उतरकर खरबूजे के खेत की तरफ चल पड़ता हूँ.... ऐं ! पैर लड़खड़ा क्यों रहे हैं?.. शरीर इतना हल्का-हल्का-सा क्यों लग रहा है? विचार अस्त-व्यस्त क्यों हैं? आदमी में पागलपन की शुरुआत कैसे होती होगी? मेरे कपड़े क्या हुए? मैं नंगा कैसे हो गया?

मैं खेतों के बीचों बीच खड़ा हूँ। कुछ गाने का दिल कर रहा है "इस भरी दुनिया में कोई भी... बेटियाँ तीन हैं, बेटे का सहारा न हुआ... न... न...न...! सिर्फ गाने से काम नहीं चलने का। और मैं भरत नाट्यम शुरू कर देता हूँ।" (वही, पृ. 92)

यह भरत नाट्यम करना, अपने कपड़े खोल देना, अवश होना है। दुख में पत्नी और अपनी यातना का भार वह अकेले उठा रहा है। शायद इसीलिए 'पैर 'लड़खड़ा' रहे हैं। 'विचार अस्त-व्यस्त' हो रहे हैं। पागलपन की शुरुआत का संकेत उसे मिल रहा है। शिवमूर्ति ने अपनी हर कहानी की तरह इसमें भी स्त्री दुख को व्यंजित किया है। लेकिन यहाँ उसका वाहक पुरुष हैं उस स्त्री का पति जैसे क्रौंच वध में नर-क्रौंच के दुख का वाहक रचयिता है वैसे ही यहाँ वाचक 'मैं' इस दुख का वाहक और भोक्ता है। कथाकार संजीव इस कहानी में शिवमूर्ति के अपने जीवन के अनुभव डालने का संकेत करते हुए लिखते हैं- "दो-दो बेटियाँ हो चली थीं, बेटा एक भी नहीं। पिता अन्दर ही अन्दर ठाने रहते। "भरत नाट्यम' एक तरह से उन दिनों की छाया-सी है, जिसमें पिता जियावन दर्जी, पत्नी, माँ, गाँव के लोग (सम्भवतः मामा भी बड़े भाई के रूप में), बेकारी के दिन, कथात्मक मुखौटा लगा-लगाकर स्लो मोशन में आते जाते हैं।" (संजीव का लेख, मंच पत्रिका का शिवमूर्ति पर केंद्रित विशेषांक, जनवरी-मार्च 2011, पृ. 129)

शिवमूर्ति की कहानियों का घटना स्थल गाँव है। ऐसा गाँव जिसका कोई नाम नहीं है। मगर पात्रों की भाषा-बोली से उसका भूगोल पहचाना जा सकता है। उत्तर भारत का कोई गाँव खासकर पूर्वी उत्तर प्रदेश के आसपास का क्षेत्र। ग्रामीण जीवन, लोकगीत, गाँव वालों का आपसी व्यवहार, मेले-ठेले, खेत,

गाय-भैंस, फूस के घर, जातियों में बंटा समाज, उच्च वर्ग-वर्ण द्वारा निम्न वर्ग-वर्ण का शोषण और रचनाकार द्वारा स्थितियों, पात्रों, घटनाओं के सूक्ष्म डिटेल्स आदि इन कहानियों के भूगोल का आभास कराती हैं।

शिवमूर्ति की कहानियाँ यातनाधर्मी कहानियाँ हैं। यातना के किसी न किसी रूप से इनकी रचना हुई है। स्त्री-जीवन की यातना उसके विभिन्न रूपों को कमोबेश सभी कहानियाँ प्रकट करती हैं। शिवमूर्ति परिवेश रचने में डिटेल्स की, ग्रामीण शब्दों, वस्तुओं के नामों, लोगों के क्रियाकलापों की मदद लेते हैं। वह किसी पात्र का खाका खींचने में भी डिटेल्स का उपयोग भरपूर करते हैं। 'अकाल दण्ड' कहानी में सुरजी की सास का वर्णन-चित्रण है-"तार-तार मैली चीकट धोती में मक्खिओं में घिरी बुढ़िया किसी प्रेत-योनि की अवतार लगती है। अशक्त चुचके लटकते चमड़े वाले हाथ-पाँव, लता जैसी लटकी सूखी छातियाँ। बदरंग बिखरे सन हुए बाल । पकी बरौनियों के अन्दर से झाँकती दो बुझी आँखें। जैसे नुचे पंखों वाली बूढ़ी मरियल मुर्गी।" (केशर कस्तूरी, पृ. 28)

शिवमूर्ति की प्रायः सभी कहानियों के परिवेश की आंतरिकता लगभग समान है। 'अकाल- दण्ड' में थोड़ी भिन्नता है। वहाँ सूखा पड़ता है। मनुष्य-प्रकृति और पशु सभी निरन्न-निर्जल हैं। 'तिरिया चरित्तर' में गाँव, नदी, ईंटों का भट्टा, शिवाला, पंचायत आदि स्थान स्थितियाँ भी और कहानियों से किंचित

भिन्न हैं। अगर इन स्थितियों को थोड़ा अलग रखकर देखें तो लगता है कि सभी कहानियों का रंगमंच कोई एक गाँव-विशेष है। केशर कस्तूरी में केशर अपनी बूढ़ी अन्धी सास के साथ घोर अभावपूर्ण जीवन जी रही है। पति भट्ठे पर काम करने जाता है, वहीं पर रहने भी लगा है, सप्ताह में एक दिन घर चला आता है। खेती-बाड़ी का काम केशर सम्भालती है। रात-रात भर बैठकर सिलाई का काम करती है। सास बीमार और अशक्त है। केशर का पति भी मेहनत का काम नहीं कर सकता है। चंडीगढ़ में मकान की पुताई का काम करते हुए वह सीढ़ी से गिर चुका है। रीढ़ की हड्डी में चोट लगने के चलते महीने भर चारपाई पर पड़ा रहा। वह हाई स्कूल पास है। उस दर्जे की भी उसे कोई नौकरी नहीं मिल पाती है। केशर के मौसा बड़े अधिकारी होते हुए उसे लाख आश्वासनों के बाद भी नौकरी नहीं दिला पाए। यह निरुपायता केशर की यातना को और बढ़ाती है। और फिर अन्त में दुख को सहते जाने का प्रण - "दुख तो काटने से ही कटेगा। बप्पा "केशर चूल्हे की आग तेज करते हुए बोली- ‘‘भागने से तो और पिछुआएगा।" चेहरे पर आग की लाल लपट पड़ रही थी।" (वही, पृ. 162) यह स्थिति कमोबेश हर निम्नवर्गीय और निम्नमध्यवर्गीय भारतीय स्त्री की जीवन स्थिति है। केशर का पति ईंटों के भट्ठे पर मुंशीगिरी करता है। ईंटों का भट्ठा ‘तिरिया चरित्तर’ कहानी में भी है। विमली गौना होने से पहले वहीं काम करती है। केशर की सास अशक्त,

अन्धी-बूढ़ी है। ‘अकाल-दण्ड’ में सुरजी का मरद साल भर पहले गाँव छोड़कर निकला है, इस बूढ़ी को उसके गले में बाँधकर” (वही, पृ. 28) मतलब दुख-यातना शोषण की मिलती-जुलती तस्वीरें भारतीय गांव में इतनी सामान्य है कि उनकी सूरतें भी जानी पहचानी लगती हैं। सुरजी और केशर दोनों की सास अन्धी और बूढ़ी हैं। पति घर से बाहर। जो करना है, सहना है, उन्हें अकेले ही सहना और करना है। शिवमूर्ति के पात्र इस निरुपायता में यातना झेलते हैं। यह निरुपायता, असहायता का भाव और यातना की निर्विकल्प स्थिति भारतीय समाज की एक सच्चाई है। लेकिन कई बार यह भी लगता है कि ये स्थितियाँ, ये कष्टपूर्ण जीवन, पति का प्रायः परदेश में होना, घर में अन्धी-बूढ़ी सास, दुष्चरित्र ससुर, घोर अभाव, प्रधान-लीडर- पुलिस, सेक्रेटरी-उच्चवर्ग-वर्ण के क्रूर लंपट, धोखेबाज अमानवीय लोग, बुरे लोगों का सिरे से बुरा होना उनका अन्तर्विरोध रहित व्यवहार आदि को कहानी में सायास जुटाया गया है। यह यातना को निर्विकल्प अचूक बनाने का काम भी है, अपने पात्रों के पास शिवमूर्ति बचने का कोई मौका नहीं छोड़ते। अभाव में रह रहे लोगों का दैनंदिन जीवन व्यवहार, हर्ष-विषाद, उत्सव, पर्व, त्यौहार शिवमूर्ति की कहानियों में अपेक्षाकृत कम आ पाता है। ‘तिरिया चरित्तर’ में मेले जाने का वर्णन है। कहानियों में जगह-जगह मिथकों, लोक-गीतों का प्रयोग भी है। कहानियों में

वर्णित चित्रित गाँव की इन समस्याओं को शहरी जीवन में घटित होते आसानी से देखा-दिखाया जा सकता है। मसलन 'कसाई बाड़ा' कहानी में शनिचरी की संपत्ति को धोखे से लीडर अपने नाम लिखवा लेता है। उसकी बेटी को शादी के नाम पर देह व्यापार में धकेल दिया जाता है। ये दोनों स्थितियाँ शहरी जीवन में भी घटित होती देखी जा सकती है। यहाँ शिवमूर्ति ने जाति की समस्या को जितने हल्के रूप में उठाया है उसकी ओर इशारा करते हुए संजीव लिखते हैं- "कसाईबाड़ा जैसी चोखी कहानी में गाँव की लड़कियों के सामूहिक विवाह के प्रकरण में जाति के मुद्दे को जितने हल्केपन से लिया गया है, वह उनके गाँव की पहचान पर ही प्रश्नचिह्न लगाता है। जाति को छोड़कर आज भी कोई बात नहीं होती, प्रकट हो या गुप्त! ग्राम्य जीवन के इस अद्भुत चितेरे ने जीती मक्खी कैसे निगल ली?" (संजीव का लेख, मंच पत्रिका का शिवमूर्ति पर केंद्रित विशेषांक, जनवरी-मार्च, 2011 पृ. 131) फिर वहाँ गाँव की उपस्थिति की अनिवार्यता क्या है? क्या यह महज सजावट, कौतूहल या शहरी पाठकों को ग्रामीण यातना परोसने का उपक्रम नहीं लगता?

'अकाल दण्ड' कहानी में सुरजी को पाने के लिए लंपट सेक्रेटरी का प्रयास दिखाया गया है। अकाल सूखे की समस्या का सम्बन्ध गाँव से है। जिसे शिवमूर्ति स्त्री यातना को उभारने की पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित करते हैं। 'सिरी उपमा जोग'

कहानी में पति के शहर में ही बस जाने और पहली पत्नी को छोड़ दूसरी शादी करने की कथा वर्णित है। 'कमला की माँ' और लालू का दुख त्यागे जाने का दुख है। जिलाधिकारी पति के होते हुए भी कमला की माँ यातनापूर्ण जीवन जी रही है। लेकिन यहाँ शिवमूर्ति ने विरोध के भाव को इस तरह जीवन से बाहर कर रखा है। मानों अपनी स्थिति को बदलने का प्रतिरोध किसी और दुनिया की घटना हो! भला इतनी यातनाप्रियता की कहानियाँ रचने का औचित्य क्या है? बदलाव के किसी विचार को शिवमूर्ति की कहानियाँ भूले से भी सामने नहीं लाती हैं। सुरजी का तरीका अकेले का प्रतिरोध ही कहा जा सकता है। इस कहानी में भी ससुर (चाचा ससुर) लालची और क्रूर है।

शिवमूर्ति आमनवीय स्थितियों और पात्रों की रचना तथा जीवन के विडंबनात्मक पक्षों को उभारने में लासानी हैं। 'ख्वाजा ओ मेरे पीर' तथा 'केशर कस्तूरी' कहानियाँ ठेठ रूप से मानवीय त्रासदी और विडम्बना की कहानी हैं। ऐसी विडम्बना जिससे बच निकलना दुष्कार ही नहीं असम्भव प्रतीत हो। इस अमानवीयता और यातना को झेलना ही अन्तिम रास्ता बचता है। यह स्थितियों के आगे आत्मसमर्पण भी लगने लगता है। निरुपायता की सर्वग्रासी स्थितियां शिवमूर्ति की कहानियों की टेक हैं।

यह सारा आयोजन ग्रामीण जीवन को दुख, यातना, शोषण, मानवीय विडम्बना यानी उसे कसाई बाड़े के रूप में ही दिखाने का प्रयास तो नहीं है? अगर ऐसा है तो यह एक पक्ष है। सच है। लेकिन सच का भी एक ही रूप इन कहानियों में उभर कर आ पाता है। 'तिरिया चरित्तर' कहानी में विमली का ससुर शुरू से अन्त तक अमानवीय, धोखेबाज, लम्पट है कहीं कोई विचलन, अन्तर्विरोध नहीं। यह भी जीवन और व्यक्ति का एक ही रूप है। 'अकाल दण्ड' का सेक्रेटरी भी बिमली के ससुर का भाई लगता है। बूढ़ा और लंपट

शिवमूर्ति की दो कहानियों 'सिरी उपमा जोग' और 'भरतनाट्यम' के पात्रों में किंचित असमंजस, अन्तर्विरोध तथा उनके एकाधिक रूप उभरकर सामने आते हैं। सभी पात्रों के नहीं कुछ विशेष पात्रों के। एक कहानी में पति ने अपनी पत्नी को छोड़ दिया है। वह शहर में रहने लगा है। दूसरी में पत्नी खलील दर्जी के साथ भाग गई है। दोनों कहानियों में दोषारोपण की सामान्य प्रवृत्ति से बचा गया है। लेकिन वह बचना सम्पूर्ण कहानी के स्तर पर नहीं है। 'भरतनाट्यम' में पत्नी का खलील दर्जी के साथ भागना किसी भी तरह तर्कसंगत नहीं ठहराया जा सकता। लेकिन पति उसकी पुत्रहीन मानसिकता और घर में उसकी दोयम स्थिति से वाकिफ है। खुद भी इस स्थिति को भोगता चलता है। कहानी के अन्त में पत्नी के इस पक्ष का बचाव रचनाकार करता है। लेकिन वहीं कहानी के दूसरे

पात्र मसलन माँ-पिताजी सिरे से बुरे पात्र लगते हैं। वे कमाऊ पुत्र के साथ अलग व्यवहार करते हैं। लेकिन बेरोजगार, तीन-तीन बेटियों वाले पुत्र के साथ निर्मम व्यवहार करते हैं। जो बेटे की यातना को और बढ़ाता है। भाई का चरित्र पूरी तरह से उभर कर नहीं आ पाता है।

कई बार कहानी अपना आवयविक विकास न करके कहानीकार द्वारा पूर्व निर्धारित लक्ष्यों की ओर आँख बंद करके यांत्रिक रूप से बढ़ती चलती है। यहाँ रचनाकार का कथ्याग्रह कहानी में दरार पैदा करता है। 'तिरिया चरित्तर' के सम्बन्ध में लिखते हुए डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी कहानीकार शिवमूर्ति के इस कथ्याग्रह की चर्चा करते हैं-"विमली का मायके का इंद्रधनुषी जीवन, डरेवर से रोमांस, बिलरा से दृढ़ता, कुइसा के मनोरंजन - यह सब ससुराल में ससुर बिसराम के आचरण की जबरदस्त विपरीतता में है। जिस शैली में कहानी रची गई है उसे गौने के साथ ही समाप्त हो जाना चाहिए था। आगे की घटनाएं रचनाकार के कथ्याग्रह से आई हैं। यह कि नारी पर अत्याचार को दिखाना है। आगे विमली पूर्व तेज कहने भर को रह जाता है।" (कुछ कहानियाँ कुछ विचार-विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, पहला संस्करण 1998, पृ. 121) यह कथ्याग्रह ही रचना में यांत्रिकता लाती है। इसी यांत्रिकता के चलते पात्रों और स्थितियों का विकास कहानीकार स्वाभाविक रूप में नहीं कर पाता है। इसी एकोन्मुखता

के कारण ही शिवमूर्ति पात्रों को एक ही रंग में रंग देते हैं। खल पात्रों में किसी तरह की कोई अच्छाई अथवा परिवर्तन को भूल कर भी नहीं दिखाते। खल-पात्र, बुराइयाँ, हत्यारे, लूट-पाट करने वाले, नृशंस-बलात्कारी, लम्पट पात्र हमारे विषमताग्रसत अशिक्षित समाज की एक सच्चाई हैं, वहीं बुरे लोगों का बुराई छोड़कर सही राह पर चल पड़ना भी इसी समाज की सच्चाई है, जिसे झुठलाने की कोशिश करना यथास्थितिवादी होना है। साथ ही परिवर्तन के किसी भी विचार से खुद को सायास अलग रखना है। इस सच्चाई को मात्र ह्रदय परिवर्तन कह कर नहीं उड़ाया जा सकता। शिवमूर्ति जीवन के इस पक्ष की ओर अपनी कहानी के जरिये नहीं झाँकते। उनकी कहानियों के अधिकांश पात्र रचना की शुरुआत से अन्त तक अपनी मूल प्रवृत्ति को नहीं छोड़ते। ऐसा लगता है मानों शिवमूर्ति मल्टीडायमेंशनल पात्रों को कहानी में नहीं आने देना चाहते हैं।

ऊहापोह, अन्तर्विरोध शिवमूर्ति की कम की कहानियों में देखने को मिलता है। हाँ असमंजस की स्थिति जरूर एकाधिक कहानियों में मिलती है। कुछ करना चाहते हैं लेकिन कर नहीं पा रहे हैं, ऐसी स्थिति देखने को मिल जाती है। इस तरह की बेचैनी का भाव ‘केशर कस्तूरी’ कहानी में केशर के मौसाजी को होता है। और फिर वह बेचैनी का भाव क्रमशः पाठक की बेचैनी बनती जाती है। निरुपायता की यह स्थिति किसी पात्र के एकाधिक स्वाभाविक ‘शेड्स’ नहीं

हैं। इसका कुछ विकास 'अकाल दण्ड' कहानी में रंगी बाबू में दिखाया जा सकता था। लेकिन कहानी उससे पहले ही खत्म हो जाती है। अकाल में बँटने वाला राशन सेक्रेटरी रंगी बाबू के साथ मिल कर हड़प जाता है। उसकी चोर बाजारी से रंगी बाबू ऐश करते हैं, संपन्न बनते हैं। अब सेक्रेटरी के खिलाफ कुछ कहते उनसे नहीं बनता। वह सोचते जरूर हैं लेकिन करते नहीं हैं कुछ - "सोच रंगी बाबू को भी है। साफ हो गया कि सिकरेटिया मन में पाप पाले बैठा है। लेकिन सुरजी भी तो उनकी शरणागत हो गई है। वे रक्षा के लिए वचनबद्ध हो चुके हैं.. तो क्या सुरजी के लिए ये सिकरेटरी से बिगाड़ कर लेंगे? यह सिकरेटरी की संगत का ही 'परताप' है कि गल्ले की चोर-बाजारी करके हर महीने हजार-डेढ़ हजार रुपए पीट लेते हैं। राशन-पानी की इफरात ऊपर से।" (केशर कस्तूरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 2007, पृ. 53) रंगी बाबू सुरजी को राहत कैंप में सेक्रेटरी के पास उसकी मंशा को जानते हुए भी ले जाते हैं। सुरजी को यह भरोसा ऊपरी तौर पर जरूर दिलाते हैं कि वह उसके साथ हैं। एक तरह से सुरजी को सेक्रेटरी के जाल में फँसाने के लिए गाँव से दूर कैंप में साइकिल से ले जाते हैं। लेकिन विडम्बना देखिए यहाँ आहुति सुरजी की जगह रंगी की बेटी माला की चढ़ गई। माला सेक्रेटरी बाबू के जाल में पहले ही फंस चुकी है। इसका पता आज रंगी बाबू को लगता है जब वे सुरजी को कैंप तक लाते हैं। रंगी बाबू कैंप में देखते हैं

कि "ठीक इस समय सिकरेटरी बाबू के तम्बू के पिछले दरवाजे से एक नारी मूर्ति बाहर निकलती है और एक बार दाएँ-बाएँ देखकर सीधे सर्वेयर्स के तम्बू की ओर बढ़ जाती हैं। ऐं! काठ हो गए हैं रंगी बाबू। माला? माला ही तो है।" (वही, पृ. 57) यह कॉमिक ट्रेजिडी है। रंगी बाबू दूसरे की बेटी सुरजी) को लंपट सेक्रेटरी के पास ले जाते हैं लेकिन भेंट चढ़ जाती है उनकी अपनी बेटी माला की। अन्त में आत्मग्लानि में डूबे हुए रंगी बाबू "सहसा वे अपने दोनों गालों पर कसकसकर दो-दो झापड़ लगाते हैं-जा रे रंगिया साले। चुल्लू भर पानी में डूबकर मर जा रे जनखे। कहाँ गया तेरा तेज, तेरा जलजला रे घुरवा ?" (वही, पृ. 59) यहाँ अपने गालों पर तड़ातड़ झापड़ लगाने का दृश्य मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' के एक दृश्य से मिलता-जुलता है

मैं खड़ा हो गया

किसी छाया मूर्ति-सा समक्ष स्वयं के

होने लगी बहस और

लगने लगे परस्पर तमाचे।

(चाँद का मुँह टेढ़ा है, गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतीय, ज्ञानपीठ, संस्करण, 2008, पृ. 269-270)

यह आत्मग्लानि शिवमूर्ति की कहानियों में अपवाद स्वरूप दिखती है लेकिन अच्छा संकेत है। शिवमूर्ति अक्सर कहानी के भीतर लघु-कथाएँ भी देते चलते हैं। इन्हें कहानी के विश्लेषण में प्रायः नजरअन्दाज कर दिया जाता है। ये लघु कथाएँ कहानी के पात्रों की अपनी कथाएँ हैं। इन कथाओं का दूर तक विस्तार नहीं हो पाता। लेकिन संक्षिप्त होने से इनका महत्त्व कम नहीं हो जाता। मसलन 'तिरिया चरित्तर' कहानी में कुइसा मिस्तरी की कथा। कुइसा बोझवा है। वह ईंटों का बोझ लादने का काम करता है। वह लगभग 'पचास के लपेटे' में है। न वह अविवाहित है, न ही विधुर है, लेकिन अकेला है। अकेला है इसीलिए उसे स्त्रियों का संग-साथ, दरस परस अच्छा लगता है। विमली भी उसी भट्ठे पर काम करती है। जब तक वह नहीं पहुँचती उसका मन उचटा रहता है। लेकिन जब वह विमली को आते देख लेता है तो उसकी आँखें चमक उठती हैं- "सचमुच लाल खड़ी नजर आ जाती है कुइसा को। विमली भट्ठे के पास पहुँच गई है। कुइसा की आँखों में चमक आ जाती है।... कुइसा कहता है कि विमली के आने से भट्ठे पर 'उजियार' हो जाता है उसके जाते ही अँधियार" (केशर कस्तूरी, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण 2007, पृ. 65) कुइसा "भट्ठे का काम हाथ में लेने के पहले देख लेता है - कौड़िहा मजदूर सिर्फ राँची के ही हैं या लोकल भी सिर्फ राँची - विलासपुर के लेबरों वाले भट्ठे पर एक दिन नहीं रह सकता। दस-पाँच लोकल

मजदूरनें जरूरी हैं देखने लायक! सिर से ईंट उतारते हुए गरम - सांस और तन का परस!" (वही, पृ. 95-66) कुइसा की यह आदत भट्ठे के मालिक खान साहब और वहाँ काम करने वाले लोग जानते हैं। इतने पर यह नहीं कहा जा सकता कि कुइसा विमली के ससुर की तरह लंपट है। कुइसा की शादी के बाद जब गौना हुआ तो उसे बोझवा से मिस्तरी बनने का भूत सवार था। पत्नी को छोड़कर वह दिन-रात भट्ठे पर ही रहता था। पत्नी आखिर ये साल इंतजार करने के बाद चली गई किसी और का घर बसाने। कुईसा तब से अकेला है। वह तब से हर साल लगन के महीनों में बरदेखुओं का इंतजार करता है। यानी अभी भी अपना घर बस जाए इसकी उसको आकांक्षा है। वह विमली के पिता के पास कई बार गया। लेकिन अपनी इच्छा को सामने रख नहीं पाया-"दो-तीन बार वह गया विमली के बाप के पास, चिलम पीने के बहाने। कुछ मन-मुँह मिले तो बात आगे बढ़ाए। लेकिन कितनी जलती हुई आँखें हैं बूढ़े की। बात करने जाइए तो घायल होकर लौटिए। आँखों से ही दाग देता है।" (वही, पृ. 117) इसी आकांक्षा में वह धोखा खाता है। जेब में ही कुइसा झुलनी रखता था। होने वाली पत्नी को पहले ही देने के लिए। लोगों ने उन्हें ठगा मालमत्ता सब हड़प कर उन्हें हास्यास्पद बना दिया। विमली के चले जाने के बाद वे भी वापस अपने गाँव बलिया लौट जाते हैं। यह कुइसा की कहानी है। इसी तरह की छोटी लेकिन सारगर्भित कहानियाँ है—गुनी

पंडित की पतोहू की कहानी, सरजूपारी चाची की कहानी, करमा बुआ की कहानी। लेकिन ये स्वतंत्र कहानियाँ नहीं लघु-कथाएँ भर हैं। इनसे शिवमूर्ति कहानी का वातावरण या कहें परिवेश रचते हैं।

जीवन के जिस हर्षोल्लास का चित्रण इन कहानियों में कम आ पाया है उसको 'तिरिया चरित्तर' और 'केशर कस्तूरी' के पूर्वार्द्ध में पूरी शिद्दत के साथ दिखाया गया है। लेकिन आगे चलकर प्रकट होता है कि यह सब हर्षोल्लास कहानी के उत्तरार्द्ध की दारुणता को तीव्र करने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में दिखाया जा रहा है।

ग्रामीण जीवन का वर्णन-चित्रण करने में शिवमूर्ति सिद्धहस्त है। वर्तमान समय में साहित्य और अर्थजगत की चिंता की परिधि से गाँव लगातार बाहर और संकटग्रस्त होता गया है। शिवमूर्ति ने बहुत कम लिखकर भी गाँव को अपने लेखन में प्रमुखता दी है। देश में उदारीकरण की नीतियों के चलते अभी तक लगभग 3 लाख किसानों ने आत्महत्या की है। इसे ध्यान में रखते हुए शिवमूर्ति के 'आखिरी छलांग' शीर्षक से उपन्यास लिखा है। कहने का अभिप्राय यह है कि वे गाँव को रचना में प्रमुखता से दर्ज करने वाले रचनाकार हैं। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध कथाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह का यह कथन उल्लेखनीय है- शिवमूर्ति के लेखन में गाँव, गाँव का दिल, गाँव का हृदय, गाँव का अन्तर्मन, और जो

बदलता हुआ गाँव है, उसकी समस्याएँ और विविधताएँ, वहाँ की जटिलताएँ सब शिवमूर्ति के गाँव में हैं, चाहे वो ‘कसाईबाड़ा’ हो या ‘तिरिया चरित्तर’ हो।" (मंच पत्रिका का शिवमूर्ति पर केन्द्रित विशेषांक, जनवरी मार्च 2011, अब्दुल बिस्मिल्लाह की पंकज शर्मा की बातचीत, पृ. 239) सिर्फ तीन उपन्यास और सात कहानियों के बल पर उन्होंने अपनी एक छवि बनाई है। जिसमें कम से कम आठ रचनाओं का परिवेश गाँव है। जो निश्चित ही उनकी संवेदना के व्यापक हिस्से को समेटता है। आज के दौर में गाँव की रचना का विषय बनाने वाले साहित्यकार उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। ऐसे में शिवमूर्ति का महत्त्व समझा जा सकता है।

बाज़ार के दौर में हिंदी कहानी

एक बाजार कबीर के यहाँ मिलता है। कबीर उस बाज़ार में खड़े हो लुकाठी लेकर लोगों से अपने घर को जलाकर साथ चलने का आह्वान करते हैं वह बाज़ार आज के बाज़ार से भिन्न और विपरीत स्वभाव वाला था। बाजार का आरंभिक स्वरूप आज की तरह मनुष्य विरोधी नहीं था। वह वस्तुओं के क्रय-विक्रय का स्थल था। इसमें वर्चस्व और परिवर्तन की इतनी बड़ी चेष्टाएँ शामिल नहीं थीं। वह सामंती जड़ताओं को भी किसी हद तक तोडने वाला था। इसलिए धर्म और जाति के आधर पर बनी सामाजिक संरचना को तोड़ने का आह्वान कबीर घर तोड़ने के रूपक में करते हैं। यह घर तत्कालीन शोषण और अमानवीयता के ठीहे थे। जिन्हें कबीर तोड़ने की बात करते हैं। बाज़ार इस संरचना के बरक्स एक विकल्प के रूप में कबीर को नजर आता लगता है। लेकिन वर्तमान बाज़ार जाति और धर्म के अमानवीय ढाँचे को तोड़ने वाला दिखता भले हो लेकिन लिंग, वर्ग, वर्ण, भाषा आदि न जाने कितने आधर पर समाज को बाँटने का काम कर रहा है।

वैसे बाजार विभिन्न रूपों में मानव सभ्यता के विकास के साथ बदलता बनता रहा है। वस्तु विनिमय और अब एटीएम कार्ड के रूपों में अदृश्य मुद्रा से संचालित हो रहा है। इसी प्रकार बाजार भी दिनोंदिन विकराल और अदृश्य उपस्थित रूप में आ गया है। बाजार जरूरत पूरी करने, वस्तुओं के आदान-प्रदान

का क्षेत्र नहीं रह गया है बल्कि अब वह मनुष्य की सभी इच्छाओं की पूर्ति और निर्माण का क्षेत्र भी बन गया है। दिनोंदिन इसमें आक्रामकता, संवेदनहीनता भी आती गई है। अधिकतम लाभ के लक्ष्य से संचालित बाजार अब स्वतंत्र रूप में एक अवधरणात्मक स्थिति जैसा हो गया है जिसे बाजारवाद कहा जा सकता है। सामान्य रूप में बाजार हमारी जरूरत की वस्तुओं के लेन-देन से संबंधित स्थान है। पहले जहाँ वस्तु विनिमय का प्रचलन था वहीं अब मुद्रा से यह लेन-देन होता है। मुद्रा के स्वरूप में भी अब व्यापक परिवर्तन घटित हो चुके हैं। बाजार के सामान्य अर्थ को बताते हुए गिरीश मिश्र और ब्रजकुमार पाण्डेय ने लिखा है - बाजार का मतलब एक ऐसे स्थान से है जो मनुष्य और समाज को सुविधा प्रदान करता है। अर्थात जीवनोपयोगी वस्तुओं के लेन-देन की यह क्रिया ऐसे अर्थों वाले बाजारों में मनुष्यता के शाश्वत सामान्य गुणों के बीच के आपसी रिश्तों को बगैर हानि पहुंचाए सम्पन्न होती है।

बाज़ार के इस आरंभिक पहलू के तीन महत्त्वपूर्ण घटक है माल और व्यापारी वर्ग जो कि माल के बदले माल अर्थात् वस्तु विनिमय करते थे लेकिन अब बाजार के घटकों में विज्ञापन भी अनिवार्य रूप से जुड़ गया है। बाजार के बनने और इसकी आरंभिक अवस्था के बारे में एंगेल्स ने परिवार निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति पुस्तक में प्रकाश डाला है। एंगेल्स ने विनिमय के कभी-

कभार के नियमित होने, व्यापारी वर्ग के उदय, मुद्रा के प्रचलन, दूर-दूर तक बाजार के निर्माण और खोज की प्रक्रिया पर लिखा है। एंगेल्स ने विनिमय की आरंभिक दशा और कारण के संदर्भ में लिखा है- "जब हम सभ्यता के द्वार पर पहुँच जाते हैं श्रम विभाजन में एक और नये कदम के साथ इस युग का श्री गणेश होता है। निम्न अवस्था में मनुष्य केवल सीधे-सीधे अपनी जरूरतों के लिए उत्पादन करता था। विनिमय केवल कहीं-कहीं पर होता था, जहाँ कि अचानक बेशी पैदावार हो जाती थी।" यह स्थिति बाजार के बनने की आरंभिक या निम्न अवस्था है। यहाँ विनिमय अचानक बेशी पैदावार पर निर्भर था। अतः यह अवस्था अविकसित अवस्था थी। इसके बाद यह पैदावार बढ़ती है। विनिमय ज्यादा मात्रा में और अपेक्षाकृत अधिक नियमित भी होने लगा इन स्थितियों ने बाजार के निर्माण को संभव बनाया। बाद में होने वाली खोजों आविष्कारों ने बाजार को व्यापक रूप प्रदान किया।

पूँजीवाद की आरंभिक दो अवस्थाएं व्यापारिक पूँजीवाद और औद्योगिक पूँजीवाद के दौर में बाजार भी लगातार विकसित होता चलता है। बाजार पर कब्जे की लड़ाइयाँ होती है। कच्चे माल के क्षेत्रों पर कब्जा स्थापित किया जाता है फिर निर्मित माल की बिक्री के लिए बाजार पर प्रभुत्व जमाया जाता है। वर्तमान में बाज़ार अभूतपूर्व रूप से विकसित ही नहीं हुआ बल्कि उसने अपने

स्वरूप, कार्य शैली में भी बड़े परिवर्तन घटित किये है। अब यह संचार के विभिन्न माध्यमों टेलिविजन, फोन, इंटरनेट आदि द्वारा अपना क्षेत्र विस्तार कर रहा है। मुद्रा भी धातु या कागज से आगे बढ़कर अत्यंत संचरणशील रूप में भी अपनी भूमिका निभा रही है। व्यापारी वर्ग ने अपने व्यापार के विस्तार के लिए बाजार को भूमंडलीय रूप में विस्तृत और सुदूर गाँव-देहातों, दुर्गम क्षेत्रों तक पहुंचा दिया है। माल भी अनेकानेक नए रूपों में प्रस्तुत होने लगा है। इस प्रक्रिया में आक्रामकता, सम्मोहन, छदम तुष्टि भी शामिल हो गयी है। इस तंत्र को अचूक बनाने के लिए विज्ञापन का मायाजाल है। अब बाजार एक विचार प्रणाली बन गया है जिसे बाजारवाद के नाम से जाना जाने लगा है। बड़े विकास, समृद्ध विज्ञान, परिवहन एवं विकसित संचार माध्यम आदि ने बाज़ार को भी विस्तृत किया। इस बाजार ने एक नये समाज और मनुष्य को भी निर्मित करने का प्रयास किया है। बाजार के वर्तमान आचरण से निर्मित संस्कृति को उपभोक्ता संस्कृति भी कह सकते हैं। इसकी निर्मिति बाजार के नए विकसित चरण और उसके अपने निरंतर विकास की आकांक्षा के विचार को प्रकट करती है। बाज़ार के इस विकास के कारण और उससे निर्मित होने वाले मनुष्य के संदर्भ में गिरीश मिश्र और

ब्रजकुमार पाण्डेय ने लिखा है- ‘बाजार का वर्तमान जटिल रूप आधुनिक विज्ञान, बड़े उद्योग और बड़ी मशीनों द्वारा एक ही स्थान पर बड़ी मात्रा में उत्पादन के कारण देखने को मिला..... इन बाजारों से एक अवांछित गैर जिम्मेदार और फिजूलखर्च मनुष्य का विकास होता गया। मानवीय समाज बिखर गया। असमान शर्तों पर होने वाले व्यापारिक लेन-देन में आर्थिक रूप से मजबूत पक्ष कमजोर पर हावी होता गया। गैर-बराबरी बढ़ती गई, धनी और धनी गरीब और ज्यादा गरीब होता गया। आर्थिक गैर-बराबरी की यह क्रिया व्यक्तियों समूहों और राष्ट्रों के स्तर पर जारी है।" यह स्वरूप वर्तमान बाजार का है, जिसकी कार्यप्रणाली आवश्यक रूप से विषमता को बढ़ाने वाली ही है। यह एक उपभोक्तावादी समाज के निर्माण में प्रयत्नशील है।

पूँजीवाद के जिस सर्वव्यापीकरण की प्रक्रिया में भूमंडलीकरण: मुस्तैद है, सक्रिय है, यह बाजार के अधिकाधिक प्रबल और व्यापक होते रूप में हमारे सामने आ रहा है। बाज़ार के वर्तमान आचरण के लिए हिंदी में बाजारवाद शब्द प्रचलित हुआ है। बाजारवाद अपने आप में एक छद्म या मिथ्या विचारधारा है। इसके मूल में पूँजीवाद का साम्राज्यवादी चेहरा छिपा है। इसे सामान्य भाषा में भूमंडलीकरण की समाज में और अपने बीच उपस्थिति मान सकते है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया उसकी व्याप्ति को बाजार के विकसित होते रूप में

देख सकते हैं। बाजारवाद के इस स्वरूप के संदर्भ में अर्थशास्त्री श्रीकांत मिश्र ने गुलामी का नया मंत्र शीर्षक अपनी पुस्तक में लिखा है- "बाज़ारवाद आज के समय की एक सशक्त विचारधारा है। दरअसल यह पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का ही छद्म रूप है। चूंकि पूँजीवाद विचारधारा पर अनेक शंकाएं की जाती हैं और साम्राज्यवाद पूँजीवाद का ही घिनौना रूप है इसलिए अब प्रकट रूप से पूँजीवाद की बात करने के बजाय बाजारवाद की बात की जाती है।

आधुनिक युग का व्यक्ति अब उपभोक्ता होकर रह गया है। इसी में उसकी सार्थकता चिह्नित निर्मित की जा रही है। बाजारवाद और उपभोक्तावाद को हिंदी कहानी ने किस रूप में देखा है, इसे देखना मनोरंजक होगा। इस मसले पर सोचते ही सबसे पहले जो कहानी सामने आती है वह है ''पिंटी का साबुन'' संजय खाती की यह कहानी 1990 में प्रकाशित हुई थी। साहित्य में बाजार आगरा बाजार का बाजार। लेकिन अब बाजार आक्रामक मोहक और उपभोक्ता को एक और तो उत्तेजित और चमत्कृत करने लगा। दूसरी और हमें और विवेक शून्य भी करने लगा विवेकशून्यता अंधेर नगरी में गोबरधनदास में भी आती है। लेकिन बाजार की विरोधी शक्तियां गुरु महंत और नारायणदास के रूप में भी मौजूद है। अंधेर नगरी में विवेकशून्यता बाजार की न होकर सत्ता की विवेकशून्यता है। बहरहाल पिंटी का 'साबुन' कहानी में वाचक को एक बार

दौड़ में जीतने पर साबुन का उपहार मिलता है। यह साबुन उसकी किसी जरूरत को पूरा करने का साधन नहीं है। क्योंकि इससे पहले और बाद में भी उसके सभी काम साबुन के बिना ही चलते है। उपभोक्ता वस्तु का प्रचलन, व्यक्ति को विवेकशून्य बनता है। जरूरी गैर जरूरी का भेद खत्म होना ही विवेकशून्यता है। व्यक्ति को उपभोक्ता के रूप में लाने का काम बाजारवाद करता है। इस कहानी ने बाजार की संवेदनहीनता को वस्तु के आ जाने से वाचक में आने वाली संवेदनहीनता के रूप में दिखाने की कोशिश की है। यहाँ यह संवेदनहीनता और विशेष होती जाती है। विशेष होकर वह शेष से अलग हो जाती है। उपभोक्तावाद इसी अर्थ में पृथकता लाने का कार्य करता है। वह विशेषता का भाव उपभोक्ता में भरता चलता है। यह उपभोक्तावाद घोर व्यक्तिवादी मनुष्य को रच रहा है। इसे हम बाज़ार का आतंक कह सकते है, जो अनिश्चय, भय और हिंसा से ग्रस्त है। बाज़ार में उपभोक्ता बनकर खुश भी है। लेकिन यह खुशी उसे अकेला बेचैन कर रही है। 'पिंटी का साबुन' कहानी में साबुन उपभोक्ता वस्तु है। जिसके कारण वह खुद को अकेला और विशिष्ट समझने लगता है। वह खुद को दुश्मनों से घिरा हुआ मानने लगता है। कहानी में वर्णित शब्द है- इस तरह माँ मेरी दूसरी दुश्मन बनी। असल में साबुन की इस महत्ता को में पहले समझ ही नहीं पाया। शायद समझने की उम्र थी भी नहीं, लेकिन जल्द ही मुझे लगने लगा मैं चारों ओर से

दुश्मनों से घिर गया हूँ जो गैर जरूरी उपभोग है, वह समाज में और व्यक्ति के मन में एक गैर जरूरी 'परिवर्तन भी ला रहा है। इसी कहानी से एक उद्धरण और है- काका से पहली बार गहरी दुश्मनी की यह शुरुआत थी। उस वक्त साबुन की उस भीनी खुशबू में इतना मगन था कि काका की ओर ध्यान देने का वक्त नहीं था मेरे पास, लेकिन आगे चलकर हम दोनों की दुश्मनी स्थायी बात हो गयी।

पंकज बिष्ट की 'मोहन राम (दास), आखिर क्या हुआ?' कहानी में एक घरेलू नौकर को मालिक के बच्चे बताते हैं कि वे अपने लिए एक हजार पिचानवे रूपये के जूते लाए है, जोकि मोहन राम की चार महीने की तनख्वाह के बराबर रकम है। यह हैरतंगेज सूचना उसके मनोलोक को बदल देती है। वह कल्पना में उस जूते के साथ हवा में उड़ने लगता है। उड़ते हुए पहाड़ी पर अपने गाँव पहुँचता है। लेकिन उँचाई में संतुलन खोने के कारण गिर पड़ता है। यह सब सपने में कल्पना में होता है। लेकिन अगले दिन सुबह वह अपने कमरे में मरा हुआ पाया जाता है। इस कहानी की एक स्थिति उल्लेखनीय है- अगर घोड़ा उड़ने वाला हो सकता है तो जूता भी तो हो सकता है। उसने अपने आप से कहा और गाने लगा एक राजे का उड़ने वाला जूता और तब तक वही लाइन गाता चला गया, जबतक कि पहाड़ों के ऊपर नहीं पहुँच गया। वह मुँह अँधेरे ही चल पड़ा था और अब पहाड़ों में पहली धूप और सुहावनी हवा का आनंद ले रहा था। नीचे पहाड़ थे,

पेड थे, घाटियाँ थी, गाँव थे। बाजार का आतंक व्यक्ति के मन और समाज पर किस तरह और किन रूपों में पड रहा है, इसे इन दोनों कहानियों में आसानी से देखा जा सकता है।

दोनों कहानियों में जरूरी की जगह गैर जरूरी उपभोक्ता वस्तु है। जूता बेशकीमती है बेशकीमती होना गैर जरूरी है। जूता स्वयं में गैर जरूरी नहीं है। दोनों का असर जादुई है। यहां जादुई यथार्थवाद के शिल्प का प्रयोग दोनों रचनाकारों ने किया है। उपभोक्तावाद के व्यक्ति पर प्रभाव को दिखाने के लिए इस शिल्प का प्रयोग उदय प्रकाश और अखिलेश ने भी किया है। इन पात्रों पर उपभोक्ता वस्तु का प्रभाव जादू जैसा पड़ता है। यह विशेष होना है। चमत्कृत और असहाय अकेला होना भी उपभोक्तावाद एक नए घोर व्यक्तिवादी मनुष्य को जन्म दे रहा है, जो इस दौड़ में शामिल नहीं हो पा रहा है। उसकी नियति मोहन की तरह मरने में हो रही है। बाजारवाद इसी उपभोक्तावाद का पोषक है। कारक भी है। इस दौड़ में शामिल होने की कोशिश और फिर असफल होने की घटना उदय प्रकाश की कहानी पाल गोमरा का स्कूटर कहानी में भी देखी जा सकती है। इस कहानी का एक स्थल है - लोग बाग मारुति एस्टीम् सिलो, जैन, सियेरा सुमो, होंडा, कावासाकी सुजुकी और पता नहीं किन-किन गाड़ियों में चलने लगे थे। कहाँ से कहाँ पहुँच गये थे और पॉल गोमरा को साइकिल तक चलानी नहीं

आती थी। उपभोक्ता न बन पाने की त्रासदी पॉल गोमरा उर्फ राम गोपाल सक्सेना झेलता है। बाज़ार व्यक्ति के मन में एक हीनताबोध की सृष्टि करता है। यह हीनता बोध व्यक्ति को उपभोक्ता बनने के लिए मजबूर करता है।

लेकिन अंतत: पॉल गोमरा एक आदर्श उपभोक्ता नहीं बन पाता है और विक्षिप्त हो जाता है। पॉल गोमरा का स्कूटर के संदर्भ में नीरज खरे ने लिखा है- भूमंडलीकरण के दौर में पॉल गोमरा का स्कूटर (इंडिया टुडे साहित्य वार्षिकी 1995) मध्यवर्गीय मनुष्य के प्रति उदारीकरण की अनुदारता की कहानी है। यह बाजारवादी उपभोक्तावादी की आँधी में ढहते हुए विचारों एवं आदर्शों की कहानी है जो उत्तर-आधुनिक यथार्थ के बीच मध्यवर्गीय मनुष्य की उसकी अमानुषिक परिणति का अहसास कराती है और उदार अर्थव्यवस्था के अमानवीय चेहरे को बेनकाब कर देती है।"

उपभोक्तावादी मनुष्य की विडंबना को बयान करने वाली उदय प्रकाश की एक छोटी कहानी है उत्तर आधुनिक उपभोक्तावाद। इसमें वे रूपक के माध्यम से लालच और यातना के द्वंद्व को चित्रित करते हैं एक तरफ लालच में कुत्ता हड्डी चबा रहा था, दूसरी तरफ पूँछ में बँधे पटाखों के लगातार फूटने की वजह से चीख पुकार भी मचा रहा था। एक तरफ कुत्ते के मुंह से लार बह रही थी. दूसरी तरफ उसके गले से चीख निकल रही थी। एक अद्भुत ट्रेजिक कॉमिक दृश्य था

विनायक दत्तात्रेय हँसे । लोगों ने पूछा, आप क्यों हँस रहे हैं तो उन्होंने जवाब दिया- देखो इस कुत्ते को यह बिलकुल तीसरी दुनिया का उपभोक्तावादी मनुष्य लग रहा है। उत्तर-आधुनिक उपभोक्तावाद का दुर्दान्त दृष्टान्त यह स्थिति उपभोक्तावाद से परेशान और उससे लाभ लेने वाले मध्यवर्गीय मनुष्य की है।

निम्न वर्ग का व्यक्ति उपभोक्ता होने से दूर है। उच्चवर्ग का व्यक्ति इस स्थिति के साथ तालमेल बैठा चुका है। उसी में खुश है। उसके पास द्वन्द्व नहीं है। इसी क्रम में अखिलेश की दो कहानियाँ विचारणीय है जलडमरूमध्य' और 'शापग्रस्त । इन दोनों कहानियों में कोई एक समस्या केंद्र में नहीं है। लेकिन फिर भी उपभोक्तावाद बाजारवाद ने जो नया मनुष्य निर्मित किया है या जो परिवर्तन घटित कर दिया है, उस परिवर्तन से सामना करते व्यक्ति सहायजी, जलडमरूमध्य में वृद्ध की यातना का चित्रण है। वहीं उपभोक्तावाद की अंतहीन दौड़ और फिर निरर्थकता बोध का सामना, शापग्रस्त' कहानी में प्रमोद वर्मा द्वारा करते दिखाया गया है। सुखी बनाने होने की अंतहीन चाह उपभोक्तावाद की देन है। 'शापग्रस्त कहानी में प्रमोद वर्मा जो अब तक सुखी-सम्पन्न था। उपभोक्ता वस्तुओं से घिरा था लेकिन एक दिन उसकी पत्नी उससे अनायास ही उपभोक्तावादी जीवन आचरण की फरमाइश करती हुई उससे कहती है - यह

सब नहीं चलेगा जी सफेद निकर और ऐक्शन शू पहनकर जागिंग करिए। फिर शीशे के सामने खड़े होकर तौलिया से पसीना पोछें।

यह सुन कर उस पर अप्रत्याशित प्रभाव पड़ता है। वह अखबार में मुँह छिपाकर पास की कुर्सी पर बैठ गया। स्वयं से बोला मेरा शरीर, मेरी आत्मा दोनों बरबाद हो चुके हैं। मैं पैंतीस का हूँ लेकिन दोनों ही बूढ़े हो चुके हैं। न मेरी आत्मा निष्पाप हो सकती है, न मेरी तोंद पिचक सकती है। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों के ही विकास की संभावनाएं मेरे तई धूमिल हो चुकी हैं।" यह चाह और पराजय दुख उपभोक्तावादी जीवन शैली और प्रतिमानों पर खरा न उत्तर पाने की है। फिर इससे वह निरर्थकता का बोध महसूस करता है। हर वह काम करता है जिससे वह सुखी महसूस करे। लेकिन परिणाम कुछ नहीं निकलता। उसकी पत्नी सरोज वर्मा उससे पूछती है आप चाहते क्या है? मैं सुखी होना चाहता हूं। यह सुख उपभोक्तावाद का ब्रह्म वाक्य है। इसकी खोज इसे पाने की चाह सभी उपभोक्ता करते हैं। लेकिन अंततः सुखी नहीं निरंतर बेचैन होते जाना ही उपभोक्तावाद की नियति है। यही स्थिति प्रमोद वर्मा की होती है। वह इस सुख' की चाह में निरंतर बेचैन होता जाता है। उपभोक्तावाद ने लोगों को संघर्ष से दूर आत्मग्रस्त व्यक्ति में रूपांतरित कर दिया है। जब जीवन में संघर्ष नहीं, दुःख नहीं, विरोधी स्थितियों की उपस्थिति नहीं, सही अर्थों में यहाँ सुख की सार्थक

अनुभूति भी दूरगामी नहीं हो सकती। प्रमोद वर्मा जो 'शापग्रस्त' कहानी का नायक है, उसके बारे में डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है- "शापग्रस्त का नायक आत्मग्रस्त है। यह अपनी स्थिति के विरुद्ध हाथ-पाँव भी नहीं मारता। वह अपनी विरक्ति और असहायता में भी असामान्य और अबूझ है इसलिए मनोचिकित्सा का विषय है। अपने को छोड़कर वह किसी और के बारे में सोचता ही नहीं उसका दुख भी छदम है। सच्चे दुख का अभाव ही उसकी शापग्रस्तता है।

यह शापग्रस्त उपभोक्तावादी लक्ष्यों को पाने की चाह में बेचैन लोगों की नियति सा बन गया है। डा. नीरज खरे ने शापग्रस्त कहानी के संदर्भ में लिखा है- "अखिलेश ने ही शापग्रस्त कहानी में उपभोक्तावादी दौड़ में संवदेनशील किस्म के लोगों की एक अंतर्विरोधात्मक समस्या का उद्घाटन किया है। एक ओर उपभोक्तावादी लक्ष्यों के पीछे भागते जीवन में निरर्थकता का एहसास तो दूसरी ओर जीवन में सार्थकता की निरंतर तलाश के बाद भी उस रास्ते पर न चल पाने की मजबूरी है। परिणामतः उपभोक्तावादी सुख-सुविधाओं और हर चीज घर में होने के बावजूद कहानी का नायक मानसिक दुःख से पीड़ित बना रहता है। यह सब कुछ होने के बाद की पीड़ा है। उपभोक्तावाद निरर्थकता को पैदा करता है और और के पीछे दौड़ता है संतोष और सुख-चैन का विरोधी है। इसीलिए उसे सुख की तलाश है जबकि उसके पास सभी संभव उपभोक्ता वस्तुएँ हैं।

बाजारवाद ने इस उपभोक्तावाद को बढ़ाया है। जलडमरूमध्य कहानी में सहाय जी के मन और जीवन में जो परिवर्तन घटित हुए उनमें बाजार और लोभ की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। समाज और जीवन में बाजार और लोभ एक-साथ इतनी बड़ी मात्रा में आ गए हैं कि जो व्यक्ति इन स्थितियों को आसानी से स्वीकार नहीं कर पा रहा है, वह भौंचक्का रह जाता है। वह जहाँ है वहीं से उसका उच्चाटन हो जाता है। 'लगता नहीं है दिल मेरा इस उजड़े दयार में' जैसी स्थिति व्यक्ति की हो जाती है। सहाय जी भी चिरैयाकोट से उचट चुके हैं। सीधे-सीधे कोई एक कारण लेखक नहीं बताता। लेकिन एक कारण शहर का बाजार में रूपांतरण भी है। बेटे-बहू और पोते के मन में ही नहीं गाँव के लोगों के मन में भी लोभ ने पैर फैला लिए हैं। बेटे-बहू पिता से उनकी संपत्ति-गाँव की जमीन बेचकर फार्म हाउस खरीदना चाहते हैं। गाँव के लोग छब्बीस कमरों वाले घर को रौंद डालते है कि कहीं उसमें से गड़ा हुआ धन मिल जाए। यह बाज़ार का दोतरफा काम है। इस बाजारवाद ने जिस संस्कृति को जन्म दिया है वह भूमंडलीकृत अपसंस्कृति है। वह अपरिचित और अमानवीय बनाने वाली संस्कृति है। यह सब विकास के नाम पर आ रहा है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने इस संबंध में लिखा है- परिवेश अपरिचित होता जा रहा है। परिचित प्रतिकूल से आप लड़-झगड़ सकते है। अपरिचित से आप कुछ नहीं कह सकते, लेकिन स्तब्ध रह सकते हैं

और विशेषतः तब जब अपरिचय के सर्वग्रासी वर्चस्व का दौर एक झटके से आ गया हो। अपरिचय के इस सर्वग्रासी वर्चस्व का दौर नया युग विकास के नाम से आया है।' इस अपरिचय में परिचित का लोप दिखता है। जिसे जानते हैं वे अब पहले जैसे नहीं रहे।

मनुष्य आपसी संबंधों में न रह कर आत्मसीमित व्यक्ति बनता जा रहा है। बाजारवाद ने हमें व्यक्ति से उपभोक्ता में बदल दिया है। हमारे चारों और उपभोक्ता और उपभोक्ता वस्तुएँ ही मिलती है। परिचित मनुष्य नहीं मिलता। ज्यों बोदिला ने कंज्यूमर सोसाइटी' शीर्षक लेख में लिखा है- सख्ती से कहना पड़ रहा है कि हम पहले की भांति लोगों से नहीं वस्तुओं से घिरे हुए हैं।"

यह अपरिचय का भाव-बोध सहाय जी को भी स्तब्ध कर गया है। वे बदल गये है। वे अब चिरैयाकोट छोड़कर जा रहे है। शहर छोड़ने का कारण लेखक अबूझ रखता है। कई कयास लगाये जा रहे हैं। इनमें से एक अनुमान सहाय जी के अजीज दोस्त मकबूल साहब का है जलडमरूमध्य कहानी का यह हिस्सा बाजारवाद अपरिचय के भाव के विस्तार से ग्रस्त सहाय जी की मन स्थिति को बयान करता है इन दिनों चिरैयाकोट के ढेर सारे घरों के लोगों के बीच यह प्रमुख चर्चा थी कि सहाय जी शहर छोड़कर जा रहे हैं। हाँ उनके इन प्रस्थान के कारणों को लेकर आम सहमति नहीं थी। अटकलें लगाई जा रही थी। अलग-

अलग राय और अंदाजा था लोगों को मगर सहाय जी के अजीज दोस्त मकबूल साहब का अनुमान सभी से जुदा था। उनका कहना था. सहाय घबराहट के वजह से शहर से रुख्सत हो रहे हैं। हॉ हॉ... शहर में ताबड़तोड़ बन रही दुकानों से उनको घबराहट होने लगी थी। उन्होंने मुझसे कई बार कही है यह बात की इतनी दुकानों के बनने से चिरैयाकोट बरबाद हो जाएगा। सब जगह दुकानें ही दुकानें हो जाएगी तो बच्चे कहां खेलेंगे और हम बूढ़े लोग सुबह की सैर कहाँ "करेंगे।" हालांकि यह बात सही थी कि शहर में भयानक रफ्तार से दुकान निर्माण हो रहा था। गली सड़क हर जगह दुकानें बन रही थीं। दुकानें घरों में घुस गई थीं। कई तो अपने घरों को तोड़कर दुकानें बनवा रहे थे। यह बात सहाय जी के उच्चाटन की ओर संकेत करती है। लेकिन रचनाकार ने इसमें विभिन्न सामाजिक संदर्भ भी गूथ दिए हैं।

साम्प्रदायिक एकता का छीजना भी एक कारण बताया गया है। बाजार ने व्यक्ति को अपने तक सीमित ही नहीं बताया है बल्कि मोह-लोभ से अतिशय ग्रस्त कर दिया है। ये परिवर्तन बाजारवाद और उपभोक्तावाद के कारण मानव समाज और मानव-मन में आसानी से देखे जा सकते हैं। लेकिन जिस तरह सहाय चिरैयाकोट छोड़कर गाँव जाते हैं। वहाँ भी स्थितियां इतनी बदल चुकी है जिससे सहाय जी बचते भाग रहे हैं। वे हतप्रभ निश्चेष्ट होकर रह जाते है हतप्रभ कर देना

इस बाजारवादी परिवर्तन का लक्षण है। गाँव में लालच इस रूप में दिखाई देता है कि गाँव के लोग छब्बीस कमरों वाले घर को लक्ष्मी मइया की जय कहते हुए गड़े धन की चाह में तहस नहस कर डालते हैं। जलडमरूमध्य कहानी का एक अंश है ये हुल्लड़ मचाते हुए खुशियाँ मनाते हुए मकान के प्रवेश द्वार पर आकर इकट्ठा हो गए। उन्होंने लक्ष्मी मइया की जय और भारत माता की जय के नारे लगाए और दरवाजे को तोड़ना शुरू कर दिया। दरवाजा टूट गया और वे बकरियों की तरह भीतर घुसने लगे। अंदर आकर वे हिंसक पशु जैसे खूंखार हो गए। यह स्थिति अभूतपूर्व है। इसे नये बनते-बिगड़ते समाज की पहचान के रूप में निरंतर विकसित किया जा रहा है। सुख-लोभ-लालच की अनंत लालसा बाजारवाद और उपभोक्तावाद फैला रहा है। पशु-वृत्तियों को खुला छोड़ देने का ही नतीजा है कि व्यक्ति पशु जैसा आचरण करने लगा है। संस्कृति की उत्तरकथा में शंभुनाथ ने उपभोक्तावाद के बारे में लिखा है उपभोक्तावाद ने आधुनिक युग में धीरे-धीरे पैसे का आदमी से ज्यादा महत्त्व कर दिया है। परिणामस्वरूप मानवीय संबंध और संवेदना के सबसे निश्छल कोनों में भी बाज़ार पहुँच गया है और पैसा अहम हो गया।“

बाजार कैसे जीवन के हर हिस्से पर अपने पंजे गड़ाता जा रहा है। व्यक्ति को उपभोक्ता में बदल रहा है। इसे स्वयं प्रकाश की ‘बलि’ शीर्षक कहानी में

दिखाया गया है। आदिवासी लड़की कैसे उपभोक्ता वस्तुओं के संसार में दाखिल होती है। जिस घर में नौकरानी बनती है उसे वहाँ नयी जीवन शैली मिली। इस जीवन शैली ने उसे अपने ही पुराने संसार से काट कर रख दिया। अतः उपभोक्तावाद और पितृसत्तात्मक समाज की नृशंसता ने उसकी बलि ले ली। इस कहानी का एक अंश है- अब मन ही मन खुद से भी चोरी-चोरी पूछ रही है कि क्या यह बेहतर अभिप्राय नहीं होगा कि खाओ, पिओ, मजा करो, जब तक साहब यहां है, फिर भूल जाओ इसे और कोई दूसरा घर पकड़ लो क्या उसके भासित रूप से सक्षम होते जाने में उसे भीतर से एकदम अक्षम बना दिया है? लड़की को बहुत असहायता का अनुभव हुआ। यह असहायता का भाव बाजार और उपभोक्तावाद मर रहा है। यह मन को जीत लेने की स्थिति है। यही चित्त विजय है, जिसे बाजार विज्ञापन उपभोक्तावाद और नव उपनिवेशवाद अपना लक्ष्य मानता है। इसके उपरात व्यक्ति नितांत असहाय पराजित अनुभव करता है और इस स्थिति से बच पाना दुष्कर ही नहीं कभी-कभी असंभव जैसा भी लगने लगता है। बलि कहानी पर लिखते हुए डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने बाजारू संस्कृति का प्रतिरोध लेख में लिखा है साम्राज्यवाद बाज़ार के जरिए हमारे जीवन आचरण और मूल्यों को बदल और नष्ट कर रहा है। इस पर हिंदी में अनेक रचनाएँ आई है मुझे सबसे पहले स्वयं प्रकाश की बलि की याद आ रही है। यह

लंबी कहानी 'अब' के विशेषांक में छपी थी। इसमें संवेदना की व्याप्ति के चलते प्रकृति और नारी दोनों की बलि का चित्रण था। आदिवासी कन्या जो आदिवासी प्रकृति की ही तरह सहज और निरीह है, पूँजीवादी बढ़ोतरी और सामंती मानसिकता का ग्रास होती है। बाजार हमारे समय का अभिशाप ही नहीं नियति भी बनता जा रहा है। कभी-कभी लगता है कि सामाजिकता पर आधारित मूल्यों के संघर्ष में हमारा देश पराजित हो गया। लेकिन यह भी सच है कि संघर्ष जारी है। देश के हर कोने में विशेषतः सुदूर क्षेत्रों में जहाँ पूँजीवाद का शिकंजा भी पूरी तरह कसा नहीं है, शुरुआत हो रही है। पूँजीवाद की बाजारू संस्कृति हमारे मानवीय, सामाजिक पारम्परिक मूल्यों का सफाया करती है, जैसे वह प्रकृति, प्राकृतिक साधन स्रोतों, बोलियों, कलाओं का सफाया करती है।

बाजारवाद-उपभोक्तावाद के चलते ही जो मानवीय वांछनीय है उसे पिछड़ा हुआ और अप्रासंगिक बना दिया जाता है। मनोज रूपड़ा की कहानी साज-नासाज में संगीत के वाद्य यंत्रों में नये यंत्र आने से पुराने यंत्र और उनसे जुड़े लोगों को उपेक्षित बना दिया है। साज नासाज कहानी का एक अंश दृष्टव्य है- "तुम इसे जानते हो? उसने की-बोर्ड की तरफ इशारा करते हुए मुझसे पूछा। मैंने कुछ सोचते हुए कहा, यह एक जापानी सिंथेसाइज़र है नहीं उसने ऊँची आवाज

में कहा, यह एक तानाशाह है! हत्यारा है! इसी की वजह से दास बाबू और फ्रांसिस की जान गई... यही हम सबकी बदहाली का एकमात्र जिम्मेदार है।"

यह परिवर्तन निर्मम है। यह नहीं देखता कि बाजारवाद और उपभोक्तावाद किन रूपों में बृहत मानव समाज और मानव मन को तोड़-फोड़ रहा है। कहानी में यह दर्ज भी किया गया है। बाजारवाद और उपभोक्तावाद यूज एंड थ्रो की संस्कृति को बढ़ावा देता नया उपकरण पुराने उपकरण को, उससे जुड़े मनुष्य को अप्रासंगिक-गैर जरूरी बना देता है बाजार का आतंक आज की कहानी पर दिखाने के लिए पूरा एक शोध प्रबंध भी कम पड़ जाएगा। इसलिए विषय का समाहार करते हुए कहा जा सकता है कि वर्तमान कहानी बाज़ारवाद के दुष्प्रभावों के प्रति सचेत और सक्रिय होकर उसका विरोध कर रही है। यहाँ केवल कुछ उदाहरणों की सहायता से अपनी बात को प्रस्तुत भर किया है।

वर्तमान हिंदी कहानी में जाति और लिंग आधारित शोषण के रूप

साहित्य के मूल में करुणा का भाव सदैव से रहा है। जो कष्ट में है उसके कष्ट को अपना कष्ट मानते हुए उसे सबका साझा कष्ट बनाना या उसका तादात्म्य कराना और उसके दूर करने की इच्छा भी साहित्य सर्जना में रही है। भारतीय समाज अनेक विषमताओं और उनसे पैदा अभाव और शोषण से ग्रस्त रहा है। यह अभाव और शोषण कम होने के स्थान पर बढ़ा है। लेकिन पूर्ववर्ती शोषित और वर्तमान शोषित में चेतना और विरोध के स्तर पर व्यापक परिवर्तन भी आया है। अब शोषित चुपचाप शोषण को सहन करते रहने की मनस्थिति को त्याग रहा है। शोषण का प्रसार हमारे समाज में बहुत है। इस प्रसार के कारण जो शोषित नहीं है वह भी इस शोषण को दर्ज कर रहा है। शोषण के रूप और तरीके भी हमारे समाज में अगणित हैं। अनेक नए रूप और तरीके वर्तमान भूमंडलीकृत समाज ने भी पैदा किए हैं।

जाति और लिंग आधारित शोषण समाज में जितना पुराना है, उतना साहित्य में नहीं। लेकिन साहित्य में भी आदिकाव्य के साथ ही अभाव और

परपीड़ा को दर्ज किया जा रहा है। चेतना और समाज की जागरूकता के साथ इस चेतना में वृद्धि हुई है। लेखन के स्तर पर शोषण का चित्रण और विरोध विपुल मात्रा में होने लगा है। इसलिए अब इसकी अपनी स्वतंत्र धाराएँ भी दिखने लगी हैं। पिछले दो तीन दशकों से इन्हें विमर्श के साथ जोड़कर पुकारा जाने लगा है। जैसे स्त्री सम्बन्धी शोषण और विरोध को दर्ज करने वाला साहित्य अब स्त्री विमर्श के नाम से पहचाना जाता है। लेकिन इस तरह का लेखन करने वाले सभी रचनाकार अपने लिए इस पहचान को अपनाने के लिए तैयार नहीं हैं। इसी तरह जाति आधारित शोषण और उसका प्रतिकार करने वाले साहित्य को दलित विमर्श की संज्ञा दी जाने लगी है।

वर्तमान हिंदी कहानी में भी जाति और लिंग आधारित शोषण के अनेक रूपों का चित्रण और विरोध देखने को मिलता है। समाज के आपसी सम्बन्ध जितने जटिल होते जा रहे हैं उतने ही जटिल शोषण-रूप भी देखने को साहित्य में मिलने लगे हैं। स्त्री-पुरुष दोनों ही तरह के रचनाकारों ने लिंग आधारित शोषण को अपनी संवेदनाएं दी हैं। दलित और गैर-दलित रचनाकारों ने भी जाति आधारित शोषण को सामने लाने और उस शोषण के प्रति समाज में विरोध भाव जगाने का काम किया है।

इस शोध पत्र में वर्तमान कहानी के नए और कुछ पुराने रचनाकारों की कहानियों को सामने रखकर जाति और लिंग आधारित शोषण पर चर्चा की जाएगी।

समाज में जाति को लेकर जो अमानवीय ढाँचा सदियों से बना हुआ था, वह मंडल कमीशन के बाद दरकने लगा। मंडल कमीशन सदियों से बने अमानवीय ढांचे पर एक बड़ी चोट थी। इस सकारात्मक कदम के चलते दलित वर्ग की उन्नति हुई। जाति पर आधारित इस शोषण पर आरंभ से ही कहानियाँ लिखी गई। प्रेमचंद की 'सद्गति' किसे याद नहीं है। साहित्य की लोकतांत्रिकता राजनीति की लोकतांत्रिकता से व्यापक मानी जाती है। इसलिए इस दौर में इतिहास-विरोधी सवर्ण मानसिकता वाले समाज के हिस्से जो यह 'यातना' आई उसे भी वर्तमान कहानी ने दर्ज किया। नब्बे के दशक में इस आरक्षण विरोधी मानसिकता और उसमें सवर्ण ब्राह्मण की इतिहास विरोधी यातना को हृदयेश ने 'मनु' कहानी में दर्ज किया। इस समयावधि में दलित विमर्श ने आंदोलन का रूप लिया। अपने भीतर के जातिवाद को भी दलित कहानीकारों ने प्रकट किया। जाति आधारित कहानियों का स्वरूप इन वर्षों में एक सा नहीं रहा। इस विकास क्रम को कुछेक कहानियों की मदद से यहाँ देखने की कोशिश की जा रही है।

दलित चेतना का विमर्श और फिर आंदोलन का रूप लेना दलित समाज के सामाजिक आर्थिक उत्थान की परवर्ती घटना है। यह उत्थान शिक्षा और रोज़गार से जुड़ा हुआ है। दलित चेतना ने सदियों से चले आ रहे अपमान और शोषण का प्रतिकार किया है। रत्नकुमार सांभरिया की कहानी 'बकरी के दो बच्चे' में शोषण का बदला क्रूर दानसिंह को जेल भेज कर शर्मचंद लेता है। दानसिंह अपने अहंकार में दलित समाज के लोगों और भेड़-बकरियों को जीव ही नहीं मानता है। कहानी में दानसिंह का कथन है-

"रामदुलारे को शर्मचंद की सब बातें दैनन्दिन-सी लगीं लेकिन दानसिंह की यह उक्ति कि देड़ और भेड़ को हम जीव नहीं मानते उसे गहरे तक काट गयी।"[1]

एस. आर. हरनोट की कहानी 'जीनकाठी' में गाँव की प्रथा अनुसार दलित को देवता बनाकर पूजने का रिवाज है। लेकिन यह रिवाज भी सवर्णों ने गाँव पर विपत्ति न आए इस कारण से चला रखा है। कहानी का एक अंश है-

"इस बार वह जोर से हँस दिया कैसा देवता कौन सा देवता मैं तो एक अछूत हूँ। कठपुतली मात्र हूँ। सारे पुण्य तो तुम सभी के लिए हैं। अपने स्वार्थ के लिए ऊँचे लोगों ने भी क्या-क्या परपंच रचे हैं।"[2]

इस प्रथा के बाद सहज राम ने शर्मा जी से अपने और अपने परिवार के रहने के लिए जमीन माँगी। जो अंततः शर्माजी को देनी पड़ी। लेकिन स्थिति का

दूसरा पक्ष भी काफी जगह देखने को मिल जाता है। मोहनदास नैमिशराय की कहानी ‘अपना गाँव’ में कबूतरी को उसके पति के कर्ज न चुकाने के चलते गांव में नंगा कर घुमाया गया। ठाकुरों ने यह किया और सब देखते रहे। अब सब दलित परिवार गाँव छोड़ दूसरा गांव बसाने की बात सोचते हैं। कबूतरी अपनी विपदा कहती है-

“आँसुओं के साथ उसका कातर स्वर उभर रहा था भइया मेरा तो गाँव में कोई भी नई है। मुझे ठाकुरों ने नंगा कर दिया और सब देखते रै गए।”[3]

गाँव का सबसे वृद्ध व्यक्ति हरिया इस घटना के बाद अपने सब के लिए नया गाँव बसा लेने की सलाह देता है। यह गाँव जाति मुक्त गाँव होगा। कहानी जाति मुक्त समाज के निर्माण की ओर संकेत करती है। दलित समाज में आ रहे परिवर्तनों पर दलित रचनाकार आलोचनात्मक ढंग से लिख रहे हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी ‘शवयात्रा’ में दलितों द्वारा अपने भीतर दलित समाज की उपस्थिति और शोषण को सामने लाते हैं। सूरजपाल चौहान की कहानी ‘नया ब्राह्मण’ दलित समाज के आर्थिक उन्नयन के बाद अपने समाज से कट जाने और व्यक्तित्वांतरण की कहानी है। कहानी में मंगलू राम खुद को दलित समाज से काट लेता है। साथ ही दलित चेतना और बाबा साहेब अंबेडकर का भी मजाक उड़ाता है। कहानी का एक अंश है-

“उसने अपना नाम भी मंगलू राम वाल्मीकि से एम.आर.बाली रख लिया। अचम्भे की बात थी कि वह बात-बात में अपने समाज के लोगों का उपहास करता।”[4]

इस तरह सूरजपाल चौहान उसे नया ब्राह्मण कहते हैं। यह जाति आधारित शोषण का नया रूप है। जिसमें जो पहले भोक्ता था अब वह शोषणकर्ता हो रहा है। कहानी में मंगलू राम गाँव से आए अपने ताऊ के साथ खराब व्यवहार करता है। संपन्न हो जाने के बाद वह अब खुद को शोषक की भूमिका में ले आया है।

वर्तमान समाज में जाति के शोषण के आधर पर कुछ बड़े परिवर्तन जरूर हो रहे हैं लेकिन एक ओर इनका बढ़ना भी जारी है। परिवर्तन और उसका विरोध एक साथ दर्ज किया जा रहा है। जातिवादी मानसिकता के वर्तमान में व्याप्ति के संबंध में सुभाषचंद्र कुशवाहा ने लिखा है-

“इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर खड़ा भारत का पढ़ा लिखा तबका जातिवादी मानसिकता से उबर नहीं पाया है। पंजाब, हरियाणा जैसे समृद्ध राज्यों में दलित महिलाओं के साथ सामूहिक बलात्कार हो रहे हैं और पानी माँगने पर पेशाब पिलाया जा रहा है। स्कूलों में ‘मिड डे मील’ योजना के तहत दलितों द्वारा पकाया खाना गैर दलित नहीं खा रहे हैं।”[5]

दलित चेतना आने से सवर्ण समाज का व्यवहार एकाएक नहीं बदल गया। लेकिन इस चेतना ने सवर्ण समाज के एक हिस्से को दलित समाज का सहचर बना दिया। ऐसी स्थिति में दलितों को मिलने वाली यातना को सवर्ण समाज ने भी जाने-अनजाने झेला। शिक्षा और नौकरी मिलने से दलित समाज ने खुलकर सवर्ण समाज के द्वारा लादी गई अमानवीय रीतियों को मानने से इनकार कर दिया। सलाम एक ऐसी ही प्रथा है। जिसमें नवविवाहित वर-वधू को सवर्णों के दरवाजे पर जाना पड़ता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'सलाम' कहानी में सवर्ण समाज के इस अत्याचार और दलित समाज में परिवर्तन की लहर दोनों को दिखाया गया है। कमल अपने दोस्त हरीश की शादी में उसके गाँव आया हुआ है। सुबह चाय की तलब में वह बाहर घूमने निकलता है। चाय की गुमटी में घुसता है। चाय बनने की तैयारी चल रही है। कमल चाय पिलाने के लिए चाय वाले से कहता है। वह भट्टी सुलगाने लगता है। लेकिन जब बातचीत में चाय वाले को मालूम पड़ता है कि वह देहरादून से कल रात चूहड़ों की बारात में आया है। तो उसे चाय नहीं देता। बाद में कमल अपमानित होकर बच-बचाकर वहाँ से आ जाता है। कमल जब अपनी जाति (ब्राह्मण) बताता है तो लोग उसे और अपमानित करते हैं। कमल अंततः इस यातना को सहकर लौट आता है।

दलित चेतना से आहत सवर्ण और हिंसक-क्रूर होकर भी सामने आ रहे

हैं। कहानी का यह अंश परिवर्तन की लहर के साथ उस कट्टरता को भी दिखाती है। हरीश पढ़ा-लिखा है। वह इस कुप्रथा को बंद करना चाहता है। उसकी यह बात गाँव में हलचल मचा देती है। सवर्ण (रांघड़) इसे अपना अपमान समझते हैं।

इस कहानी के संबंध में भालचन्द्र जोशी ने लिखा है-

"सलाम कहानी का हरीश विवाह के बाद सवर्णों के घर जाकर सलामी देने और बख्शीश पाने की पुरानी प्रथा का विरोध करता है। हरीश पढ़ा-लिखा युवक है। लेकिन यह विरोध महज एक शिक्षित युवा का निजी विरोध भर नहीं है। यह एक समूची पीढ़ी का कुप्रथा के खिलाफ आक्रोश है।"[6]

दलित विमर्श इसी जाति आधारित गतकालिक सामाजिक व्यवहारों, रीतियों आचरणों के खिलाफ समूची पीढ़ी का आक्रोश ही है। भारतीय समाज की जाति-संरचना में विभिन्न स्तरों पर शोषण के नाना रूप हैं। जाति के भीतर और बाहर भी इस प्रकार के शोषण छिपे हुए हैं। इसे भी दलित रचनाकारों ने उभारा है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी शवयात्रा इस दलित-लेखन का अगला पड़ाव है। जातिवाद सिर्फ तथाकथित उच्च वर्ण के लोगों द्वारा दलित समाज के शोषण अपमान तक ही सीमित नहीं है। बल्कि वह दलित समाज द्वारा अपने ही भाई-बंदों को अपने से निम्न समझने की स्थिति में भी है। 'शवयात्रा' कहानी

तथाकथित अछूतों में अछूतों की कहानी है। चमारों के गाँव में बल्हारों की यह कहानी है। बल्हारों का एक परिवार जोहड़ के पार रहता है। सुरजा का बेटा कल्लन रेलवे में नौकरी करता है। शहर से कभी कभार ही गाँव आता है। सुरजा के साथ उसकी विधवा बेटी सन्तो रहती है। घर जर्जर है। कल्लन सुरजा संतो को शहर ले जाना चाहता है। लेकिन सुरजा इसी माटी में मरना चाहता है। बेटे से जर्जर घर पक्का बनवाने के लिए कहता है। बेटा कल्लन पत्नी और बेटी सलोनी के साथ नया घर बनवाने के लिए गाँव आता है। गाँव के प्रधान आदि लोग कल्लन के नए घर बनने को अपना अपमान समझते हैं। गाँव के लोग कल्लन की बेहतर आर्थिक स्थिति से निर्मित अच्छी सामाजिक स्थिति को स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं।

अभी भी जातिगत विद्वेष खत्म नहीं हुआ है। दलित और आरक्षण विरोधी मानसिकता अभी भी बनी हुई है। अनिता भारती की कहानी 'एक थी कोटे वाली' इसी आरक्षण विरोधी मानसिकता को सामने लाती कहानी है। यह कहानी जातिगत विद्वेष, गुणवत्ता के नाम पर आरक्षण विरोध की बात एक साथ सामने रखती है। जातिवाद कैसे समाज के भीतर घुस चुका है इसे इस तरह की कहानियाँ दिखाती है। रजत रानी 'मीनू' की कहानी 'हम कौन हैं' जाति अथवा सरनेम के विमर्श को सुशिक्षित माने जाने वाले समाज में पब्लिक स्कूलों में दिखाता है।

कहानी का एक अंश है-

"मम्मी फिर मेरा सरनेम क्या है, आपने सरनेम क्यों नहीं लगाया, बताओ न, वालिंयटर दीदी कह रही थीं, जो सरनेम नहीं लगाते, वह नीची जाति के होते हैं, जाति क्या होती है, मम्मी हमारा सरनेम क्या है, हम कौन हैं मम्मी।"[7]

इन घुलीमिली वास्तविकताओं को दलित समाज की कहानियों में सामने लाया जा रहा है। वास्तविकता एकरूपी नहीं है। कोई भी एक कथन इस तरह की कहानियों को संपूर्णता में नहीं बता सकता। अतः उपर्युक्त कहानियों के माध्यम से इस समाज के एक हिस्से को समझने की कोशिश की गई।

वर्तमान दौर में स्त्री रचनाकारों द्वारा अथवा स्त्री-पुरुष संबंधों में शोषण के नए रूपों पर विभिन्न रचनाकारों ने खूब लिखा है। सामंती पूंजीवादी जड़ताओं में स्त्री की वही स्थिति है जो जातिग्रस्त समाज में दलित की है। वर्तमान समाज इस संबंध व्यवस्था में निहित ऊँच-नीच शोषण अपमान को खत्म करना चाहता है। लेकिन यह इतना आसान नहीं है। इस दौर में रचनारत कहानीकारों ने समाज और संबंध व्यवस्था में छिपी अमानवीयता अपमान शोषण को रचना का विषय बनाया है। इसमें पहले से ही सामंती स्थितियों के साथ नयी बाज़ारवादी स्थितियाँ आ मिली हैं। इन स्थितियों से स्त्री को वस्तु के रूप में रिड्यूज कर दिया है।

वर्तमान स्त्री-विमर्श इन दोनों स्थितियों पर चोट कर रहा है। वह संबंध के समान समतामूलक सम्मानजनक रूप की तलाश कर रहा है। आर्थिक स्वातंत्र्य और निर्णय के अधिकार को स्त्री-चेतना और आंदोलन से जुड़े रचनाकारों ने पहचाना है और इसे कहानी में दिखाना बताया है। अरुण प्रकाश की दो कहानियों 'अच्छी लड़की' और 'बहुत अच्छी लड़की' के माध्यम से वर्तमान स्त्री चेतना की शिनाख्त कर सकते हैं। बदलते हुए समाज में बदलती हुई स्त्री की दो छवियाँ। पहली कहानी में घर, परिवार, माँ, भाई के लिए निरंतर कुर्बान होती नीलम और दूसरी कहानी में पति की मृत्यु के बाद अपनी बेटी को मिसेज कापड़िया को गोद देकर नया जीवन शुरू करने वाली अनिता राव, दोनों कहानियों को आमने-सामने रखकर दो तरह के जीवन-दर्शन बताए गए हैं। पहले में नीलम आर्थिक स्वतंत्र है पर अपनी इच्छाएँ, सपने उसके अपने नहीं हैं। अपनी जिंदगी के सबसे बड़े, जरूरी निर्णय वह संभवतः खुद नहीं कर सकती। वह गाड़ी और घर भले ही खरीद ले लेकिन तीस से पैंतीस, फिर छत्तीस, सैंतीस, अड़तीस साल की होकर भी अपने लिए शादी का समय, प्यार का समय नहीं निकाल पाती प्यार से उसे अपनी छवि खराब होने का डर है, इसलिए वह भी नहीं हो पाता। आत्म-निर्भर है लेकिन आत्म चेतस नहीं है, वह भावुक, डरी हुई लड़की है।

नीलम अंततः अपनी जिन्दगी का अहम् फैसला खुद नहीं ले पाती। घर

वाले उसकी आर्थिक सम्पन्नता को अपने लिए भुनाते रहते हैं, वह निरंतर इसमें खुद को होम करती रहती है। यह एक अच्छी लड़की की कहानी है। जो आर्थिक पराधीनता से तो बाहर है। लेकिन मानसिक पराधीनता से नहीं। दूसरी कहानी 'बहुत अच्छी लड़की' में ये दोनों कमियाँ नहीं हैं। वह आर्थिक मानसिक स्वतंत्रता से लैस है। अनिता राव आत्म चेतस व्यावहारिक, कुशल और भावुकता से रहित है। वह पति की मृत्यु के बाद अपनी जिजीविषा को समेटती है। फिर से जीवन को व्यवस्थित बनाए रखती है। जवान विधवा और एक बेटी की माँ का तमगा वह नहीं लगाए रखना चाहती। उसकी अपनी भी इच्छाएँ हैं, वह हृदयहीन नहीं लेकिन व्यावहारिक है। यह आत्म निर्भर और आत्म चेतस स्त्री का कथन है। जो दुखों के दागों को तमगे की तरह नहीं पहनना चाहती, बल्कि जिन्दगी को दोबारा बेहतर स्थिति में लाने की पक्षधर है। भावुकता रहित व्यावहारिक स्त्री की आवाज़ अनिता राव है। महादेवी वर्मा ने स्त्री के 'अर्थ-स्वातंत्र्य का प्रश्न' शीर्षक से एक निबंध लिखा है। यह लेख 'शृंखला की कड़ियाँ' पुस्तक में संकलित है। लगभग 1935 में लिखा गया यह निबंध स्त्री की आर्थिक स्वाधीनता को उसके जीवन की विषमता को कम करने वाला महत्त्वपूर्ण साधन बताता है। महादेवी वर्मा लिखती हैं-

"शताब्दियाँ की शताब्दियाँ आती जाती रहीं परंतु स्त्री की स्थिति की एकरसता

में कोई परिवर्तन न हो सका। किसी भी स्मृतिकार ने उसके जीवन की विषमता पर ध्यान देने का अवकाश नहीं पाया। किसी भी शास्त्रकार ने पुरुष से भिन्न करके उसकी समस्या को नहीं देखा। अर्थ सामाजिक प्राणी के जीवन में कितना महत्त्व रखता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।"[8]

स्त्री के प्रति समाज का दृष्टिकोण कमोबेश अब भी मध्यकालीन विचारों से भरा पड़ा है। बाज़ार ने आकर उसमें इजाफा ही किया है। स्त्री शरीर को भोगने और घूरने की सामग्री बना दिया गया है। किस तरह आम जिंदगी में एक स्त्री और लड़की पुरुष की नज़रों और मानसिकता का सामना करती है इसे आज की कहानियों में खूब दिखाया गया है।

पुरुष समाज लगातार स्त्री के प्रति अमानवीय भी होता जा रहा है। वह पुरानी सामंती सोच को बड़े फर्क के साथ ढो रहा है। सोनाली सिंह की कहानी 'क्यूटीपाई' में पुरुष समाज के भीतर बैठे पूर्वाग्रह को उजागर किया गया है। जो तुरंत स्त्री को दुष्चरित्र ठहराकर अपने अहंकार की तुष्टि कर लेना चाहता है।

"कभी कभार न्यूज पेपर और मैग्जीन वगैरह में उसके फोटोग्राफ से जरूर मुलाकात हो जाया करती थी। उसने मॉडलिंग में रुचि दिखानी शुरू कर दी थी। शगुन को लेकर उन सिरफिरे महाशय से मेरी अब भी तकरार चला करती थी। 'आई थिंग फिल्मों में' काम करने के चक्कर में है। चलो सी ग्रेड फिल्मों की

हीरोइन तो बन ही सकती है। 'जी नहीं, वह अपनी पढ़ाई का खर्चा निकाल रही है। पढ़ाई का खर्चा तो वैसे ही निकल आता होगा 'जिस लड़की की जिंदगी में इतना इमोशनल डिसबैलेंस रहा हो, अगर वह अधिकाधिक पैसा कमाकर अपना फ्यूचर सिक्योर करना चाहती है तो इसमें बुराई क्या है।"[9]

स्त्री चेतना के बढ़ने के साथ-साथ स्त्री विरोधी मानसिकता भी बढ़ती जा रही है। पढ़े लिखे समाज में भी। स्त्री के स्वाधीन होने और अपनी इच्छा से जीने को बाज़ार अपने हिसाब से मोड़ रहा है वहीं पुरुष समाज उसकी हर गतिविधि को चरित्रहीनता के रूप में व्याख्यायित करता है।

विवाह व्यवस्था का वर्तमान स्वरूप शोषणपरक है। यह पहले भी बहुत मानवीय नहीं रहा है। समाज में स्त्री के प्रति जैसा रुख होगा वैसा ही विवाह संस्था का ढाँचा होगा। उसके शोषणपरक होते जाने का भी यही कारण है। इस समय लिखी जा रही कहानियों में विवाह संस्था पर प्रश्नचिह्न लगाने वाले स्त्री पात्र भी इसीलिए काफी मिलते हैं। संजीव की कहानी 'मानपत्र' में विवाह संस्था पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है। इसी तरह की एक कहानी क्षमा शर्मा की 'रास्ता छोड़ो डार्लिंग' है। इस कहानी में स्त्री देह पर सिर्फ उसके अधिकार और लाभ अर्जित करने की बात कही गई है। कहानी की एक पात्र केशा अपनी महिला मित्र से बताती है कि वह विवाह संस्था में पति द्वारा देह के भोगने को अपने लिए सुरक्षित

करके 'लाभ' अर्जित कर रही है। लेकिन यह चुनाव क्या सीधे सीधे बाज़ार की शरण में जाना नहीं है, यह विकल्प बाज़ार पोषित विचार अधिक लगता है।

स्त्री अधिकारों के लिए आर्थिक स्वतंत्रता पहली सीढ़ी है, दूसरी है मानसिक स्वतंत्रता और निर्णय लेने का अधिकार। वर्तमान समाज में इन दोनों स्थितियों के अभाव और उसके लिए संघर्ष दोनों विद्यमान हैं। स्त्री विषयक और स्त्री रचनाकारों द्वारा लिखी गई कहानियाँ कमोबेश इन्हीं स्त्री आकांक्षाओं को बयान करती हैं। स्त्री को सामाजिक विषमता और शारीरिक भिन्नता के चलते जितने कष्ट यातना सहनी पड़ती है, उसे स्त्री पुरुष रचनाकारों ने खूब दिखाया है। इसी तरह स्वयं प्रकाश की कहानी 'बलि' में एक ग्रामीण आदिवासी लड़की के बाज़ार और सामंती समाज द्वारा दोहरे शोषण को दिखाया बताया गया है। बाज़ार आजादी की मृगमरीचिका दिखाता जरूर है। लेकिन उपलब्ध नहीं करवाता। इच्छाओं और अनुभवों के विस्तार के बाद बाज़ार उसे निर्वासित कर देता है। शादी के बाद वह उसी सामंती पृष्ठभूमि में आ जाती है। पति अपनी इस शहराती-सी पत्नी पर अमानवीय अकथनीय अत्याचार अपने अहम् की तुष्टि के लिए करता है। अंततः वह अपना जीवन समाप्त कर लेती है। खुद को खत्म करने से पहले वह पति से रोज पिटती रही सोचती रही कि शायद अब यह यातना बंद हो।

चित्र मुद्गल ने ‘लकड़बग्घा’ कहानी में पुरुष समाज के शोषण और स्त्री पराधीनता को दिखाया है। इस कहानी में पछांहवाली अपनी बहन के बच्चों की तरह अपनी बेटी पुनिया को भी खूब पढ़ा-लिखाकर डाक्टर बनाना चाहती है। लेकिन सवर्ण-सामंतवादी पुरुष समाज और इसके पैरोकार लम्बरदार (उसके जेठ) उसे गोली मारने पर उतारू हो जाते हैं। अगले दिन पछांहवाली को सुबह जंगल से लकड़बग्घा उठा ले जाता है। कहानी में पछांहवाली लम्बरदार से लड़ती है, अपनी बेटी को किसी भी तरह शिक्षित देखना चाहती है, अपनी स्थिति से अच्छी स्थिति में देखना चाहती है। लेकिन जेठ लम्बरदार इसे अपना अपमान समझता है। यह तरीका स्त्री की आर्थिक सबलता को रोकता है। आर्थिक पराधीनता को बनाये रखने के लिए यह जरूरी है कि शिक्षा से भी वंचित रखो।

पुरुष मानसिकता और राजनीति मिलकर कैसे स्त्री का शोषण कर रहे हैं इसे मैत्रेयी अपनी कहानी फैसला में दिखाने की कोशिश करती हैं। राजनीति में स्त्रियों के आरक्षण को अपने लाभ के लिए पुरुषों ने उन्हें राजनीति में अपना मोहरा बनाकर उतारना शुरू कर दिया है। बदली हुई परिस्थितियों को अपने हिसाब से मोड़ने के रूप में इसे देखा जा सकता है। स्त्री पर होने वाले शोषण दूर होने के बदले इसीलिए बदस्तूर जारी हैं। फैसला कहानी में वसुमति जब चुनाव में खड़ी होती है तो गाँव की स्त्रियाँ यही सोचती हैं कि अब उनके ऊपर होने वाले

शोषण खत्म हो जाएँगे। लेकिन ऐसा नहीं होता है। कारण है कि वसुमति की जगह सारे निर्णय उसका पति लेता है। और हस्ताक्षर उसके चलते हैं। अगर वसुमति को अधिकार मिल जाते तो गाँव की स्त्रियों के जीवन में से शोषण कुछ कम हो जाता।

लेकिन जब ऐसा नहीं हो पाता तो वसुमति अपने पति को वोट न देकर आगे चुनाव में हरवा देती है। यह उसका प्रतिशोध है। जो वह पति से लेती है। यह उसके मुक्ति का रास्ता भी है। दलित स्त्री जहाँ स्त्री होने का शोषण सहती है वहीं दूसरी ओर वह दलित होने का दंश भी झेलती है। कई बार यह यातना देने वाले उसके अपने संबंधी होते हैं। सूरजपाल चौहान की कहानी 'बदबू' में संतोष के साथ उसकी सास और पति ही इस शोषण के स्रोत बन जाते हैं। उसे मजबूर होकर मल-मूत्र ढोना पड़ता है। कहानी का एक अंश है-

"उसे अब भी ऐसा लग रहा था, जैसे उसका पूरा शरीर मल-मूत्र में लथपथ हो। हाथों की उंगलियाँ, जो गंद से सन गयी थीं, उन्हें वह काटकर अलग कर देना चाहती थी।"[10]

स्त्री जीवन मानव जाति की आधी आबादी का जीवन है। इस जीवन को विषम सामाजिक व्यवस्था ने नाना रूपों में शोषित बनाया हुआ है। बेटी के जन्म लेने से पहले ही उसके साथ अत्याचार होना शुरू हो जाना है। आधुनिक चिकित्सा

प्रणाली से पूर्व जन्म के बाद बेटियों का मार डाला जाता था, लेकिन अब जाँच के बाद ही, भ्रूण हत्या करवा दी जाती है। यह शोषण जीवन के हर हिस्से में किसी न किसी में जारी रहता है। पुरुषवादी मानसिकता और विषमताग्रस्त समाज, दहेज आदि स्थितियों के चलते ये अत्याचार बहुत दिनों से चल रहे हैं। लड़की के जन्म को मातम में बदल देने की स्थितियाँ समाज में अब भी मौजूद हैं। स्थितियों के बदलने के बाद ही मनःस्थिति बदली जा सकती है। फिर भी परिवर्तन आया है। जड़ मानसिकता और समाज में आ रहे सकारात्मक परिवर्तन की कहानी है सुषमा मुनीन्द्र की 'मेरी बिटिया'।

घर में यह दूसरी बेटी का जन्म हुआ है। प्रत्याशा बेटे की थी, जाँच भी करवायी थी। लेकिन जब बेटी हुई तो जश्न की जगह मातम ने ले ली। सभी देखने-सुनने वाले पिता दयाल के दुर्भाग्य को कोसने लगे। लेकिन स्थिति बदलती है। दयाल अपने पिता तथा डाक्टर की बातें सुन बेटी जन्म का जश्न मनाता है। इसे देख बाकी लोग स्तब्ध होने लगते हैं। लड़की को बोझ यह समाज ही बनाता है। दयाल इस भावबोध से बाहर निकलकर अस्पताल में मिठाई बाँटता है। नर्स भी संकुचित हो जाती है। उसे यह परिवार कुछ परेशान लग रहा था। लेकिन कई बार भावबोध बदलने से भी समाज की (बाहरी) स्थितियाँ बदलने लगती हैं। कहानी का एक अंश है

"सिस्टर ये लीजिये। घर में लक्ष्मी आई है। नर्स सकुचा सी गई- नहीं...नहीं...आप पहले ही परेशान हैं। कैसा परेशान जन्म किसी का भी अफसोस करने के लिए नहीं होता। उत्सव मनाने के लिए होता है, स्वागत करने के लिए होता है।"[11]

यह परिवर्तन कतई अविश्वसनीय नहीं है। लेकिन पूरे समाज को इस वांछित परिवर्तन की स्थिति में पहुँचने में अभी और समय लगेगा। प्रकृति ने स्त्री शरीर को पुरुष शरीर से भिन्न निर्मित किया है। यह भिन्नता उसका वैशिष्ट्य है। लेकिन पुरुषवादी समाज ने इसे उसकी कमजोरी बना दिया। इस कमजोरी का लाभ घर-बाहर का पुरुष समाज बराबर उठाता रहा है। घर में पिता, भाई, पति, पुत्र, अन्य सगे संबंधी, बाहर के परिचित-अपरिचित लोग स्त्री पर अत्याचार करने के लिए उसके शरीर को सबसे पहले निशाना बनाते हैं। कमल कुमार की कहानी 'पुल' में बेटी को उसके पिता अपनी हवस का शिकार बनाते हैं। यह यातना उसे शादी के बाद भी याद रहती है। यह शोषण और यातना की स्मृति का पुल है। समय के बदलते रूपों ने शोषण के भी रूप बदल दिये हैं। पुराने के साथ नए रूप में शोषण स्त्री-समाज झेल रहा है, उसे भी कहानियों में व्यक्त किया जा रहा है। इसी के साथ-साथ जीवन के विभिन्न राग-रंगों को भी स्त्री रचनाकारों ने कहानियों में उभारा है। हिन्दू और मुस्लिम समाज में स्त्री की इच्छा के बिना

उससे शादी का प्रचलन है। यह भी पितृसत्तात्मक समाज के वर्चस्व और शोषण का चिराचरित रूप है। 'गूँगा आसमान' में नासिरा शर्मा ने इसी तरह के निकाह की अमानवीयता की ओर इशारा किया है। लेकिन पुरुष ने अपने बल, प्रचार और समाज के पुरुषवादी स्वरूप का लाभ उठाकर औरत को ही गलत रूप में प्रस्तुत कर दिया। फरशीद बड़ा अधिकारी है। मेहरअंगीज समेत उसकी चार बीवियाँ हैं। मेहरअंगीज उस निकाह नामे को फाड़ कर उन तीन बीवियों को अपने पति की गिरफ्त से निकाल आजाद कर देती है। लेकिन पति उसे ही बदनाम कर देता है।

राज व्यवस्था और परिवार व्यवस्था सरंक्षण के नाम पर भी अपने भीतर चलने वाली शोषण की प्रक्रियाओं को जारी रखती है। इस व्यवस्था में रहने वाला इसके विकल्प को नहीं खोज पाता। फलतः यह शोषण दुर्निवार होता जाता है। सीमा श़फक की कहानी 'मोहे अगले जनम फिर औरत कीजो' में करीम शेख और उसकी पत्नी का संबंध पीटने वाले और पिटने वाले का संबंध है। उसकी पत्नी का अंतिम शरण्य यह घर है। जहाँ हर रात वह मार खाती है। तीन बच्चों की खातिर वह इसी व्यवस्था में रहने के लिए अभिशप्त है। एक दिन दाल मण्डी में दलाल का काम करने वाले करीम शेख का खून वहीं रहने वाली बसन्ती कर देती है। बसन्ती कचहरी में जो बयान देती है, वह करीम की पत्नी के

मुँह पर तमाचा है जो मार खाकर भी इसी व्यवस्था में रहती है। वह कचहरी में करीम शेख को मार डालने का कारण बताते हुए बयान देती है-

"मेरे पेट में मेरा बच्चा साब मेरा खून...मैंने उसे समझाया तो हरामी गाली गलौज पे उतर आया। जबरदस्ती पे उतर आया...मैं रंडी ही सही पर क्या मेरी कोई इज्जत नहीं...मेरी ख्वाहिश के बिना कोई मुझे कैसे छू सकता है।"[12]

बसन्ती के बयान में विषम अत्याचार पूर्ण परिवार संस्था पर भी चोट की गई है। बाज़ार शोषण के रूप से मुक्त करा कर शोषण के दूसरे रूप के हवाले कर देता है। यह बात मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी 'कालिन्दी' को पढ़कर जाना जा सकता है। देह व्यापार से अगर कालिन्दी 'मुक्त' भी होती है तो वह दूसरे रूप में चली जाती है। यह दूसरा क्षेत्र मॉडलिंग का है।

कार्य क्षेत्र में स्त्रियों के प्रति जो शोषण की घटनाएँ इतनी तेजी से होने लगी हैं उसके पीछे भी पुरुष समाज की पुरानी धरणा काम कर रही है। जिसमें वह कैसे भी स्त्रियों के सार्वजनिक क्षेत्र में आने को हतोत्साहित कर देना चाहता है। शोषण का एक नया रूप उच्च अधिकारी द्वारा अपने अधीन महिला कर्मचारी को पदोन्नति के आश्वासन में उसका दैहिक शोषण करना है। यह नये रूप में पुरुष सत्तात्मक समाज का नया चेहरा है। शोषण का नया रूप है जिसे पहचान कर खत्म करने की जरूरत है। श्यामल बिहारी महतो की कहानी 'बहेलियों के बीच'

इसी पृष्ठभूमि पर लिखी गई है।

कार्य क्षेत्र में ही नहीं बल्कि समाज के किसी भी क्षेत्र में आज की स्त्री अगर अपने को सुरक्षित महसूस नहीं करती है तो इसके पीछे कारण वर्तमान समाज व्यवस्था में आने वाले शोषण और हिंसा है। धनवान पुरुष के लिए यह शोषण और आसान है। वह सत्ता पक्ष को अपने हक़ में करना बेहतर तरीके से जानता है। अरविंद जैन की कहानी 'शिकार' एक लड़की पर हुए बलात्कार के संदर्भ में पुरुष समाज के चरित्र को उभारते हैं।

वर्तमान बाज़ारवादी व्यवस्था ने स्त्री को स्वाधीनता का सपना दिखाया है। विज्ञापन ने स्त्री से ज्यादा स्त्री देह को स्वतंत्र किया है। बाज़ार और विज्ञापन स्त्री को पहले से मौजूद शोषण के तरीकों में इजाफ़ा ही करते हैं। बाज़ार लाभ से संचालित होता है और विज्ञापन प्रदर्शन प्रियता से निर्मित। स्त्री को इस शोषण में आजादी का भ्रम दिया जाता है। शोषण के इस रूप पर अलका सरावगी की कहानी 'दूसरे किले में औरत' है। पहले किले की पराधीनता अभी गयी नहीं इसी के साथ-साथ पराधीनता शोषण का दूसरा किला भी सामने आ गया। जिसने खुद को आजादी का मसीहा बताया। लेकिन इसमें भी स्त्री को कैद ही मिली। बाज़ार और विज्ञापन स्त्री-देह का अश्लील रूप से शोषण कर रहा हैं। इस शोषण में सभी स्त्रियों की आर्थिक स्थिति समान नहीं है। अधिकांश की अच्छी स्थिति

नहीं है। लेकिन चाहे अनचाहे अपनी देह के इस बाज़ारवादी दुरुपयोग के लिए स्त्रियाँ अभिशप्त हैं। पहले जो काम डरा-धमका कर होता था। अब उसे मोहक बनाकर लुभावना दिखाकर कराया जा रहा है। 'दूसरे किले में औरत' कहानी में वाचक ने 'ड्रीम हाऊस एसोसिएट्स' से एक घर खरीदा है। घर अभी बना नहीं है। और तो और काफी समय बीत जाने के बाद भी जिस जगह यह प्रस्तावित बहुमंजिला इमारत बननी है उसे खाली भी नहीं करवाया गया है। वाचक इंडिया टावर की दसवीं मंजिल पर इसके दफ्तर जाता है। वहाँ इस काम को देखने संभालने के लिए जिस सुंदर स्त्री को नियुक्त किया गया है, उसका सौन्दर्य सम्मोहनकारी है। वह स्त्री अपनी बातों, रूपाकार, पहनावे, बोलचाल से वाचक का रोष हर कर उसे मंत्र बिद्ध कर लेती है। इन अंशों से वर्तमान समय-समाज में स्त्री के रूप का बाज़ार किस तरह उपयोग कर रहा है, इसे देखा-समझा जा सकता है।

यह सौन्दर्य बाज़ार का विस्तार करने वाला सौन्दर्य है। यह सौन्दर्य क्रीत सौन्दर्य है। लेकिन इस सौन्दर्य के पीछे का सच प्रायः भयावह, दारुण विलोम होता है। कैसे बाज़ार और उपभोक्तावाद आज के मनुष्य को अपनी गिरफ्त में ले चुका है इसे देखने के लिए ओमा शर्मा की कहानी 'ग्लोबलाइजेशन' को पढ़ा जा सकता है। उपभोक्तावाद के सामने स्त्री के व्यवहार के एक हिस्से को यह

कहानी बयान करती है। कहानी नये सौंदर्य प्रसाधन के प्रति दुर्निवार आकर्षण को व्यक्त करती है।

बाज़ार स्त्री शरीर का आज हर संभव उपयोग करना चाहता है। वह अगर स्त्री को नौकरी देता है तो उपयोग उसकी देह का करता है। वह विज्ञापनी मानसिकता से स्त्री देह को अपनी वस्तु के प्रचार से लेकर उसे बेचने तक के लिए जरूरी मानता और बना देता है। पुरुषों के ही लिए उपयोग में आने वाली उपभोक्ता वस्तुओं के लिए भी बाज़ार स्त्री शरीर को सम्मोहनकारी भूमिका में लाकर प्रस्तुत करता है।

बाज़ार, मीडिया और मनोरंजन उद्योग ने मिलकर स्त्री की जो छवि निर्मित की है वह पुराने सामंती शोषण की परंपरा में है। यह शोषण ज्यादा मारक भी है। इसमें सम्मोहन के द्वारा यह शोषण को नयी जीवन शैली के रूप में प्रचारित प्रसारित करता है। इस संबंध में प्रभा खेतान ने लिखा है-

"स्त्री पर विज्ञापन, टीवी-फिल्म उद्योग तथा पत्रिकाओं द्वारा गहरा दबाव है कि यह यौन दृष्टि से आकर्षक और सक्रिय लगे। टीवी का प्रत्येक वाणिज्यिक विज्ञापन स्त्री को दैहिक मुक्ति के नए-नए संदेश देता है। आकर्षण के नए फार्मुले सिखाता है। फिल्मों की अर्द्धनग्न नायिकाओं के स्तनों का उभार, नंगी जांघें, खुली पीठ, नाभि के नीचे सरकती हुई साड़ी या जींस-पैंट। 'चोली के पीछे क्या है' गाती हुई माधुरी दीक्षित जैसी नायिकाओं की भीड़ स्त्री को काम वस्तु में

परिणत कर चुकी है। नारीवाद स्त्री मुक्ति का चाहे जितना झंडा बुलंद करे, पर स्त्री का तन और मन दोनों मीडिया द्वारा प्रेषित व रचित छवि से अनुकूलित और संचालित हैं।"[13]

स्त्री के शोषण की परंपरा में यह नये तरह का शोषण है। विज्ञापन से होने वाले शोषण को मोहक शब्दावली में ढँक कर ही सामने लाया जाता है। इसलिए इसकी पहचान भी पिछले शोषण की तरह आसान नहीं रह गई है।

बाजार और नयी आर्थिक नीतियों के कारण जातिगत और लिंगपरक शोषण नये रूपों में उपस्थित हुआ है। इसमें पहले से चला आ रहा शोषण भी शामिल हो गया है। जिसे वर्तमान कहानी दिखा रही है।

संदर्भ सूची

1 सांभरिया, रत्न कुमार, बकरी के दो बच्चे, नयी सदी की पहचान श्रेष्ठ दलित कहानियाँ, संपादक मुद्राराक्षस, लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2004, पृ. 119

2 हरनोट, एस. आर., जीनकाठी तथा अन्य कहानियाँ, आधर प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 34

3 नैमिशराय, मोहनदास, अपना गाँव, दलित कहानी संचयन, संपादन रमणिका गुप्ता, साहित्य अकादेमी, प्रथम संस्करण 2003, पृ. 51

4 चौहान, सूरजपाल, नया ब्राह्मण, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2009, पृ. 62

5 कुशवाहा, सुभाषचंद्र, होशियारी खटक रही है, जाति दंश की कहानियाँ, संपादक, सुभाष चंद्र कुशवाहा, सामयिक प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2009, पृ. सं. 13

6 जोशी, भालचन्द्र, यथार्थ की यात्रा, शिल्पायन, संस्करण 2013 पृ. 64

7 मीनू', रजत रानी, हम कौन हैं, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2012, पृ. 19

8 वर्मा, महादेवी, शृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, दूसरा पैपर बैक संस्करण 2010, पृ. 89

9 सिंह, सोनाली, क्यूटीपाई, युद्धरत आम आदमी, हाशिए उलांघती औरतः

कहानी-3, स्त्री मुक्ति आंदोलन पर केंद्रित कहानी विशेषांक हिंदी, संपादन रमणिका गुप्ता, अर्चना वर्मा, पूर्णांक 118, 2013, पृ. 180

10 चौहान, सूरजपाल, बदबू, हमारा हिस्सा, सं. अरुण प्रकाश, पेंगुइन बुक्स इंडिया, यात्रा बुक्स, प्रथम संस्करण 2005, पृ.205

11 मुनीन्द्र, सुषमा, मेरी बिटिया, श्री प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1997, पृ. 9

12 शफक, सीमा, शिकस्त, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2004, पृ. 53

13 खेतान, प्रभा, भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, सामयिक प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2007, पृ. 235

मृत्यु और निराशाजनक जीवन की कहानियाँ

वरिष्ठ कथाकार और संपादक पंकज बिष्ट की अधिकतर कहानियाँ समाज के अभाव, मृत्यु, वर्ग-भेद और हिंसा को लोककथाओं और जादुई यथार्थ के शिल्प में बहुत ही मंथर गति से बयान करती हैं। अभाव और मृत्यु उनके लेखन में हवा की तरह सदैव मौजूद रहते हैं। अनेक कहानियों का अंत मृत्यु से होता है। कभी-कभी मृत्यु शुरू या बीच में सूचित या घटित दिखाई जाती है। तीन कहानी-संग्रहों (‘पंद्रह जमा पच्चीस’, ‘बच्चे गवाह नहीं हो सकते’ और ‘टुन्ड्रा प्रदेश तथा अन्य कहानियाँ’) में कुल उनतीस कहानियों में से पंद्रह कहानियों में मृत्यु प्रमुख या अप्रमुख घटना की तरह ज़रूर आती है।

मृत्यु के प्रति कहानीकार का इतना आग्रह क्यों है? पंकज बिष्ट ने 'हल' कहानी में भागुली के बेटे शिबिया की मृत्यु, 'प्रतिचक्र' कहानी में रेखा के बेटे बबलू की मृत्यु, 'हिमदंश' कहानी में काका के बेटे कुंदन की मृत्यु, लाजबाव' कहानी में भूतपूर्व मुख्यमंत्री की मृत्यु, 'आखिरी पहर' कहानी में गडरिये के बर्फ में जमकर मृत्यु की ओर जाने का चित्रण, 'आवेदन करो' कहानी में मुन्ना उर्फ़ कुंवर सिंह की मृत्यु, 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' कहानी में बिशनदत्त की मृत्यु, 'ये है चिड़िया घर' में जेबरे की मृत्यु, 'होम वर्क' कहानी में पिता की मृत्यु, 'जीना' कहानी में वाचक के पति हरीश की मृत्यु, 'खून' कहानी में इशरत और लक्ष्मी के द्वारा पहली सन्तान की भ्रूण-हत्या, 'मुकाम' कहानी में पिता की मृत्यु, '...कुंजरो वा' कहानी में बकरे मुन्ना की हत्या, 'खेल' कहानी में एक कवि की मृत्यु, और 'मोहनराम (दास) आखिर क्या हुआ?' कहानी में मोहनराम की मृत्यु का वर्णन किया है।

मृत्यु जीवन का अहम सच है। पंकज बिष्ट मृत्यु को अपनी कहानियों का अनिवार्य हिस्सा बनाते हैं। कहानी का सबसे रोचक हिस्सा मानकर चलने के कारण कहानीकार ने इसे बार-बार अपनी कहानियों में दोहराया है। यह केवल संयोग मात्र नहीं बल्कि कहानीकार की निराशाजनक मनस्थिति के कारण जीवन से अधिक मृत्यु के चित्रण सामने आए हैं। मृत्यु के प्रति एक अबूझ भय के कारण

भी वह कहानी में चाहे-अनचाहे आ जाती है। मृत्यु को रचना का विषय कबीरदास ने भी बनाया है। लेकिन वे आततायी या मोहान्ध व्यक्ति को जीवन की नश्वरता और उससे भी शक्तिशाली ताकत, मृत्यु, के बारे में बताकर सहज मार्ग पर लाने के लिए ऐसा करते हैं। पंकज बिष्ट किसी कहानी में जीवन का उत्साह, उमंग, उल्लास इतने मन से दर्ज नहीं कर पाते हैं जितना वे जीवन के अँधेरे पक्ष का चित्रण करते हैं। दुःख और निराशा इन कहानियों में सर्वत्र व्याप्त हैं। ऐसा जीवन में न हो ऐसा नहीं है। लेकिन जीवन के उजले पक्ष को कहानीकार ने सायास अपनी रचनाओं से बाहर ही रखा है इसलिए बहुत कम या कहें न के बराबर सुखद पक्ष इन कहानियों में मिलते हैं।

एक कहानी जिसका सकारात्मक अंत हो भी सकता था लेकिन वह कहानी भी दुखांत में ख़त्म होती है। ‘क्या कहना है जटाऊ?’ कहानी में साम्प्रदायिकता दंगे का चित्रण है। एक लड़का जो अपने मामा-मामी के घर आता है तो उस मुहल्ले में दंगा शुरू हो जाता है। वह हिन्दू है लेकिन पड़ोस में मुसलमानों का मोहल्ला है। लोगों और सामानों के जलने की भयानक दुर्गन्ध आ रही है। ऐसे में वह अपने घर वापस कैसे जाए? उसे दूसरे मोहल्ले का एक दंगाई वहाँ से निकालने की हामी भरता है। स्कूटर से जब वह उस दंगाई के साथ बाहर सड़क पर निकलता है तो वहाँ हिन्दू दंगाई एक मुस्लिम लड़की को नंगाकर

दौड़कर उसकी फ़िल्म बना रहे हैं। वे सभी बलात्कारी और दंगाई हैं। दंगाई अब उस लड़के को स्कूटर से उतार लड़की का बलात्कार करने के लिए कहता है। वह ऐसा न कर रोने लगता है। लड़की को वे लोग भागने का मौका देते हैं और जानवरों की तरह उसका पीछा करते हैं। लड़की काफी दूर निकल जाती है। पीछे वह लड़का और स्कूटर बचता है। लड़का स्कूटर लेकर भागता है। लड़की के पास से गुजरता है। पीछे भागते दंगाई आ रहे हैं। वह लड़की के पास से होता हुआ आगे निकल जाता है। लड़की उससे मदद की गुहार लगाती है। लड़का पलटकर आता है और लड़की को स्कूटर पर बिठाकर वहाँ से भगा ले जाता है। अब लड़का उसे कहाँ छोड़े? लड़का इसी सोच में है और दूर निकल गया है। तभी दूसरे हिन्दू दंगाई मिलते हैं तो लड़का कहता है कि यह मेरी बहन है जिसे मैं मुसलमानों से बचाकर ला रहा हूँ। लेकिन लड़की थोड़ी देर बाद कह पड़ती है कि मेरा नाम नसरीन है। इन्होंने मुझे बचाया है। मेरे परिवार वालों का न जाने क्या हुआ होगा और यह कहकर वह बेहोश हो जाती है। इस कहानी में अनेक घटनाएँ नाटकीय हैं। क्या उसमें लड़की का बचना नहीं हो सकता था? कहानी का कोई और बेहतर अंत नहीं किया जा सकता था? पंकज बिष्ट प्रायः अपनी कहानियों के चौंकाऊ और निराशाजनक अंत करते हैं। यहाँ भी वही आग्रह कहानी को दुखांत बना रहा है। समाज में बहुत कुछ निराशाजनक है तो क्या कुछ भी और

कभी भी आशाजनक घटित नहीं होता है? जीवन के द्वंद्व को अपनी कहानियों में दर्ज करने वाले कहानीकार सकरात्मकता से इतनी दूरी क्यों बनाते हैं?

मृत्यु और निराशा के साथ-साथ कहानियों में प्रायः संवेदना का अभाव या आर्थिक अभाव ज़रूर मिलता है। अभाव अगर कारण है तो मृत्यु परिणाम है। संवेदना के अभाव से सड़ते हुए समाज की दुर्गन्ध एक युक्ति की तरह कई कहानियों में महसूस की जा सकती है। 'दुर्गन्ध' शीर्षक से पंकज बिष्ट की एक कहानी भी है। 'दुर्गन्ध' कहानी में एक चौबीस वर्षीय डॉक्टर है। जो अपनी प्रेमिका या पत्नी के साथ मिलने के लिए तय दिन की कल्पना करता हुआ मरीजों को देखने वार्ड में जा रहा है। दोपहर में जीभर कर खूब खाए हुए स्वादिष्ट खाने के बाद नींद महसूस करता हुआ वह अनिच्छा से किसी तरह आगे बढ़ता जा रहा है। वह अस्पताल में आने वाली दुर्गन्ध को दूर छोड़ किसी साफ़-सम्पन्न देश चले जाना चाहता है। वह जल्दी सफल और अमीर होना चाहता है।

वह वार्ड में आई गरीब बीमार लड़की की हालत के बारे में पूछता है। उससे उसकी उम्र भी पूछता है। वह अपनी उम्र से इतनी बड़ी नजर आती है कि डॉक्टर को कई बार उम्र पूछने पर भी विश्वास ही नहीं होता कि उसकी उम्र सिर्फ इक्कीस-बाईस साल होगी। उसके बिस्तर के पास ही उसकी माँ खड़ी है। डॉक्टर उसे चिल्लाकर भगाना चाहता है। लड़की कहती है कि उसकी माँ उसे खाना

नहीं देती है। माँ के हाथ में रोटी और उससे नीचे गिरती सब्जी है। वहाँ इस कदर शोर और आपाधापी है कि डॉक्टर इन आवाजों को सुनकर सुन्न होने लगता है। उसे बेहोशी-सी आने लगती है। वह उबकाई महसूस करता है। उसे जोर से उलटी आती है। वह बाशबेसिन तक जा पाता है। उसे इतनी तेज़ दुर्गन्ध आ रही है कि उलटी थमती ही नहीं। वहाँ मौजूद सभी मरीजों और लोगों को भी वह दुर्गन्ध आ रही है। वह दवाइयों और गंदगी से पैदा होने वाली दुर्गन्ध नहीं है जिसे डॉक्टर महसूस कर रहा था। वह बड़ी अज़ीब चीज की दुर्गन्ध है। वह अतिरिक्त की दुर्गन्ध है। वह सरप्लस और अतिरिक्त कैलोरीज़ की भयानक असहनीय दुर्गन्ध है। जिस कमी से भारत की अधिकतर आबादी और उसमें सबसे ज्यादा औरतें ग्रस्त हैं वह जरूरत भर का संतुलित खाना है। जरूरत भर की कैलोरीज़ हैं। सभी बीमारियों के मूल में यह अभाव सबसे बड़ा कारण है। वहीं दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं जो अपनी जरूरत से ज्यादा और दूसरों के हिस्से का खा रहे हैं। डॉक्टर भी उसी समाज का हिस्सा है। यह दुर्गन्ध उसी जरूरत से ज्यादा की दुर्गन्ध है। कमी और अतिरिक्त की भयानक दुर्गन्ध एक कथा-युक्ति की तरह कई कहानियों में आती है। उनकी अधिकतर कहानियों का केन्द्रीय विषय यही अभाव और उससे पैदा होने वाली दुर्गन्ध और विरूपता है। यह दुर्गन्ध खाया-पीया-अघाया समाज पैदा कर रहा है। यह दुर्गन्ध अवांछित स्थितियों की उपज है। पंकज बिष्ट शोषित

समाज के रचनाकार हैं। वे शोषण की दुर्गन्ध को पहचानते हैं। ‘दुर्गन्ध’ कहानी में वे अपने पाठकों को जादुई शिल्प में उस बदबू या दुर्गन्ध का घ्राण बिम्ब रच उससे अतिरिक्त साधन से सम्पन्न समाज से आती दुर्गन्ध की पहचान करवा रहे हैं।

इस कहानी में पाठक एक द्रुत-परिवर्तन देखता है। पंकज बिष्ट की अपनी अनेक कहानियों को कविता के शिल्प में प्रस्तुत करने के कारण एक तरह का द्रुत-परिवर्तन करते हैं। घटनाओं में कारण-कार्य सम्बन्ध कई बार अव्यक्त रहता है। ‘दुर्गन्ध’ कहानी इसी तरह के द्रुत-परिवर्तन की कहानी है। इस कहानी में भी कारण के बिना ही कार्य होता दिख रहा है। एक भयानक किस्म की अतिरिक्त कैलोरीज़ की दुर्गन्ध रचनाकार के मन में उपस्थित है। उसके कारण अब अचानक अतिरिक्त कैलोरीज़ की गंध सभी को महसूस हो रही है। पूरा समाज इस विचार को भोगता तो है लेकिन उसे तर्कसंगत रूप में जानता नहीं है।

गरीबी और द्वंद्व की स्थितियों को कहानीकार ने ‘टुन्ड्रा प्रदेश’ में दो छोटे बच्चों के द्वारा साक्षात् कर दिया है। वर्णित और घटित स्थितियों का एक अच्छा अनुपात भी इस कहानी में मिलता है। दो छोटे बच्चे हैं जो ठण्ड में घर जाने के लिए एक रुपये की और मूंगफली बिक जाने का ठिठुरते हुए इंतज़ार कर रहे हैं। और उनकी माँ है। जो घर में है। वह छोटे से कहलवाकर बड़े को जल्दी घर आने

का सन्देश देती है। पिता के मर जाने के अचानक वयस्क हुआ वह बालक परिवार का मुखिया बन जाता है। कहानी अपने आप में बेहद सफल इसलिए है कि यहाँ पंकज बिष्ट किसी जादुई शिल्प का असफल सहारा नहीं लेते हैं। कविता के शिल्प का भी प्रयोग वे नहीं करते हैं। बाहर सड़क पर भयानक ठण्ड में ठिठुरते दो बच्चे हैं और बड़े होटल में क्रिसमस मनाता 'सरप्लस' वाला अमीर समाज है। यह कहानी अपने विषय और कहन में अचूक है। इस द्वंद्व को उदारीकरण के साथ पैदा होने वाले समाज ने बढ़ाया है। इसलिए यह कहानी आज भी प्रासंगिक है।

भारतीय समाज में विषमता को और बढ़ाने वाली भूमंडलीकरण की आँधी ने पिछले तीस सालों में एक ओर अतिरिक्त साधनों वाला समाज बढ़ाया है तो दूसरी ओर अभाव में एक वक्त की रोटी के लिए भटकता विपन्न समाज विस्तृत किया है। पंकज बिष्ट अपनी कहानियों का विषय-चयन इसी अरक्षित-विपन्न समाज से करते हैं। कुछ कहानियों को छोड़ दें तो अधिकतर कहानियों के लिए भाववादी शिल्प चुना है। लेकिन जिन कहानियों में यथार्थवादी शिल्प और तर्क-संगत स्थितियों का चित्रण किया गया है वे प्रभावी कहानियाँ हैं।

कहानी में रोचकता का पंकज बिष्ट कम ख्याल रखते हैं। वे अपने वांछित विचार को अपने शिल्प के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। ऐसे में अनेक कहानियाँ उत्सुकता

रहित और कारण-कार्य सम्बन्ध से छूटी हुई लगती हैं। वर्णित या घटित घटनाओं के अनेक सूत्र पाठक इसी द्रुत-परिवर्तनीयता के कारण नहीं पकड़ पाता है। यह कविता का शिल्प है। जैसे मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' कविता के वाचक के साथ घटित होने वाली अनेक स्थितियाँ पाठकों को चकमकाती हैं। उसी प्रकार पंकज बिष्ट की कहानियों में तर्क और रोचकता खोजने वाले पाठक को चमत्कृत करने वाली अनेक घटनाएँ पढ़ने को मिलती हैं।

कहानी में किसी प्रभाव की सृष्टि घटनाओं के माध्यम से रचने के बदले सामान्य वर्णन से रचने पर कहानीकार ने बल दिया है। अगर वर्णन कमजोर पड़ता है तो वहाँ किसी प्रकार से जादुई असर अथवा तर्कातीत स्थिति की रचना कर कहानी को बिल्कुल आश्चर्यजनक बनाने का काम भी इन कहानियों में मिलता है। कई बार कहानी पढ़ते हुए ऐसा लगता है कि चित्र अधूरा-सा रह गया है। जैसे कोई बात बीच में छूट गई हो। आपने हो सकता है बचपन में संख्याओं को मिलाकर चित्र बनाने का खेल खेला हो। जिसमें एक से लेकर बीस या वांछित संख्या को मिलाने से एक रेखाचित्र कागज पर उभर आता है। पंकज बिष्ट कुछेक कहानियों में कुछ संख्याएँ गायब कर देते हैं। चित्र अधूरे छूट जाते हैं। पाठक अपनी कल्पना से छूटे हुए प्रसंग की मन में रचना कर कहानी का अर्थ समझने

का प्रयास करता है। क्या यह कहानीकार का कौशल है? ठीक से कहा नहीं जा सकता है।

इस बात के समर्थन के लिए एक कहानी 'प्रतिचक्र' का उदाहरण दिया जा सकता है। कहानीकार की प्राप्त कहानियों में यह सबसे पहली कहानी है। एक आदमी थका-हारा अपनी पत्नी के पास अस्पताल में पहुँचता है। पत्नी के बगल में पालने में 'वह' लेटा हुआ है। हारा-थका वह आदमी अब पत्नी की गर्भावस्था के शुरुआती दिनों के बारे में पाठक को बताता है। वह अपनी पत्नी जिसका नाम रेखा है को 'इस समस्या से' मुक्त करवाने के लिए डॉक्टर के पास जाने की सलाह भी देता है। लेकिन पत्नी किसी तरह दिन-दिन गिनकर आठ महीने की तकलीफ सहती है और फिर वह दिन भी आ जाता है जब उसका बच्चा बबलू दुनिया में आता है। ये बातें जानकर तो लगता है कि वाचक अपनी पत्नी और बेटे बबलू से मिलने अस्पताल आता है। साथ में पत्नी के लिए दूध से भरा थरमस भी लाता है। यही कहानी के शुरू में पाठक को लगता है। फिर अब घर का दृश्य आता है जब पत्नी को घोर दुःख और गर्मी में नींद नहीं आ रही है। पति उससे दूर लेटा हुआ है। वह पत्नी की सिसकियाँ सुनता है। उस आदमी को नींद आती है तो उसे एक सपना दिखता है कि जैसे उसके हाथ में एक चाकू है और उसके आगे उसका बेटा खून में लथपथ तड़प रहा है। नींद टूट जाती है। अब बबलू के बारे में अगली

सूचना पाठक को मिलती है कि उसे टाइफाइड हुआ और वह एक रात के तेज बुखार के बाद मर जाता है। पत्नी की सिसकियाँ उसके दो साल के बेटे बबलू की मृत्यु के दुःख से उपजी हैं। पति अब उठकर रोती पत्नी के पास जाकर लेटता है और वहाँ वे एक दूसरे के दुःख को दूर करते हैं। आलिंगनबद्ध होते हैं और फिर नए जीवन का सूत्रपात करते हैं।

कहानी में पहला दृश्य और दूसरा दृश्य महज तारीखों की एक सूचना से जुड़ा है। लेकिन पहले दृश्य की तारीख अगर 28 नबम्वर है तो दूसरे दृश्य की तारीख 24 अगस्त है। अब पहले दृश्य में बच्चा अगर पैदा होता है या बीमार है या मर जाता है तो उसे इतने कम समय में बिना किसी घटना के घटित कर दिया है कि पाठक भ्रमित हो जाता है। कब बबलू दो साल का हो गया? और वह कहानी में न बड़ा होता है, न खेलता है, केवल कहानी में दर्ज एक वाक्य में मर जाता है। उसके प्रति पाठक की संवेदना कैसे जुड़ सकती है? इस संवेदना को जोड़ने का अधूरा प्रयास कहानी के अंतिम वाक्य में किया गया है। बबलू अपने प्रिय लाल जूते को एक पैर में पहने और एक को हाथ में लिए वाचक पिता की ओर दौड़ते हुए आ रहा है। यह भी कल्पना में घटित होता है। कहानी में यह गायब है।

कहानी का पहले यही अर्थ समझ आया। लेकिन फिर कहानी को पलट कर फिर-फिर पढ़ा तो यह अर्थ भी पकड़ आया कि दो साल के बेटे बबलू के मरने की दुखद याद के साथ दूसरे बेटे के पैदा होने की यह कहानी है। यह जीवन के चलते रहने का चक्र है। जिसमें एक दुःख के बाद सुख भी आता है। भय भी होता है कि दूसरे के साथ भी फिर पहले जैसा कुछ न हो जाए। लेकिन एक बात साफ है कि कहानी बहुत उलझे हुए शिल्प में सामने आती है। इसलिए लगता है कि कहानी के चित्रों को जोड़ने वाले सूत्र कई कहानियों से जानबूझकर ग़ायब किये गए हैं। शायद इसी प्रकार की कहानी-कला पंकज बिष्ट के कहानीकार मन को पसंद होगी। कई कहानियों का कोई तार्किक सूत्र पंकज बिष्ट नहीं रच पाते हैं। यानी कहानी अपना पूरा चित्र ही नहीं बना पाती है। ऐसा अनेक बार इन कहानियों में होता है। उसे वे जादुई असर से पूरा करने का प्रयास करते हैं। कहानी लिखे जाने में यह कमी है या कहानी-कला है? इसे तो कहानी के गम्भीर आलोचक ही तय करेंगे।

दृश्य की रचना में भी पाठक अपनी कल्पना का सहारा ज्यादा लेता है। पंकज बिष्ट किसी व्यक्ति या परिस्थिति का अधूरा-सा चित्र पाठक को देते हैं। ऐसा सभी कहानियों में नहीं है। लेकिन कई कहानियों में ऐसा है। इसे एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। ‘प्रतिचक्र’ कहानी में ही नवजात बच्चे

का रूप-चित्रण वे इतने कमजोर तरीके से करते हैं कि कोई सूरत पाठक महसूस नहीं कर पाता है। जो बताया गया है उसे आप भी पढ़ें और बताएँ कि किसी बच्चे की सूरत आपके मन में उभरती है?

"मैंने बलात् उस ओर देखा जहाँ 'वह' लेटा हुआ था। गुलाबी ओंठ, गोरा-चिट्ठा चेहरा और भूरे बाल। एक ऐसा चेहरा जो कई दिनों से लगातार मेरे दिमाग में घूम रहा था। पालने में लेटा 'वह' उससे केवल मिलता–जुलता ही नहीं था बल्कि वही था, शत-प्रतिशत वही।" (पृष्ठ 41, पंद्रह जमा पच्चीस) क्या किसी भी बच्चे का चेहरा इस विवरण से कोई रच सकता है? ऐसे ही कई और स्थल हैं जहाँ कहानीकार बिना किसी वास्तविक स्थिति के या विभाव की सृष्टि के ही उसकी प्रतिक्रिया या अनुभाव की रचना करते हैं। जैसे इसी कहानी में पति के भीतर एक अबूझ-सा भय है उसका कोई कारण कहानी में नहीं मिलता। वह क्यों अपनी पत्नी से बच्चा गिरवाने की पेशकश करता है? यह पेशकश केवल संकेतित है। भय भी बताया गया है। अकारण ही वाचक किसी भय से ग्रस्त है। क्यों भय है? इसका खुलासा पूरी कहानी में समझ नहीं आता है। किसी कारण के बिना भय से ग्रस्त कहानी 'खोखल' भी है। 'प्रतिचक्र' कहानी में वाचक के शब्द हैं- "कई दिन दिल हुआ उससे कहूँ- चलो डॉक्टर के पास चलें और इस सबसे छुटकारा पा लें, पर कह नहीं पाया। न जाने कैसे अजीब-सा डर लगातार मुझे घेरे रहता।

मेरे मस्तिष्क में द्वंद्व चलता रहता। मैं सोचता यह कोई अस्वाभाविक बात तो है नहीं फिर इसमें घबराने की बात कहाँ है, और न ही यह किसी की नज़रों में अनैतिक या असामाजिक कृत्य ही हो सकता है। मैं जानता हूँ हमने कहीं भी तथाकथित सामाजिक मूल्यों और परम्पराओं का उल्लंघन नहीं किया था, पर यह सब तर्क अचानक ही अर्थहीन हो जाते। फिर वही भय, वही घबराहट मुझे घेर लेती। मेरी हालत ठीक ऐसे कैदी की-सी हो जाती जिसे मृत्यु-दंड सुना दिया गया हो और अब असहाय, 'डैथ सेल' मैं (में) अपने फाँसी पर चढ़ाये जाने की तिथि की प्रतीक्षा कर रहा हो। कोई बच निकलने का रास्ता नजर नहीं आ रहा हो, सिवाय इसके कि प्रतीक्षा करे।" (वही, पृष्ठ 42) पत्नी को गर्भावस्था में परेशान देख उसे 'इस सबसे छुटकारा' दिलाने का कोई तर्क अनुपस्थित ही रहता है। भय तो किसी कारण से बिल्कुल ही अतार्किक ही लगता है। 'डैथ सेल' में मृत्यु दंड की सजा पाए व्यक्ति और वाचक की स्थिति में किसी प्रकार का कोई भी साम्य बिना रचे ही ऐसी उपमाएँ अतिरंजित ही नहीं अर्थहीन लगती हैं। ये सब स्थितियाँ कहानी में कविता के शिल्प की उपस्थिति की सूचक हैं।

पंकज बिष्ट की कहानियों का रचना-काल पिछली सदी के सातवें से अंतिम दशक के मध्य तक फैला हुआ है। लेकिन उनके विषय अप्रासंगिक नहीं हुए हैं। भारतीय मध्यवर्ग के विस्तार और टेलीविजन के बाद सूचना क्रांति में आए

अभूतपूर्व बदलाव को देखते कुछ कहानियों के विषय अवश्य थोड़े पुराने लगते हैं। लेकिन ऐसा कुछ ही कहानियों में दिखता है। अब निम्नमध्यवर्ग भी बाज़ारू चकाचौंध में आकर विदेशी नामों के जूते, कपड़े और अन्य सामानों की ओर लालसा भरी नजरों से देखने लगा है। उनसे परिचित होने लगा है। अब 'मोहनराम (दास) आखिर क्या हुआ?' कहानी में सदमा खाने वाले पात्र वास्तविक समाज में कम हुए हैं। बाज़ार के मारक प्रभाव को जादुई-शिल्प में दो कहानियों में रचा गया है। 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' और 'मोहन राम (दास), आखिर क्या हुआ?' इन दोनों कहानियों में दो लोगों को बाज़ार के असर से मरते दिखाया है। वे गरीबी से नहीं बाज़ार के अमानवीय रूप-प्रसार और चकाचौंध से मरते हैं। हिंदी कहानी में भूमंडलीकरण के दुष्प्रभाव को दिखाने वाली शुरुआती कहानियाँ पंकज बिष्ट ने भी लिखी हैं। उपरोक्त दोनों कहानियाँ भारतीय अर्थव्यवस्था में आए हिंसक परिवर्तन और कमजोर वर्ग पर पड़ते जानलेवा प्रभाव को भी दिखाती हैं।

मानवीय संवेदना के अभाव और चौंकाने वाले अंत की एक और कहानी है 'मुकाम'। उसमें एक पिता अपने अंतिम दिनों में शहर में रह रहे अपने बेटे के पास जाता है। बेटे के परिवार के पास उसके लिए समय की कमी है। वह अपने को वहाँ व्यस्त और उपयोगी सिद्ध करने का असफल प्रयास करता है। लेकिन

कुछ ही महीनों में खुद को अतिरिक्त पाकर वापस पहाड़ पर अपने बंद पड़े घर की ओर लौट पड़ता है। पत्नी के देहांत के बाद वह अब इतना अकेला हो गया है कि उसे परिवार का अनिवार्य साथ चाहिए। लेकिन साथ अब कहाँ मिले? इस कहानी में संवेदना के अभाव को हम कहानी का केन्द्रीय विषय मान सकते हैं। वह बस से अपने घर की ओर लौट रहा है और सपना देखता है। सपने में मर चुकी पत्नी को कहीं इंतजार करते देखता है। और फिर बस में ही सपने में ही मर जाता है। यह तर्क में घटित सत्य नहीं है। ऐसा सिर्फ लोककथाओं में ही संभव है। ऐसा प्रयोग पंकज बिष्ट 'मोहनराम (दास) आखिर क्या हुआ?' कहानी में भी करते हैं। उस कहानी में घर में काम करने वाला नौकर मोहन अपनी चार महीने की तनख्वाह के बराबर दाम वाले महँगे जूते में बैठकर सपने में उड़ता है और असल में अपने कमरे में मरा हुआ मिलता है। सपने में मरना मानों पंकज बिष्ट के कहानीकार की कथानक-रूढ़ी है। जैसे पुराने साहित्य में तोता-मैना बोलते हैं और उन्हें सुनते हुए आश्चर्यजनक नहीं लगता है। ऐसे ही प्रयोग पंकज बिष्ट अपनी कहानियों में करते हैं।

बेरोजगारी को विषय बनाकर लिखी गई 'आवेदन करो' कहानी अब और भी ज्यादा प्रासंगिक लगती है। इस कहानी में पढ़े-लिखे बेरोजगार युवक के बेकार पड़े प्रमाण-पत्रों से निरंतर और असहनीय दुर्गन्ध आती रहती है। घर में नीचे कई

सालों से पानी जमा हो गया है। उस घर में छोटा भाई और माँ-पिताजी वहाँ रहते हैं। छोटा भाई वाचक को लगातार पत्र लिखता है। वह उस सड़ांध मारते घर को छोड़कर बड़े भाई के पास आ जाना चाहता है। बड़ा भाई किसी भी तरह से इस स्थिति से बचना चाहता है। वह गरीबी के कारण ऐसा करता है। बाद में उसके छोटे भाई की सड़क दुर्घटना में मृत्यु हो जाती है। लेकिन प्रमाण-पत्रों से आती दुर्गन्ध किस्सा-तोता-मैना या कविताओं में ही संभव है। इस प्रकार की कहानियों का शिल्प रूपक-कथाओं में भी मिलता है। हरिशंकर परसाई अपनी कहानी 'भोलाराम का जीव' में आधुनिक भारत के ऑफिसतंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार को बताने के लिए इसी रूपक-कथा के शिल्प का सहारा लेते हैं। वैसे ही पंकज बिष्ट अपने विषय को सामने लाने के लिए भी एक विशिष्ट शिल्प आजमाते हैं। लेकिन जिन कहानियों में यह शिल्प नहीं आजमाया गया है वे कहानी ज्यादा प्रभावी हैं। अधिकतर कहानियों के शीर्षक अटपटे और कहानी के विषयानुसार नहीं हैं। बाज़ार-टीवी और टीबी के दुष्प्रभाव से मरने वाले बिशनदत्त के बेटे ने अपने पिता को टीवी के दृश्य के साथ मरते देखा। इस कहानी का शीर्षक दिया गया है 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते'। कहानी के अंत की तरह ही चौंकाने की प्रवृत्ति के हावी होने के कारण ऐसे शीर्षक दिए गए लगते हैं। कहानियों में प्रयुक्त भाषा में विषय और पात्रों के अनुसार विविधता भी पाठकों को कम ही मिलती है। एक

जैसी सामान्य भाषा प्रायः हर कहानी में इस्तेमाल की गई है। उसमें कहीं-कहीं पहाड़ से जुड़ी कथा में कुमाऊँनी भाषा के कुछ शब्दों का व्यवहार ज़रूर भाषाई एकरसता को तोड़ता है।

हिंदी में संकेत परिवर्तन (code switching) और हिंग्लिश का प्रचलन

एक प्रसिद्ध हिन्दी फिल्म '3 इडियट्स' का एक चर्चित वाक्य है- "जहाँपनाह तुस्सी ग्रेट हो।" [1] इस एक वाक्य में ही फारसी भाषा का 'जहाँपनाह', पंजाबी भाषा का शब्द 'तुस्सी', अंग्रेजी का 'ग्रेट' और हिन्दी की सहायक क्रिया 'हो' का प्रयोग किया गया है। चार शब्दों में चार भाषाओं के शब्द मौजूद हैं। भारत एक बहुभाषी और बहुसांस्कृतिक देश है। इसका असर भारतीय संस्कृति के हर हिस्से पर कमोबेश जरूर देखा जा सकता है। भारत के लोगों की भाषाओं पर भी यह प्रभाव पड़ा है। भारत के किसी भी क्षेत्र या व्यक्ति की भाषा में किसी एक ही भाषा के शब्दों का प्रयोग नहीं होता है। जाने-अनजाने वह एकाधिक भाषाओं के शब्दों या वाक्यों का प्रयोग कर जाता है। इस संबंध में प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने लिखा है- "India has been for several millennia a multilingual and poly-cultural country. There is not a single state in the country which is completely uni-lingual, not a single major modern Indian language whose speakers do not employ at least three contact languages, and not a single speech-community which has less than at least three distinct linguistic codes in its verbal repertoire."[2]

इस बहुभाषिक देश में हिन्दी में भी इसीलिए अनेकरूपता दिखाई देती है। वर्तमान समय में हिन्दी में एक शैली बेहद लोकप्रिय हो रही है। इससे हिंदी का वर्तमान स्वरूप भी काफी कुछ बदल रहा है। हिंदी की इस नई शैली में अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों का अभूतपूर्व प्रयोग हो रहा है। इस नई शैली की हिंदी में अंग्रेजी शब्दों का आगमन पहले के मुकाबले कहीं ज्यादा हो रहा है। इस समय हिंदी बोलने वाले अधिकतर लोग जाने-अनजाने हिंदी में कोड स्विचिंग/संकेत परिवर्तन/हिंग्लिश का प्रयोग पहले से बहुत अधिक कर रहे हैं।[3] यह प्रवृति नई नहीं है लेकिन बीते तीस सालों में यह प्रवृति काफी बढ़ गई है। हिंदी वाक्यों में अंग्रेजी शब्दों को मिलाने की प्रवृत्ति भारतेन्दुकालीन साहित्यकारों में भी दिखलाई पड़ जाती है। आगे चलकर ऐसे अनेक शब्द विदेशज शब्दों की श्रेणी

में आकर हिंदी शब्दों के सागर में समा जाते हैं। लेकिन इस समय हिंदी में अंग्रेजी शब्दों की बहुत बड़ी मात्रा अंग्रेजी से बहकर आ रही है। बोलने के स्तर पर अब अंग्रेजी शब्दों के साथ-साथ वाक्यांश या कभी-कभी पूरे या कई-कई वाक्य भी हिंदी के साथ प्रयुक्त होने लगे हैं। हिंदी की इसी नई शैली के बारे में इस लेख में कुछ विचार किया जाएगा। समाज-भाषा विज्ञान में इसे संकेत-परिवर्तन या कोड स्विचिंग कहा जाता है। सबसे पहले हमें जानना चाहिए कि कोड स्विचिंग किसे कहते हैं? पहले इसे समझ लेते हैं। जब हम किसी एक भाषा को बोलते हुए किसी अन्य भाषा के शब्दों, वाक्यांशों या वाक्यों का प्रयोग करते हैं तो उसे कोड स्विचिंग कहते हैं। मरियम वेबस्टर डिक्शनरी के अनुसार एक भाषा व्यवस्था या बोली से दूसरी भाषा व्यवस्था या बोली में जाना कोड स्विचिंग कहलाता है।[4] हिंग्लिश और कोड स्विचिंग को परिभाषित करते हुए रोहित प्रकाश ने लिखा है-

“हिंग्लिश से मेरा अभिप्राय वह भाषा-प्रयोग है जो हिन्दी तो है, लेकिन अंग्रेजी के शब्दों का उसमें अबाध रूप से प्रयोग होता है। कभी-कभी अंग्रेजी के समूचे वाक्य तक उस भाषा-प्रयोग में शामिल हो जाते हैं।...भाषाविज्ञानी संकेत-मिश्रण(कोड-मिक्सिंग) और संकेत-परिवर्तन (कोड-स्विचिंग) जैसी पारिभाषिक शब्दावलियों के जरिए इस प्रक्रिया की व्याख्या करते हैं।”[5]

हिंदी भाषा बोलने वाला समाज आसपास की दूसरी भारतीय भाषाओं या बोलियों के अलावा अरबी-फारसी और अब अंग्रेजी का इस्तेमाल करता रहा है। कभी-कभी हिंदी के साथ दूसरी भाषा का प्रयोग बहुत अधिक भी देखा गया है। आदिकाल का साहित्य पढ़ते हुए अमीर खुसरो की एक ग़ज़ल हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों ने प्राय: उद्धृत की है। इस ग़ज़ल की एक पंक्ति फारसी भाषा की है तो दूसरी पंक्ति ब्रज भाषा की है। "जे हाल मिसकी मकुन तगाफुल दुराय नैना, बनाय बतियाँ। कि ताबे हिज्राँ न दारम, ऐ जाँ! न लेहु काहें लगाय छतियाँ।। शबाने हिज्राँ दराज चूँ जुल्फ व रोजे वसलत चूँ उम्र कोतह। सखी ! पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ!।।"[6]

अमीर खुसरो की यह ग़ज़ल सन् 1283 से सन् 1324 के बीच की है। इस तरह से देखें तो हिंदी या ब्रज, अवधी या अन्य भाषाओं के साथ दूसरी भाषाओं के शब्दों या वाक्यों का इस्तेमाल हिंदी में सात सौ से वर्ष से भी पुराना है। भारतीय समाज में इस प्रवृत्ति के और प्राचीन उदाहरण भी मिल सकते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण है भारतीय समाज और विशेष रूप से हिंदी कहे जाने वाले क्षेत्र की द्विभाषिक/बहुभाषिक संस्कृति। दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है सदा से सत्ता या केंद्र की भाषा का बहुसंख्यक जनता की भाषा से भिन्न होना। इसलिए प्राय: सत्ता

की भाषा अलग और जन भाषा अलग रही है। ब्रज के साथ फ़ारसी का मेल भी इसी का संकेत है।

जो स्थिति पहले ब्रज और फारसी के साथ आपने देखी, वही स्थिति हिंदी की अंग्रेजी के साथ बहुत बड़ी मात्रा में मिलती है। इसे कोड स्विचिंग कहते हैं, इसको लेकर भाषा की शुद्धता रखने वाले समुदाय का भाव नकारात्मक रहा है। वहीँ जब हम भाषा के विकास को समझते हैं तो पाते हैं कि यह सामाजिक-आर्थिक कारणों से हो रहा है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने 1873 में एक पत्रिका निकाली थी, जिसका नाम पहले उन्होंने 'हरिश्चन्द्रमैगज़ीन' रखा था। मैगज़ीन शब्द अंग्रेजी का है। आठ अंकों के बाद इसका नाम बदलकर 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका' कर दिया।[7] हिंदी भाषा में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भारतेंदु मंडल के रचनाकार उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के यहाँ भी दिखता है। न्यायालय या कचहरी के लिए 'कोर्ट' शब्द का प्रयोग उन्होंने किया। लेकिन मजेदार है कि संवाद के लिए अंग्रेजी शब्द 'स्पीच' का बहुवचन बनाते हुए उन्होंने 'स्पीचें' शब्द निर्मित किया। दो उदाहरण देखें- "दिव्यदेवी श्री महाराणी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्यन्त बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल, अचल 'कोर्ट' का पहाड़ धकेल फिर गद्दी पर बैठ गई।"[7] अंग्रेजी शब्द को हिन्दी व्याकरण की प्रकृति के अनुसार तद्धित प्रत्यय 'एँ' जोड़कर बहुवचन

बनाते हुए हुए प्रेमघन जी ने ‘स्पीच’ से ‘स्पीचें’ शब्द गढ़ लिया। उन्होंने लिखा है- “गर्जे कि इस सफहे की कुल स्पीचें ‘मर्चेंट आफ वेनिस’ से ली गईं।”[8] आज़ादी के बाद हिंदी को 14 सितम्बर सन् 1949 में राजभाषा का दर्जा दिया गया लेकिन अंग्रेजी को सहायता के लिए अगले दस साल और फिर अनिश्चित समय के लिए रख लिया गया। वह राजकाज की दूसरी भाषा से कालान्तर में प्रमुख भाषा बन गई। 1990 के बाद भूमंडलीकरण की प्रक्रिया और नवीन संचार साधनों के कारण हिंदी ही नहीं विश्व की सभी भाषाओं में अंग्रेजी के शब्द या उपवाक्य या कभी-कभी पूरे वाक्य तक आने लगे हैं। हिंदी में इस प्रक्रिया के लिए हिंग्लिश जैसा शब्द भी प्रचलन में आ गया है। इस कोड स्विचिंग की नई भाषा को हिंग्लिश कहकर उसकी पहचान और आलोचना दोनों हो रही है। हिंग्लिश की परिभाषा देते हुए कैम्ब्रिज डिक्शनरी में बताया गया है कि हिंदी और इंग्लिश का मिश्रण ही हिंग्लिश है, विशेषतः वह अंग्रेजी जो हिंदी बोलने वाले बोलते हैं।[9] फ्रंचेस्का ओर्सीनी ने कोड स्विचिंग और हिंग्लिश के बारे में लिखा है कि यह हिन्दी और इंग्लिश को आपस में बाँधने वाली परिघटना है- “भारत में आम बोलचाल में हिन्दी और अंग्रेजी की बीच संकेत-परिवर्तन और संकेत मिश्रण या तो अंग्रेजी के साँचे के भीतर होता है या

फिर हिन्दी के। लेकिन भारतीय तर्ज की अंग्रेजी और साथ ही देवनागरी लिपि में लिखी अंग्रेजी या रोमन लिपि में लिखी हिन्दी में भी यह होता है।"[10]

भारत में हिन्दी के बदलने से पहले शहरी समाज बदलने लगा था। उस शहरी समाज के भूमंडलीकृत होने से उसमें हिन्दी के साथ अंग्रेजी के शब्द और वाक्य भी बहुत आने लगे। इस नए भाषा-रूप का इस्तेमाल युवा ही अधिकतर कर रहे हैं। इसे उनके आत्मविश्वास के साथ जोड़कर देखते हुए फ्रंचेस्का ओर्सीनी लिखती हैं- "इस तरह, हिंग्लिश को न सिर्फ शहरी, कॉस्मोपॉलिटन युवा-संस्कृति की बल्कि एक नये, उद्योगशील और आत्मविश्वासी भारत की भी भाषा बताया जाता है...।"[11]

इस नए युवा वर्ग के आत्मविश्वास और अंग्रेजी भाषा को हिन्दी के साथ प्रयोग करते हुए हिन्दी में साहित्य भी लिखा जा रहा है। हालांकि साहित्य में फिल्म, समाचार पत्रों, एफ.एम. की तुलना में हिंग्लिश का चलन अभी कम है। पंकज मित्र की कहानी जिसका शीर्षक भी अंग्रेजी में है-'क्विज मास्टर'। इस कहानी से कुछ वाक्य आप पढ़िए- "अपना एकमात्र सूट पहनकर एकमात्र टाई लगाए- 'ए वेरी गुड इवनिंग टु यू लेडिज एंड जेन्टलमैन...' फ़र्राटेदार अंग्रेजी, चुस्त-दुरुस्त उच्चारण...वर्षों के अभ्यास से बनाई हुई, सीधी गई...और 'क्विज मास्टर्स डिसीजन इज फाइनल' तक आते-आते तो गर्दन उसकी तनकर अकड़

जाती थी। लोगों की तालियों के बीच उसे लगे लगता कि बस उसकी बात ही 'आखिरी बात' है।"[12] इस तरह की हिंदी आजकल साहित्य में लिखी जाने लगी है। शहरों और कस्बों में बदलती हुई हिंदी को साहित्य में भी कुछ हद तक लिखा जा रहा है। इसे आप कोड स्विचिंग और हिंग्लिश दोनों की कह सकते हैं।

उदारीकरण की प्रक्रिया ने हिंदी समाज को पश्चिमी दुनिया और अनेक रूपों में अंग्रेजी के नजदीक ला दिया। मनोरंजन के साधनों के साथ भाषा में यह परिवर्तन सामान्य रूप से दिखने लगा। नब्बे के दशक में ही विज्ञापनों में हिन्दी के साथ अंग्रेजी के कुछ शब्द आने लगते हैं। समाज में बड़े समुदाय ने इन विज्ञापनों को अपनी भाषा और व्यवहार में शामिल कर लिया। 1998 में सामने आया 'ये दिल माँगे more' जैसा विज्ञापन देखते-देखते सामान्य जन के मुँह से निकलने लगा। "टीवी विज्ञापनों की भाषा वैविध्यपूर्ण है। उत्पादक अपनी वस्तु की बिक्री हेतु आकर्षक विज्ञापनों का सहारा लेता है। दो भाषाओं को मिलाकर एक नया फिकरा गढ़ने की तकनीक-....ये दिल मांगे मोर, आम की रसीली गोली/एन्जॉय वेरी स्लोली" अब पहले की तुलना में हिन्दी में अंग्रेजी का मिश्रण कहीं ज्यादा तेज गति से होने लगा। इस संबंध में फ्रंचेस्का ओर्सीनी लिखती हैं- "तुलनात्मक

रूप से देखें तो 1990 के दशक यानी उदारीकरण के दौर के बाद से एक नई सहिष्णुता नजर आती है। इसके तहत ढेर सारे वैसे संदर्भों—जैसे टीवी के समाचार, अखबार, विज्ञापन, हिन्दी फिल्मों के संवाद और गीत आदि जहाँ भाषाई मिश्रण की अनुमति नहीं दी जाती थी वहाँ वस्तुतः विविध भाव-भंग से, जिनका जिक्र ऊपर किया गया है, हिंग्लिश को वरीयता दी जाने लगी है।"[13]

जब जनता की भाषा में अंग्रेजी के शब्द बहुत तेज गति से आने लगे तो शासन की आधिकारिक और तत्समनिष्ठ हिन्दी में भी परिवर्तन आने लगा। जिस भाषा को शहरी जनता और मनोरंजन माध्यम पूरे दिन बोल रहे हों, उसे सरकार भी अपनाने लगती है। इस स्थिति के परिणामस्वरूप सन् 2011 में भारत सरकार ने अपने आदेशों की भाषा में भी सहज-सामान्य प्रचलित अंग्रेजी शब्द शामिल करने संबंधी आदेश पारित किया। इस पर कुछ विवाद भी हुआ। लेकिन अब यह सामान्य नियम जैसा बन गया है।[14]

इस समय जो हिन्दी बोली जा रही है और उसमें अंग्रेजी के शब्दों को शामिल करने की स्थिति है, वह व्यक्ति और उसकी आर्थिक और शैक्षिक पृष्ठभूमि पर निर्भर है। ग्रामीण समाज का युवा भी अपनी क्षमता के अनुसार हिन्दी में अंग्रेजी शब्दों को शामिल कर रहा है और शहरों में रहने वाले अंग्रेजी स्कूलों में पढ़े हुए युवा भी ऐसी भाषा बोल रहे हैं। लेकिन दोनों तरह के युवाओं की हिंग्लिश में

फर्क है। इस नई तरह की भाषा-शैली में भी सामाजिक भेद देखा जा सकता है- “अगर हिंग्लिश की सफलता के पीछे एक वजह यह गिनायी जाती है कि यह बाधाएँ तोड़ती और संवाद-संचार को संभव बनाती है तो दूसरी तरफ यह बात भी है कि हिंग्लिश बोलने वाला जिस सामाजिक-वर्ग का होता है उसकी छाप भी इस भाषा पर होती है और इस अर्थ में हिंग्लिश अब भी बड़ी सूक्ष्म रीति से अपने बोले जाने के लहजे, बलाघात और शब्दों के चयन आदि के हिसाब से सामाजिक ऊँच-नीच की सूचना देती है।”[15] शहरी युवाओं को अंग्रेजी की ओर मुड़ते देखकर या कहें इस नई शैली की हिन्दी बोलते देखकर कुछ अखबार भी इस नई तरह की हिन्दी का इस्तेमाल करने लगे हैं। नवभारत टाइम्स इस मामले में सबसे आगे और अलग दिखाई देता है- “टाइम्स ऑफ इण्डिया के राहुल कंसल बताते हैं कि हमने, ‘अपने संपादकों को कहा कि अंग्रेजी के जितने शब्दों का प्रयोग पाठक करते हैं आप उतने शब्दों का प्रयोग कीजिए—और इससे मदद मिली।”[16] लेकिन एक बात और यहाँ दिखाई देती है कि अख़बार में इस तरह की भाषा में कोई एकरूपता नहीं है। वह कभी ज्यादा हिंग्लिश तो कभी कम हिंग्लिश है। साथ ही खबर के विषय और पत्रकार की पृष्ठभूमि के अनुसार हिंदी में अंग्रेजी शब्दों की मिलावट कम या अधिक देखी जा सकती है। दिल्ली और मुंबई के शहरी युवाओं की भाषा में कितने प्रतिशत शब्द अंग्रेजी के आ

रहे हैं? इस पर कोई शोध देखने में नहीं आया है। लेकिन नवभारत टाइम्स जैसे अखबार में कई बार पचास प्रतिशत के आसपास हिंदी में अग्रेजी शब्दों की उपस्थिति देखने को मिलती है।

"शायद नवभारत टाइम्स इसी हिंग्लिश को गढ़ना चाहता है जिससे शहरी मध्यवर्ग जुड़ सके। लेकिन इस प्रयास में वह कभी ज्यादा और कभी कम के दो ठिकानों के बीच झूलता रहता है। क्योंकि नीति तो है, लेकिन समान रूप से प्रशिक्षित कार्यपालक नहीं हैं। भाषा की एकरूपता की कोई गंभीर कोशिश भी नहीं दिखती।"[17] युवाओं को अपने अख़बार से जोड़ने के अलावा एक नई प्रकार की हिंदी को लिखित में मान्यता दिलाने का काम भी इस अख़बार ने सबसे ज्यादा किया है।

इस प्रक्रिया के कारण 'आईनेक्स्ट' जैसे छोटे अखबार भी सामने आए हैं जो इसी तरह की हिंदी इस्तेमाल करते हैं, जिसे लोकप्रिय रूप में हिंग्लिश कहा जा रहा है। "भारत सरकार के टेलीविज़न दूरदर्शन की भयाक्रांत करने वाली शुद्ध हिन्दी, जिसका बीते वक्त में यह कह कर मज़ाक बना था कि उसे हिन्दी में उच्च-शिक्षा प्राप्त करने वाले के सिवाय कोई नहीं समझता, अब खुद दूरदर्शन पर भी अतीत की बात बन चुकी है। 'समाचार पत्रों की क्रांति' का एक हिस्सा टेब्लॉइड न्यूज़ सप्लीमेंट्स की बढ़ोतरी से जुड़ा है जिसमें बॉलीवुड और टेलीविज़नी पर्दे

के सितारों की ज़ोरदार कवरेज होती है। इसमें तर्जे-बयाँ के रूप में फिल्मी गॉसिप के उस पुराने रूप को अपना लिया गया है जिसने हिंग्लिश की राह खोली। हिंग्लिश अखबार आईनेक्स्ट जैसे प्रयोग भी हुए हैं जो कि मूलतः हिन्दी का अखबार है लेकिन उसमें बहुत सारे अंग्रेजी के शीर्षक देवनागरी या रोमन लिपि में लिखे होते हैं।"[18] इन नई बन रही हिंदी में देवनागरी की जगह रोमन का भी खूब इस्तेमाल किया जा रहा है। अनेक लोग इस नई लिपि में धीरे-धीरे सहज भी होते जा रहे हैं।

फ़िल्मी दुनिया में फिल्म की स्क्रिप्ट प्रायः रोमन में ही लिखी जाने लगी है। यह चलन कब से शुरू हुआ? इस बारे में कोई प्रामाणित जानकारी तो नहीं मिली है लेकिन फ़िल्मी दृश्यों में भी दिखाई जाने वाली हिंदी में अनेक बार रोमन लिपि में लिखी हिंदी हम देख सकते हैं। उदाहरण के रूप में '3 इडियट्स' फिल्म में चतुर रामालिंगम नामक विद्यार्थी शुद्ध हिंदी में अपने लिए भाषण लिब्रेरियन दुबे से लिखवाता है, लेकिन उस पन्ने पर रोमन में ही भाषण[19] लिखा हुआ दिखाई देता है।

हिंग्लिश के कारण ठीक से अंग्रेजी न बोल पाने वाला हिंदी भाषी युवा वर्ग अपने को अंग्रेजी भाषा के थोड़ा करीब पहुँचा हुआ भी पाता है। इसमें वह खुद को अपने हिंदी भाषी समाज से आगे बढ़ा हुआ भी देखता है। इसलिए हिंग्लिश का

प्रयोग ऐसे युवा भी करते हैं, जो अंग्रेजी बोलने में पूरी तरह से निपुण नहीं हो पाए हैं- ‘‘हाँ, यह बात सच है कि जो अच्छी अंग्रेजी बोल लेते हैं और जो अच्छी अंग्रेजी नहीं बोल पाते उनके बीच एक निश्चित भेद है। बाहर के ज्यादातर छात्र भाषा को लेकर सहज नहीं हैं और जो इस कारण कटा हुआ महसूस करते हैं। मुझे लगता है कि इसी वजह से अंग्रेजी का ‘भारतकृत’ संस्करण इतना लोकप्रिय हुआ है। इसने चीजों को ज्यादा अनौपचारिक बनाने में मदद की है और सामान्य तौर पर हर व्यक्ति को इसके लोकप्रिय होने का कारण उसका ‘कमसिन’ भाषा होना है। इसमें एक खिलंदड़ाना आवेग है। कॉलेज में हम लोगों में कोई भी समुचित हिन्दी या अंग्रेजी में नहीं बोलता, हम हमेशा हिंग्लिश बोलना ही पसंद करते हैं और क्यों न करें? यह सबसे ज्यादा रचनात्मक और लचीली भाषाओं में एक है। हम रोज एक नया शब्द गढ़ लेते हैं और इसमें बहुत मज़ा आता है’, चंडीगढ़ के छात्र रमनदीप सिंह ने हँसते हुए बताया।’’[20] कुछ विद्वानों के हिंग्लिश को एक संकर भाषा भी कहा है। जो वर्तमान समाज के यथार्थ को व्यक्त कर रही है- ‘‘अमिताभ भट्टाचार्य भाषा के रूप में हिंग्लिश को लेकर बहुत गंभीर हैं और इसका बहुत सम्मान करते हैं। उनकी नजर में हिंग्लिश हिन्दी और अंग्रेजी के शब्दों को आमने-सामने टकराकर हँसी पैदा करने का माध्यम नहीं बल्कि समकालीन यथार्थ को धारण करने वाली एक संकर भाषा

है...।"[21] समाज में हिंग्लिश के व्यवहार के बाद इसे 2009 में अकादमिक समाज से भी मान्यता मिलने लगी।

इस विषय पर किताब सम्पादित होने लगी और कार्यक्रम भी होने लगे। इस तरह का ऐसा अकादमिक सेमिनार रुपर्ट स्नेल ने मुंबई में आयोजित किया और फिर उन्होंने इस नई बन रही भाषा पर 'चटनीफ़ाइंग इंग्लिश : द फेनोमेनन ऑफ हिंग्लिश' नामक किताब भी लिखी- "2009, जनवरी में रुपर्ट स्नेल ने हिंग्लिश को लेकर उठ रहे विभिन्न सवालों और संदर्भों को ध्यान में रखते हुए मुंबई में सेमीनार आयोजित किया। इसमें अकादमिक दुनिया से लेकर सिनेमा, विज्ञापन, टेलीविज़न जैसे अलग-अलग क्षेत्रों के लोग शामिल हुए, बाद में 2011 में उन्होंने रीता कोठारी के साथ मिल कर 'चटनीफ़ाइंग इंग्लिश : द फेनोमेनन ऑफ हिंग्लिश' नाम से पुस्तक का सम्पादन किया, यह हिंग्लिश को लेकर पहली किताब है जिसमें अलग-अलग क्षेत्रों में इस्तेमाल की जाने वाली हिंग्लिश, उसके पीछे की रणनीति और संदर्भ पर विस्तार से चर्चा की गई है।"[22] अब हिंग्लिश को तकनीक के क्षेत्र में भी मान्यता मिलने लगी है। अभी हिंग्लिश हिंदी में एक नई शैली या रूप भर ही है। लेकिन इस मान्यता में इसे स्वतंत्र भाषा की ओर ले जाने का संकेत भी है- "इधर तकनीकी स्तर पर एपल-मैक ने अपने ऑपरेटिंग सिस्टम आइओएस-9 में बाकी सुविधाओं के विस्तार के साथ-साथ

हिंग्लिश के लिए अगल से की-बोर्ड की व्यवस्था की है। यानी व्याकरण और भाषा-विज्ञान के स्तर पर निर्धारण से पहले वैश्विक स्तर पर इसने कम्प्यूटिंग व्यवस्था के तहत हिंग्लिश को एक स्वतंत्र भाषा का दर्जा दे दिया है।''[23] बाज़ार के स्तर पर इसे पहले मान्यता मिलना इस बात का संकेत है कि हिंग्लिश एक बाज़ार-प्रिय भाषा भी बनकर उभरी है।

पुराने आकाशवाणी की भाषा की अपनी पहचान है। नए एफएम चैनलों ने अपनी भाषा को पूरी तरह से हिंग्लिश के रूप में ढाल लिया है। वहाँ कार्यक्रम का संयोजन करने वाले रेडियो जोकी (आर जे) अपनी भाषा में हिंदी के साथ अंग्रेजी के बहुत सारे नए और पुराने प्रचलित शब्दों को आराम से ले आते हैं -''एफ़एम चैनलों की भाषा पर चर्चा करते हुए 'रेडियो मिर्ची सुनने वाले ऑल्वेज़ खुश' को एक उदाहरण के तौर पर पेश किया जाता रहा है। इसका एक मतलब यह भी निकलता है कि नब्बे के दशक की आखिर तक आते-आते माध्यम के तौर पर रेडियो के तेज़ी से खात्मे की एक वजह उसकी भाषा भी रही है।''[24] इस नई बन रही भाषा को अनेक लोग आकर्षक और अधिक सम्प्रेषणीय मानने लगे हैं-''हिन्दी में अंग्रेजी की मिलावट से बनी हिंग्लिश के कारण एक माध्यम के तौर पर रेडियो की भाषा पहले से कहीं अधिक आकर्षक, श्रोताओं के मिजाज़ के अनुरूप और संप्रेषणीय हुई।''[25]

हिंदी का श्रोता समाज एक जैसा नहीं है इसलिए यह बात दावे के साथ नहीं कही जा सकती है कि हिंग्लिश के कारण हिंदी पहले की तुलना में अधिक संप्रेषणीय हुई है। इस बात को दूसरे ढंग से कहते हुए गीतकार प्रसून जोशी हिंग्लिश को हिंदी संकट के समय प्रयुक्त की गई कोशिश के रूप में देखते हैं- "प्रसून जोशी मानते हैं कि हिंग्लिश व्याकरण या भाषाई शुद्धता से कहीं ज्यादा खुद को बचाए रखने का मसला है। व्यक्ति किसी भी हाल में अपनी बात लोगों के बीच रखना चाहता है और ऐसे में हिंग्लिश के साथ 'लैंग्वेज ऑफ सर्वाइवल' का सवाल ज्यादा महत्त्वपूर्ण बन जाता है।"[26]

हिंदी बोलने और समझने वाला समाज बहुत बड़ा है। और उस पर कोई संकट प्रत्यक्षत: दिखाई नहीं देता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि हिंग्लिश का प्रयोग हिंदी के 'लैंग्वेज ऑफ़ सर्वाइवल' बन गया है। और न ही इसे 'मरता क्या न करता' के रूप में देखा जा सकता है। जैसा कि रुपर्ट स्नेल ने कहा है- "यह भाषा 'मरता क्या न करता' की है। चूँकि लोगों को किसी न किसी प्रकार एक-दूसरे से अपनी बात कहनी पड़ती है, इसलिए उन्होंने इसे बना डाला। मैं जो फर्क करता हूँ वह ये है: किसी के लिए यह मजे के लिए है तो किसी के लिए यह मजबूरी का नाम है। रीता कोठारी और रुपर्ट स्नेल (2011) : 194"[27] यह मूल रूप से दो भाषाओं का बहुत नजदीक आना और एक नए रूप को निर्मित

करने का प्रयास है। इसलिए दोनों भाषाएँ अपनी शब्दावली और रूप को कुछ बदल रही हैं।

एक ही वाक्य में दो-तीन या चार भाषाओं के प्रयोग का उदाहरण नया नहीं है। इसे भाषाओं का आपसी लेन-देन कह सकते हैं। इसे वैयाकरणाचार्यों ने भी गलत नहीं माना है। आचार्य किशोरीदास वाजपेयी ने हिंदी में बांगला आदि भाषाओं के शब्दों के आने को बुरा नहीं अपितु इसे अच्छा संकेत माना और कहा कि अभी हिंदी अपनी आसपास की बहनों से मिल रही है और फिर वह विदेशी भाषाओं से भी कई बातें सीखेगी और शब्द ग्रहण करेगी[28] - ‘‘प्रसून जोशी रंग दे बसंती के गीत ‘मस्ती की पाठशाला’ की पंक्ति ‘टल्ली होकर गिरने से, समझी हमने ग्रैविटी’ का उदाहरण देते हुए दावा करते हैं कि इसमें एक ही साथ अंग्रेजी, पंजाबी और हिन्दी के शब्द शामिल हैं। भाषा के इस रूप पर उन्हें गर्व है...।’’[29] भाषा का यह रूप कई लोगों के लिए गर्व करने और कई लोगों के लिए आपत्ति करने की स्थिति लेकर सामने आया है। ‘टल्ली होकर गिरने से, समझी हमने ग्रैविटी’ भाषा का यह रूप भारत की बहुभाषिकता की ओर भी संकेत करता है।

यह निश्चित बात है कि नए संचार और मनोरंजन उद्योग ने हिंग्लिश को एक छोटे दायरे से उठाकर बड़े समाज का सच बना दिया है-‘‘हिंग्लिश और युवा/ कैम्पस

की भाषा पर बात करते हुए सिद्धार्थ मिश्रा और सौमिक पल इस बात पर समान रूप से सहमत हैं कि हिंग्लिश के विस्तार में टेलीविज़न और उन पर प्रसारित कार्यक्रमों और खासकर विज्ञापनों की बड़ी भूमिका रही है। इसके पहले हिंग्लिश के इस तरह से युवाओं के बीच प्रयोग नहीं हुए। इस क्रम में दोनों 'यंगिस्तान' से लेकर 'यही है राइट चॉइस बेबी' के युवाओं की बोलचाल पर पड़ने वाले असर की विस्तार से चर्चा करते हैं।"[30] इस नई भाषा को नौजवान पीढ़ी की भाषा मानकर इसे यंगिस्तान की भाषा भी कहा जाने लगा है। यह देखा जा रहा है कि भारत की युवा पीढ़ी इस भाषा का इस्तेमाल अधिक से अधिक कर रही है।
आज से पन्द्रह साल के पहले की वास्तविकता अलग थी और आज से सात-आठ साल और आज की स्थिति एक जैसी नहीं है। भाषा और उसे बोलने वाला समाज बड़ी तेजी से बदल रहा है। यह बदलाव उन साधनों से ज्यादा हो रहा है जिससे हिंदी भाषी समाज बहुत ज्यादा जुड़ा हुआ है। अब हिंदी में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा है-"2004-05 तक हिन्दी वाक्यों के बीच अंग्रेजी के शब्द-भर प्रयोग किए जाते रहे। 2012-13 तक आते-आते लगातार तीन-तीन, चार-चार वाक्य हिन्दी शब्दों के प्रयोग के साथ अंग्रेजी में बोले जाने लगे।"[31] हिंदी भाषा में अंग्रेजी शब्दों और उपवाक्यों का प्रयोग समय के साथ आगे ही बढ़ता जा रहा है।

एफ़एम चैनलों ने हिंदी के नए गानों के साथ जो भाषा अपने प्रस्तुतिकर्ताओं द्वारा इस्तेमाल करवाई है, वह हिंग्लिश ही है। ऐसा करने का उन पर बाज़ार की ओर से दवाब भी बनाया गया। पहले उन्होंने शब्दावली से कोड मिक्सिंग की शुरुआत की। फिर अंग्रेजी के उपवाक्यों तक का आसानी से इस्तेमाल किया जाने लगा है- "एफ़एम चैनलों के संदर्भ में हिंग्लिश के प्रयोग को लेकर फिलहाल इतना तो स्पष्ट है कि प्राथमिक तौर पर चैनल जिस शब्दावली का इस्तेमाल करते हैं, अंग्रेजी की जो कोड-मिक्सिंग और कोड-स्विचिंग करते हैं, वह या तो व्यावसायिक गतिविधियों, किसी व्यावसायिक संधि या प्रायोजक की इच्छा पर आधारित है या फिर कई ऐसे क्षेत्र हैं जो इसके प्रदाता हैं।"[32] कई बार ऐसा भी लगता है कि मनोरंजन जगत से जुड़ी कम्पनियाँ भाषा के इस प्रयोग को अधिकाधिक बढ़ाने पर बल दे रही हैं।

नवभारत टाइम्स की हिंदी में अंग्रेजी के बहुत सारे शब्दों को मिलाने के कारण उसकी भाषा अब हिंग्लिश हो गई है। नवभारत टाइम्स को अब विद्वान् हिंग्लिश का प्रतिनिधि अख़बार भी कहने लगे हैं।[33] कुछ विद्वान मानते हैं कि हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं की कम योग्यता कारण हिंग्लिश का चलन बढ़ रहा है- "भाषा को लेकर जो शुद्धतावादी आग्रह है, वह भाषाई 'ज्ञान' के दावे से उपजा है। इस नजरिये से देखने पर विद्वानों के एक समूह की यह मान्यता स्वाभाविक

लगती है कि इस ज्ञान का अभाव ही हिंग्लिश के उभार की वजह है।"[34] संचार के साधनों के साथ युवा वर्ग के जीवन से ज्यादा जुड़े विषयों की भाषा हिंग्लिश होने लगी है-"निश्चित तौर पर टीवी, इंटरनेट, ब्लॉग, सोशल नेटवर्किंग आदि ने हिंग्लिश के इस्तेमाल को बढ़ावा दिया है। इनकी देखा-देखी अख़बारों और पत्रिकाओं ने भी यह राह पकड़ ली है। मनोरंजन, खेल, व्यापार आदि से जुड़ी खबरों की भाषा तो अनिवार्य रूप से हिंग्लिश हो गई है।"[35] शहर में आने वाले युवा वर्ग भी इसी भाषा को अपनाने और इस्तेमाल करने लगते हैं। इसलिए भी शहरों में हिंग्लिश का चलन काफी बढ़ रहा है-"छोटे शहरों के बारहवीं-बीए पास युवा जब नौकरी की तलाश में बड़े शहरों में दाखिल होते हैं, तो इनके जीवन और काम की स्वाभाविक भाषा हिंग्लिश ही होती है। जब आप भाषा नहीं जानते तो भाषा बनाते हैं, और जब बहुत बड़ी आबादी भाषा बनाने के काम में लगी हो, तब वह अच्छी-खासी हिंग्लिश बन जाती है।"[36] अभी हिंग्लिश का जितना प्रयोग बोलने में किया जा रहा है, उतना लिखने में नहीं हो रहा है। लिखना चाहें देवनागरी में हो या रोमन अक्षरों में हिंग्लिश का प्रयोग बोलने की अपेक्षा लिखने में अभी कम है-"निश्चित रूप से, युवा, व्यापार, फैशन, सिनेमा आदि से जुड़ी खबरों में हिंग्लिश का अधिकाधिक इस्तेमाल होता है। हिंग्लिश कानों की आदत तो बन चुकी है, लेकिन आँखों को अभी भी यह

चुभती है, खास तौर पर लंबी रपटों में। इसलिए प्रिन्ट यह खतरा पूरी तरह से नहीं उठा पाया है, क्योंकि सुनाना तो आसान है लेकिन पढ़ाना मुश्किल।"[37] लेकिन धीरे-धीरे आँखों को अटपटी लगने या खटकने वाली यह स्थिति में लगातार प्रयोग करते रहने के कारण दूर होती जाएगी। इस नई बन रही भाषा के पीछे की शक्ति इसे रोकने वाली शक्ति से कहीं अधिक बड़ी नजर आती है।

रेडियो चैनलों और विज्ञापनों की भाषा तो निश्चित रूप से हिंग्लिश हो गई है। लेकिन अभी तक साहित्यिक लेखन में यह चलन बहुत कम है। वैचारिक हिंदी लेखन में भी हिंग्लिश का प्रयोग अभी न के बराबर है। इसे अभी पॉपुलर कल्चर या भाषा मानकर इससे दूरी बनाई जा रही है। इस तरह हम समाज में एक साथ दो बड़े प्रकार की हिंदी देख सकते हैं। पहली हिंदी में अंग्रेजी के शब्दों को विदेशज शब्दों के रूप में स्वीकार कर चुकी हिंदी है तो दूसरी ओर अंग्रेजी के ज्यादा से ज्यादा शब्दों के साथ बोली-लिखी जाने वाली हिंदी है, जिसे हिंग्लिश कहा जाने लगा है- "निजी रेडियो चैनलों और विज्ञापन वगैरह में हिंग्लिश ने एक सहजता प्राप्त कर ली है। शहरी और उच्च-कस्बाई जीवन इनके निशाने पर हैं, क्योंकि वे खपत के इलाके हैं। रेडियो की तो ज्यादातर अंतर्वस्तु युवाओं को ध्यान में रख कर तैयार की जा रही है। विज्ञापन के साथ भी यह एक हद तक लागू होता है। साहित्यिक लेखन में हिंग्लिश का असर शायद सबसे कम है।

हालाँकि, पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में कुछ कहानियाँ और उपन्यास लिखे गए जिनमें हिंग्लिश के प्रयोगों की बहुतायत है, लेकिन इन्हें 'लोकप्रिय साहित्य' के रूप में देखा जाता है। बड़े पैमाने पर जो साहित्य लिखा जा रहा है, उनमें किरदार भले ही कभी-कभार हिंग्लिश का प्रयोग कर लेते हों, आख्यान में वह ज़्यादा नज़र नहीं आता। इस पृष्ठभूमि में नवभारत टाइम्स की भाषा काफी 'बोल्ड' लगती है, भले ही 'ब्यूटीफुल' न हो।"[38] इस सम्बन्ध में ही दो राय हो सकती हैं। कुछ लोगों को अंग्रेजी मिली हुई नवभारत टाइम्स की भाषा बोल्ड और ब्यूटीफुलदोनों लगती हैं। इसका प्रमाण इस अख़बार में लगातार इस नई तरह की भाषा का इस्तेमाल करते रहना ही है।

नवभारत टाइम्स अखबार की कुछ खबरों की भाषा का उदाहरण आप देखें। कभी-कभी तो कुछ खबरों में पचास प्रतिशत शब्द भी अंग्रेजी के प्रयुक्त होने लगे हैं- "7 अक्टूबर, 2013 को 'मेट्रो के पास इमरजेंसी लैंडिंग' शीर्षक से पहले पन्ने पर छपी खबर की भाषा देखिए :

गाजियाबाद के हिंडन एयरबेस से टू-सीटर प्लेन ने दिल्ली की तरफ उड़ान भरी लौटते वक्त पायलट को तकनीकी फॉल्ट का पता चला तो पार्क में इमरजेंसी लैंडिंग कराई। ... प्लेन इमरजेंसी लैंडिंग कर रहा रहा। लैंडिंग सेफ थी और दोनों

पायलट भी सलामत थे, अचानक घोष को लगा कि प्लेन में टेक्निकल फॉल्ट है...।"[39]

"इस खबर का शीर्षक है, 'हैड, फुट एंड माउथ डिज़ीज़'। इसके कुछ वाक्यांश हैं :

घबराएँ नहीं, बस रहें एलर्ट

मानसून सीजन में वायरस रहता है ज्यादा एक्टिव, फैलती है बीमारी

बॉडी के अंदर फ्लूइड कम न होने दें

पैरेंट्स के नाम एडवाइजरी जारी

स्कूलों ने प्राइमरी सेक्शन को क्लोज कर दिया है

शरीर पर रैशेज हैं

सभी क्लासेज को क्लोज़ नहीं किया जा सकता

फॉगिंग करवाई जा रही है...।"[40]

"पृष्ठ 4 पर युवाओं और शिक्षा से जुड़ी खबर में लगभग 50 फीसदी शब्द अंग्रेजी के हैं:

फाउंडेशन कोर्स

25 मार्क्स प्रोजेक्ट के होंगे

ग्रुप के हर स्टूडेंट्स को बराबर नंबर

20 नंबर का सेमेस्टर एग्जाम

15 नंबर प्रेजेंटेशन के बेस पर

यह हाल युवाओं से जुड़ी लगभग हर खबर के साथ है।"[41]

कुछ और उदाहरण आप देखें- "आर्थिक मामलों से संबंधित खबरें एक नये किस्म की हिंग्लिश लेकर आ रही हैं। पृष्ठ 11 पर नयी दिल्ली से बाबर जैदी की खबर है, 'फाइनेंशियल सेक्टर पर फोकस से लॉस'। पहला पैराग्राफ है : 'इन्वेस्टमेंट में डायवर्सीफ़िकेशन सेफ़्टीनेट का काम करता है, लेकिन यह तभी असरदार होता है जब फोकस्ड नहीं हो।'"[42]

"इसी पन्ने पर मुंबई से शिल्पी सिन्हा की खबर की भाषा भी इसी तरह की है। ' नये बीमा नार्म्स से घटेगा एजेंट्स का कमीशन' शीर्षक इस खबर में आगे लिखा गया है : '... ट्रेडिशनल प्रोडक्टस के लिए नये नार्म्स बनाए हैं, जिनका मकसद पॉलिसी होल्डर्स के लिए कॉस्ट घटाना, रिटर्न बढ़ाना, और मृत्यु होने की स्थिति में पेआउट बढ़ाना है। नये नार्म्स से इंश्योरेन्स कंपनियों को पॉलिसीज़ के डिसकंटीन्यूएशन से होने वाला बेनीफिट भी कम होगा।'"[43] इन उद्धरणों को पढ़ने से आप हिंग्लिश भाषा का बनता हुआ स्वरूप देख और पढ़ सकते हैं। नवभारत टाइम्स की भाषा की विशेषता बताते हुए रोहित प्रकाश लिखते हैं कि धर्म-अध्यात्म की भाषा में अभी कोई बदलाव देखने में नहीं आ रहा है। और

युवा वर्ग से जुड़ी खबरों की भाषा पूरी तरह से हिंग्लिश बनाई जा रही है-"यहाँ यह बात साफ कर देनी जरूरी है कि हमेशा राजनीति की अपेक्षा मनोरंजन, खेल और युवाओं पर आधारित खबरों की विस्तृत रिपोर्ट में अंग्रेजी के शब्द ज्यादा आते हैं, एक तथ्य यह भी है कि अंग्रेजी शब्दों की भरमार उन खबरों में ज्यादा होती है जिसमें थोड़ा 'फन एलिमेंट' होता है। अक्सर राजनीति भी उस कोटि में दाखिल हो जाती है। गंभीरता की भाषा हिन्दी हो जाती है। इसका एक उदाहरण यह है कि धर्म-अध्यात्म के पन्ने पर कोई छेड़छाड़ नहीं होती। ज्यादा से ज्यादा हिन्दी के शब्द होते हैं।"[44] आम बोलचाल में हिंग्लिश का कैसा इस्तेमाल कई बार सुनने को मिलता है, उसका एक और मनोरंजक उदाहरण इस प्रकार है-"अरे यार, 'लाइट' की तो बहुत 'प्रॉब्लम' है हमारे 'एरिए' में, मैं तो 'मंडे टेस्ट' के लिए कुछ 'रिवाइज़' नहीं कर सका।' 'मेरे यहाँ तो कल 'गैस्टों' की 'लाइन' लगी रही। उनके 'किड्स' तो बहुत ही 'नॉटी' थे। 'प्रिपेटरी लीव' भी 'वेस्ट' हो गयी।' 'सुन मेघा, दिव्या की 'डिनर पार्टी' में सब 'डिशिज' इतनी 'टेस्टी' थी कि आई कांट टेल यू!' 'सर, आज का 'पेपर' तो इतना 'टफ' और 'लैंदी' था कि मैं तीन 'क्वश्चंस' तो 'अटैम्पट' ही नहीं कर सका। 'मोस्टली स्टूडेंट्स' का पेपर 'इनकंपलीट' ही रह गया।' इन उदाहरणों को देने के बाद डॉ. रवि शर्मा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐसे वाक्य पब्लिक स्कूलों की देन हैं।"[45] बानवे शब्दों

के संवाद में एक तिहाई शब्द अंग्रेजी के हैं। इसे हिंग्लिश का आदर्श उदाहरण मान सकते हैं। इस प्रकार की हिंदी शहरों के अंग्रेजी स्कूलों में पढ़े हुए युवा अक्सर बोलते हैं।

हिंदी भाषा में अग्रेजी के शब्दों के इस्तेमाल पर कई बार लोग भाषा की अशुद्धि का आरोप लगाते हैं तो कई बार कुछ विद्वान् इसे पहले से अरबी-फारसी शब्दों की तरह अंग्रेजी के शब्दों के प्रचलन के रूप में देखते हैं- ''हिंग्लिश की पक्षधरता सिर्फ पाठक नहीं, बल्कि विशेषज्ञों का भी एक वर्ग कर रहा है। लखनऊ विश्वविद्यालय के पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग में प्राध्यापक डॉ. मुकुल श्रीवास्तव लिखते हैं, 'आज बात होती है कि आखिर हिन्दी में अंग्रेजी के शब्द क्यों प्रयोग हो रहे हैं? हो-हल्ला जोरों पर है। इससे हिन्दी के खत्म होने का डर क्यों सता रहा है? क्या इससे पहले उर्दू-फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग नहीं होता रहा है? हम यही तो कहते हैं- 'ये हमारी किस्मत में नहीं था' क्या इस पर किसी ने ऐतराज किया? नहीं न? गौर से देखिए यहाँ किस्मत शब्द उर्दू ही तो है। क्या इससे हिन्दी को कोई नुकसान हुआ? हकीकत में यह नुकसान नहीं उसकी श्रीवृद्धि है।'''[46]

3 इडियट्स फिल्म में मुख्य रूप से हिंग्लिश भाषा का ही प्रयोग किया गया है। कुछ पात्रों में यह अधिक है तो कुछ पात्रों में कम है। आर्थिक पृष्ठभूमि के कारण

भी यह अंतर पहचाना जा सकता है। गरीब परिवार से आने वाले राजू की माता जी हिंदी का ही प्रयोग अधिक करती हैं। वही अमीर परिवार का चतुर रामालिंगम, सुहास और वीरू सहस्त्रबुद्धे, पिया आदि पात्र हिंग्लिश का प्रयोग ज्यादा करते हैं। लेकिन इंजीनियरिंग कॉलेज में काम करने वाला नौकर मनमोहन अपने आसपास के वातावरण के कारण हिंग्लिश का प्रयोग करता है-"मैं मन मोहन। एम एम। ये सब इंजिनियर्स मुझे मिलीमीटर बुलाते हैं। दूध, अंडा-ब्रैड, कपड़े धोना, इस्त्री करना, जरनल भरना, असाइन्मंट कॉपी करना, कोई भी काम है, बोलो। फिक्स्ड रेट है। नो बारगेन।"[47]

"दीज़ आइडियाज़ डोन्ट वर्क इन द रियल वर्ल्ड, छांछड़। तू तेरी ट्रेन पकड़, मैं मेरी ट्रेन पकड़ता हूँ। दस साल के बाद इसी स्टेशन पे वापस आयेंगे। आज ही के दिन। देखेंगे, कौन ज्यादा सकसैसफुल हूँ। तुम या मैं। हैं हिम्मत। हैं हिम्मत तो लगा बेट? बोल आयेगा? आयेगा? आयेगा?"[48]

"अरे राजू, हम लोग पढ़ेंगे। जी लगा के पढ़ेंगे। लेकिन सिर्फ इग्ज़ैम पास के लिए नहीं। किसी महापुरुष ने कहा है कि कामयाब होने के लिए नहीं, काबिल होने के लिए पढ़ो। सकसैस के पीछे मत भागो। एक्सीलैंस, एक्सीलैंस का पीछा करो। सकसैस झक मरके तुम्हारे पीछे आएगी।"[49]

"वीरू सहस्त्रबुद्धे की बात मानों और अपना कमरा चेंज करो। चतुर रामालिंगम के साथ शिफ्ट हो जाओ। इग्जैम आ रहे हैं। उस छांछड़ के साथ रहोगे तो कभी पास नहीं होगे।"[50]

"मेरे डैड सुहास के साथ ये इंगेज्मन्ट तोड़ने नहीं देंगे। आप इतना अच्छा एक्सप्लेन करते हैं, अगर आप उनको भी एक डेमो दे दें तो...।"[51]

जब से हिन्दी खड़ीबोली का उद्भव हुआ है तब से लेकर अब तक उसका रूप एक जैसा या स्थिर नहीं रहा है। संभवतः यह स्थिति दुनिया की सभी जीवंत भाषाओं के साथ कमोबेश लागू हो सकती है। भाषाओं की नित्य परिवर्तनशीलता ही उनको जीवंत बनाती है। कबीर ने भाषा को बहते नीर के रूप में शायद इसीलिए देखा होगा। हिन्दी भाषा ने भी अब तक न जाने कितने परिवर्तन देखे हैं। और वह आज भी बदल रही है। इस संबंध में डॉ रामविलास शर्मा ने लिखा है- "हिन्दी की लोकप्रियता और प्रसार का प्रमाण यह है कि वह अनेक रूपों में बोली जाती है, उसकी अनेक शैलियाँ और अनेक बोलियाँ हैं।"[52] कुछ ऐसी ही बात भाषा वैज्ञानिक डॉ रवींद्रनाथ श्रीवास्तव ने कही है- "भाषा अपने व्यवहार में वैविध्यपूर्ण और विषमरूपी होती है।"[53] हिंग्लिश एक अलग भाषा और हिंदी को नष्ट करने वाली शैली न होकर एक प्रकार की हिंदी ही है। इससे अभूतपूर्व रूप से हिंगि में अंग्रेजी शब्दावली का आगमन हो रहा है। अनेक

तत्सम, अरबी-फारसी मूल के शब्द अंग्रेजी शब्दों के कारण चलन से बाहर हो रहे हैं या कमजोर पड़ रहे हैं। इससे हिंदी की नई शैली का विकास हो रहा है। और हिंदी आने वाली समय में बिलकुल आज जैसी नहीं रहने वाली है। इस कारण यह है कि आज की हिंदी भी पचास साल बोली जाने वाली हिंदी से अलग हो रही है।

भारतेंदु के समय में प्रचलित हिंदी की बारह शैलियों का उन्होंने परिचय दिया है। इन शैलियों को पढ़कर यह जरूर समझा जा सकता है कि हिंदी शुरुआत से ही एकरूप भाषा नहीं रही है। भारतेन्दु ने अपने समय में प्रचलित हिन्दी गद्य की बारह शैलियों का परिचय देते हुए लिखा था-

"अर्थ लिखने की भाषा का उदाहरण—भाषा का तीसरा अंग लिखने की भाषा है और इसमें बड़ा झगड़ा है कोई कहता है कि उरदू शब्द मिलने चाहिए कोई कहता है कि संस्कृत शब्द होने चाहिए और अपनी अपनी रुचि के अनुसार सब लिखते हैं और इसके हेतु कोई भाषा अभी निश्चित नहीं हो सकती।" इन सब भाषाओं के नीचे उदाहरण दिखाते हैं।

वर्षावर्णन।

नं. १ – जिसमें संस्कृत के शब्द बहुत हैं

अहा पर कैसी अपूर्व और विचित्र वर्षा ऋतु सांप्रत प्राप्त हुई है और अनवत्ते आकाश मेघाच्छन रहता है और चतुर्दिक कुझझटिका पात से नेत्र की गति स्तंभित हो गई यही प्रतिक्षण अभ्र में चंचला पुंश्चली स्त्री की भांति नर्तन करती है और वैसे ही बकावली उडडोयमाना होकर इतस्तत: भ्रमण कर रही है मयूरादि अनेक पक्षिगण प्रफुल्लित चित से रव कर रहे हैं और वैसे ही दर्दगण भी पंकाभिषेक करके कुकवियों की भांति कर्णविधक ढक्का झंकार सा भयानक शब्द करते हैं।

नं. २ जिसमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं

सब विदेशी लोग घर फिर आये और व्यापारियों ने नौका लादना छोड़ दिया पुल टूट गये बांध खुल गये पंक से पृथ्वी भर गई। पहाड़ी नदियों ने अपने बल दिखाये बृक्ष कूल समेत तोड़ गिराए सर्प बिलों से बाहर निकले महानदियों ने मर्यादा भंग कर दी और स्वतंत्रता स्त्रियों की भांति उमड़ चली।

नं. ३ जो शुद्ध हिन्दी है

पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आए क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फेर में पड़ गये कि इधर की सुध ही भूल गये। कहां तो वह प्यार की बातैं कहां एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हा! मैं कहां जाऊं कैसी

करूँ मेरी तो ऐसी कोई मुंहबोली सहेली कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊं कुछ इधर उधर की बातों ही से जी बहलाऊं।

नं. ४ जिसमें किसी भाषा के शब्द मिलने का नेम नहीं है।

ऐसी तो अंधेरी रात उसमें अकेली रहना कोई हाल पूछने वाला भी पास नहीं रह रह कर जी घबड़ाता है कोई खबर लेने भी नहीं आता और न कोई इस विपत्ति में सहाय होकर जान बचाता।

नं. ५ जिसमें फारसी शब्द विशेष हैं।

खुदा इस आफत से जी बचाये प्यारे का मुंह जल्द दिखाए कि जान में जान आए। फिर वहीं ऐश की घड़ियां आए शबोरोज दिलवर की मुहबत रहे। रंजोगम दूर हो दिल मसरूर हो।

कलकत्ते की शोभा

नं. ६ जिसमें अंगरेजी शब्द हिन्दी के ही मिल गये हैं।

वहाँ हौसों में हज़ारों बक्स माल रखे हैं-कंपनियों के सैकड़ों बक्स इधर से उधर कुली लोग लिए फिरते हैं लालटेन में गिलास चारों तरफ बल रहे हैं सड़क की लैन सीधी और चौड़ी है पालकी गाड़ी बग्गी चिरिट फिटिन दौड़ रही हैं रेलवे के स्टेशनों पर टिकट बंट रहा है कोई फर्स्ट क्लास में बैठता है कोई सेकेंड में कोई थर्ड में बैठता है ट्रेन को इंजिन इधर से उधर खींच कर ले जाती है और बड़े-छोटे

तक उहदेदार जज मजिस्टर कलकटर पोस्ट मास्टर पिटी साहब स्टेशन मास्टर करनैल जरनैल कमानियर किरानी और कांस्टेबल वगैरह चारों ओर घूम रहे हैं कोई कोट पहिने है कोई बूट पहिने है कोई पाकेट में लोट भरे हैं लाट साहिब भी इधर उधर आते जाते हैं डाक दौड़ती है बोट तिरते हैं पादरी लोग गिरजों में किसानों को बैविल सुनाते हैं पंप में पानी दौड़ता है कंप में लंप रौशन हो रही है।

नं. ७ जिसमें पुरबियों की बोली बा काशी की देशभाषा है।

क साहेब आप कब्बों कलकत्ता गये हो कि नाहीं? जो न गये हो तो एक बेर हमरे कहे से आप ऊ शहर जरूर देखों देख ही के लायक है आपसे हम ओकी तारीफ का करी आपनी आंखी से देखे बिना ओका मजै नहीं मिलता आप तौ बहुत परदेस जाथौ एक बार ओहरो झुक पड़ो।

नं. ८ जो काशी के अर्धशिक्षित बोलते हैं।

महाराज मैं सच कहता हौं कलकत्ता देखने ही के योग्य है आप देखियेगा तो खुस हो जायेगा हम एक दफे गये रहे से ऐसा जी प्रसन्न हो गया कि क्या पूछना है।

नं. ९ दक्षिण के लोगों की हिन्दी।

सो तो ठीक है कलकत्ते तो आपके एक बेर अवश्य जाना हमारे कूं तो ऐसा जान पड़ता है कि जावत पृथ्वी तल में दूसरा ऐसा कोई नगर ही नहीं है।

नं. १० बंगालियों की हिन्दी।

सच है उधर बाजार का बड़ा बड़ा दोकान है उधर मछुआ बाजार में बहुत अच्छा अच्छा सामान है कहीं गाड़ी खड़ा है कहीं केली फला है कहीं गोरा की समाज आती है कहीं अमारा देश का बंगाली बाबू लोगों का पल्टन जाती है के कोम्पानी लोग दिवालिया होया जाता है कहीं मारवाड़ी माल लेकर घर पराता है।

नं. ११ अंग्रेजी ('अंग्रेजों' होना चाहिए) की हिन्दी।

बेशक इसमें कोई शक नहीं है कैलकटा देखने की जगह है हम वहां अकसर रहता आप एक बार जाने मांगो वहां जाकर थोड़ा सबुर करो देखो बहुत लोग जाता तो आप घर में पड़ा-पड़ा क्यों सड़ता जाओ हमारा कहने से जाओ।

नं. १२ रेलवे की भाषा। ईस्टइंडिया रेलवे। इश्तहार—(इसमें दो इश्तहार दिये हैं जिनमें से एक उद्धृत किया जाता है)

कजरा स्टेशन में एक मिसत्री जिसका नाम वसी था एक चारपाई नेआ सिलिपर के चोरा कर के बनवाने के वास्ते अगस्त सन् १८८३ ई० साल में गिरफ्तार कीया गेया था और मजिस्ट्रेट साहब ने उसको मोजरिम ठहरा कर एक बरस के वास्ते सख्त मेहनत के साथ कैद किया।

हम इस स्थान पर वाद नहीं किया चाहते कि कौन भाषा उत्तम है और वही लिखनी चाहिए पर हां मुझे से कोई अनुमति पूछे तो मैं यह कहूँगा कि नंबर २ और तीन लिखने योग्य हैं।"[54] इन सभी प्रकार की हिंदी शैलियों के अलावा भी

न जाने कितनी प्रकार की हिंदी की शैलियाँ उस समय प्रचलित रही होंगी। आज भी कमोबेश कहा जा सकता है कि हिंदी की अनेक शैलियों में से एक शैली हिंग्लिश भी है। वर्तमान समय में हिंदी के बारे में बात करते हुए इस नई शैली को नजरअंदाज करना मुश्किल है। इस शैली को एक नई भाषा भी अभी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इसका व्याकरण, शब्दावली या लिपि (यह अंतर वैकल्पिक है) का अंतर नहीं सामने आए। फिर भी इस दिशा में हिंग्लिश का विकास जरूर हो रहा है। वह देवनागरी के साथ-साथ रोमन में भी लिखी जा रही है। इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। लेकिन कुछ उपन्यास भी देखने को मिले हैं जो रोमन लिपि में और हिंग्लिश शैली की हिंदी या कहें हिंग्लिश में लिखे गए हैं। स्वप्ना राजपूत का उपन्यास ‘The Beautiful Roses’ हिंग्लिश की पहली किताब होने का दावा करता है। ‘India’s first HINGLISH book (Hindi Language English Script)।”[55] 2014 में प्रकाशित इस उपन्यास का एक अनुच्छेद दिया जा रहा है-AASHIRWAAD: Raghav aur Smita ki kahani (RAGMITA): Diwali ka tyohaar nazdeek aa raha tha, Hydrabad ke rehnevale Verma parivar ke sadasya bhi diwali ke tayyariyon mein lage the. Uss din subah, Sujata apne pati Ravikumar Verma aur dono bête Raghav aur Ram ke daftar

jaane ke baad ghar ke kaam khatm kar, diwali ki khareedariyan karne apne gadi mein bazaar ke liye nikli.”

यह लिपि और शैली अभी अपने शुरुआती दौर में है। इसे अभी अपना रूप निर्मित करने में कुछ वक्त लगेगा। फिर हिंदी बोलने-लिखने और पढ़ने वाले समाज में इस नई शैली को लेकर विचार होना जरूर चाहिए। आगे की हिंदी पर इस शैली का बड़ा असर पड़ सकता है, इसलिए हिंदी समाज को इस शैली के बारे में गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ सूची :-

1. 3 idiots, The original screen play. On Books International, 2018, pp 40

2. Srivastava, ..., Bi/Multilingualiam, Studies in Language and Linguistics Vol.3. Kalinga Publication, Delhi, 1994, pp 102

3. हिन्दी और अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के बीच समेत परिवर्तन और का इतिहास बहुत लंबा है और इसका एक सिरा औपनिवेशिक युग तक पहुँचता है और अन्य भारतीय भाषाओं के समान विल बी शब्दों को समाहित करने का हिन्दी का इतिहास भी बहुत पुराना है। प्रतिमान संपादक व्यत्य निगम, रविकांत राकेश पाण्डेय, जुलाई-दिसंबर 2015, 518

4. Definition of code-switching: the switching from the linguistic system of one language or dialect to that of another "Code-switching, Merriam Webster.com Dictionary,Merriam-Webster,https://www.merriam webster.com/dictionary/code-switching. Accessed 10 Oct. 2021

5. प्रकाश रोहित, प्रतिमान संपादक आदित्य निगम, रविकांत राकेश पाण्डेय, जुलाई-दिसंबर 2015, पृष्ठ 560

6. रामचंद्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 2001, पृष्ठ 32

7. वही, शुक्ल , 251

8. वही, शुक्ल , 257

9. वही, शुक्ल , 258

10. "a mixture of the languages Hindi and English, especially the type of English used by speakers of Hindi https://dictionary.cambridge.org/dictionary/english/tungdish. Accessed 10 Oct. 2021

11. प्रतिमान संपादक आदित्य निगम, रविकांत राकेश पाण्डेय, जुलाई-दिसंबर 2015, पृष्ठ 517

12. वही

13. मित्र पंकज, क्विज मास्टर, श्रेष्ठ हिंदी कहानियाँ : (2000-2010), संपादक कमला प्रसाद, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि., प्रथम संस्करण 2010, पृष्ठ 16

14. नीरजा, गुरर्मकोंडा, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान की व्यावहारिक परख, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2015, 199-201

15. प्रतिमान, संपादक आदित्य निगम, रविकांत, राकेश पाण्डेय, जुलाई-दिसंबर 2015, पृष्ठ संख्या, 518

16 "दरअसल 26 सितंबर, 2011 के सरकारी परिपत्र में नौकरशाहों और किरानियों को अपनी फाइल 'सरल हिन्दी' यानी संस्कृतनिष्ठ की जगह चालू अंग्रेजी शब्दों से युक्त हिन्दी में लिखने को कहा गया। इस पर विवाद हुआ लेकिन इससे यह भी जाहिर हुआ कि एक आधिकारिक बाधा हटा ली गई है।" प्रतिमान, संपादक आदित्य निगम, रविकांत, राकेश पाण्डेय, जुलाई-दिसंबर 2015, पृष्ठ संख्या 518

17. वही, 521

18. वही, 525

19. वही, 568

20. वही, 525

21.https://www.netflix.com/watch/70121522?trackId=14170286&tctx=3%2C2%2C5bee407b-815a-4399-8e94-04192b68d736-226811458%2Cf25f186e-9f7e-4df4-bd32-60c485a9d0e8_ROOT%2C 23 October 2021 accessed on

22. प्रतिमान, संपादक आदित्य निगम, रविकांत, राकेश पाण्डेय, जुलाई-दिसंबर 2015, पृष्ठ संख्या 530

23. वही, 533

24. वही, 540

25.वही, 541

26. वही, 542

27. वही, 543

28. वही, 543

29. वही, 543

30 “हमने यह भी मान लिया कि यह बँगला से हिंदी में अनुवाद की कृपा का

फल है! तो इससे बुरा क्या हुआ? न तो अनुवाद करना वैसा बुरा है, जैसा आप ‘कृपा’ से ध्वनित कर रहे हैं और न प्रयोग-वैचित्र्य आ जाना ही बुरा है। मराठी का सम्पर्क आप को अखरता क्यों है? अभी तो हमारी भाषा भारत की ही अपनी सगी बहनों से मिल रही है; आगे इसे बाहर भी जाना है। कहीं से कोई अच्छी बात सीख ली जाय तो बुरा क्या है?”[1] वाजपेयी, किशोरीदास, अच्छी हिंदी का नमूना, जनवाणी प्रेस एंड पब्लिकेशंस लि., कलकत्ता, प्रथम संस्करण १९४८, १७२-१७३

31. प्रतिमान, संपादक आदित्य निगम, रविकांत, राकेश पाण्डेय, जुलाई-दिसंबर 2015, पृष्ठ संख्या 544

32. वही, 548

33. वही, 546

34. वही, 554

35. “मैंने हिंग्लिस की इस परिघटना का विश्लेषण करने के लिए राष्ट्रीय दैनिक अख़बार नवभारत टाइम्स पर ध्यान केन्द्रित किया है। हिंदी में दर्जन भर राष्ट्रीय स्तर के अख़बार निकलते हैं, लेकिन इसे हम हिंग्लिश का प्रतिनिधि अख़बार कह सकते हैं।” प्रतिमान, संपादक आदित्य निगम, रविकांत, राकेश पाण्डेय, जुलाई-दिसंबर 2015, पृष्ठ संख्या 560-61

36. वही, 561

37. वही, 561

38. वही, 561

39. वही, 565

40. वही, 566

41. वही, 566

42. वही, 566

43. वही, 566-67

44. वही, 567

45. वही, 567

46. वही, 568

47. वही, 572

48. वही, 575

49. 3 idiots, The Original Screenplay, Om Books International, India, First published in 2010, pp 38

50. वही, 123

51. वही, 106

52. वही, 103

53. वही, 97

54. शर्मा, रामविलास, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1975, पृष्ठ 270

55. श्रीवास्तव, रवींद्रनाथ, हिन्दी भाषा का समाजशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण 1994, पृष्ठ संख्या 34

56. भारतेन्दु समग्र सम्पादन: हेमंत शर्मा, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1987, पृष्ठ संख्या 1050-51

57. Rajput Swapna, Quills Ink Publishing www.quillsink.com, 2014

58. वही, पृष्ठ संख्या, 1

भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ और हिंदी कहानियाँ

भूमंडलीकरण की चुनौतियों और हिंदी कहानियाँ को भलीभांति समझने के लिए सबसे पहले भूमंडलीकरण को जानना बेहद आवश्यक है। भूमंडलीकरण अर्थशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है। जिसका अर्थ व्यापार के लिए पूरे विश्व को नीतिगत बाधाओं और सीमाओं से रहित बना दिया जाना है। यह सीमा रहितता ही भूमंडलीकरण का लक्ष्य है। यह स्थिति उदारीकरण, निजीकरण और संचार-यातायात के विकास तथा एकध्रुवीय विश्व के चलते संभव हुई है। भूमंडलीकरण अब केवल आर्थिक क्षेत्र तक सीमित नहीं है। बल्कि व्यक्ति और समाज से संबंधित सभी क्षेत्रों में इसकी मौजूदगी देखी जा सकती है। वह क्षेत्र राजनीतिक भी है सामाजिक, सांस्कृतिक भी।

ग्लोबलाइजेशन अर्थात् भूमंडलीकरण जिसे नव-उपनिवेशवाद, नव-साम्राज्यवाद, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, अमरीकीकरण अथवा वैश्वीकरण कहा जा रहा है, वह पूँजीवाद के सर्वव्यापीकरण की एक वैश्विक प्रक्रिया है। यह कोई स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया नहीं है। इसे बनाने-बढ़ाने में विश्व की अनेकानेक शक्तियाँ कार्यरत हैं।

‘ग्लोबलाइजेशन’ शब्द का पहला प्रयोग अर्थजगत में नहीं शिक्षा से संबंधित एक किताब ‘टुवर्ड्स अ न्यू एजूकेशन’ में 1930 में हुआ। इसके लेखक रोबर्ट ब्रुस रॉप द्ध1888-1976) कोलंबिया विश्वविद्यालय में शिक्षा दर्शन के अध्यापक थे। जिसमें शिक्षा को मानव अनुभव की संपूर्णता में देखने की बात की गई।[1] 1960 में जाकर ‘ग्लोबलाइजेशन’ शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्रियों और समाज वैज्ञानिकों के बीच प्रचलित हुआ। 1962 में कनाडा में अंग्रेज़ी के अध्यापक मार्शल मैकलुहान ने ‘ग्लोबल विलेज’ शब्द-युग्म का प्रयोग किया। इसका प्रयोग उन्होंने इलेक्ट्रानिक तकनीक से अर्जित निकटता, व्यापकता और तीव्रता के संदर्भ में किया।[2] 1980 के दशक के मध्य में इसने लोकप्रियता अर्जित की।[3] इस वर्तमान भूमंडलीकरण को फ्रेडरिक जेमसन ने ‘लेट कैपिटलिज्म’ अथवा बहुराष्ट्रीय पूँजीवाद ही माना है।[4] विभिन्न देशों के मध्य तीव्र एकीकरण की प्रक्रिया को भी भूमंडलीकरण के रूप में देखा जा सकता है। यह एकीकरण विदेशी व्यापार और निवेश के परिणामस्वरूप विश्वव्यापी बाज़ार और उत्पादन का ही एकीकरण है। इसमें बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ मुख्य भूमिका निभा रही हैं। और इस प्रक्रिया में विभिन्न देशों के बीच अधिक से अधिक वस्तुओं-सेवाओं, निवेश और प्रौद्योगिकी का आदान-प्रदान हो रहा है। जिसके कारण विगत कुछ दशकों में विश्व के अधिकांश भाग एक-दूसरे के अपेक्षाकृत अधिक नजदीक या संपर्क

में आए हैं। यहाँ बल आर्थिक निकटता पर है, सांस्कृतिक निकटता बाद में घटित होने वाला परिणाम है। यह सांस्कृतिक निकटता जीवन-शैली के बदलावों से निर्मित एकरूपता में भी दिखती है।

भूमंडलीकरण का संबंध पूँजीवादी प्रतिस्पर्धा और नित नये बाज़ार की खोज से है। इसको बनाने में पूँजीवाद के विभिन्न स्तरों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका जरूर निभायी है। जैसे औद्योगिक क्रांति, उपनिवेशवाद, नवीन तकनीकी-विकास आदि ने इसमें खाद-पानी का काम किया है। लेकिन बिना बड़ी राजनीतिक इच्छा-शक्ति और आर्थिक-शक्तियों के सहारे भूमंडलीकरण को इस तरह से एकमात्र विश्व-व्यवस्था या अंतिम विकल्प के रूप में नहीं देखा-दिखाया जा सकता था। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जोसेफ स्टिग्लिट्ज के अनुसार मुक्त व्यापार के लिए सीमाओं की समाप्ति और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं का एक-दूसरे से जुड़ाव भूमंडलीकरण है। 'ग्लोबलाइजेशन एंड इट्स डिसकंटेंट्स' में वे लिखते हैं-

"मुक्त व्यापार के लिए बाधाओं की समाप्ति और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं का अधिकाधिक जुड़ाव भूमंडलीकरण है।"[5]

यहाँ गौर करने लायक बातें दो हैं। पहली बात यह कि मुक्त व्यापार को बढ़ाने के लिए मौजूद सभी नीतिगत बाधाओं को समाप्त करने पर यह व्यवस्था बल देती

है। जिसके चलते उदारीकरण की नीति को अपनाया गया। मौजूदा नियमों-कानूनों को मुक्तव्यापार-फ्रेंडली बनाया गया। दूसरी बात यह हुई कि एक देश की अर्थव्यवस्था को दूसरे देश की अर्थव्यवस्था से जोड़ने के अभूतपूर्व संगठित प्रयास शुरू किये गए। जिसमें 'जनरल एग्रीमेंट ऑन टैरिफ्स एंड ट्रेड' फिर परिवर्तित होकर सामने आने वाले 'विश्व व्यापार संगठन' और 'विश्व बैंक' तथा 'अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' की अहम भूमिका रही है।

कुछ विद्वान भूमंडलीकरण का संबंध मानव की प्रसार इच्छा से जोड़ते हैं। और इसे एक स्वाभाविक ऐतिहासिक प्रक्रिया मानने पर जोर देते हैं। लेकिन वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। व्यापार के लिए या फिर अन्य कारणों से मनुष्य ने जब भी क्षेत्र-विस्तार करने की कोशिश की तो उसे भूमंडलीकरण नहीं कहा जा सकता। भूमंडलीकरण एक खास समय की उपज है। जिसका संबंध पूँजीवाद से नाभि-नालबद्ध है। यह स्वाभाविक अथवा स्वतःस्पफूर्त प्रक्रिया नहीं है। इस प्रक्रिया का भी एक इतिहास है। यह इतिहास उपनिवेशवाद से जुड़ता है। भूमंडलीकरण को उपनिवेशवाद की ही प्रक्रिया में देखते हुए और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद फिर से नयी गति से आरंभ होने वाली प्रक्रिया बताते हुए नोम चोमस्की लिखते हैं-

"अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक एकीकरण, जिसे तकनीकी रूप में भूमंडलीकरण कहा जाता है। यह प्रथम विश्वयुद्ध तक लगातार बढ़ रहा था, लेकिन युद्धों के बीच

अवरुद्ध हो गया। दूसरे विश्व युद्ध के बाद यह फिर तेज होने लगता है। मोटे तौर पर अब यह ठीक सौ वर्ष पूर्व की स्थिति में पहुँच रहा है।...अलग पैमाने पर भूमंडलीकरण अब कहीं ज्यादा प्रबल है। बहुत थोड़े समय में बनने वाली सट्टा पूँजी के प्रवाह के चलते ऐसा हुआ है, जोकि इस समय अभूतपूर्व है। ये भिन्नताएँ वर्तमान संस्करण के भूमंडलीकरण की केंद्रीय पहचान हैं। किसी हद तक नियमों से परे है। यहाँ प्राथमिकता पूँजी के प्रवाह को दी जाती है, लोगों का प्रवाह आकस्मिक है।"[6]

बहुत जल्दी यहाँ से वहाँ जाने वाली वित्तीय पूँजी ने सभी व्यापारिक नियमों को खत्म कर दिया है। वह वृद्ध पूँजीवाद, विलंबित अथवा कॉर्पोरेट पूँजीवाद का केंद्रीय चरित्र है। इस सार्वभौमिक पूँजीवाद को ही भूमंडलीकरण कहा जा रहा है। इसे उदारवाद और आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया का ही एक रूप माना जा रहा है। उदारवाद के संदर्भ में नोम चोमस्की ने 'ह्वेयर इज द वर्ल्ड हेडिंग ?' ;अर्थात् 'दुनिया कहाँ जा रही है ?' शीर्षक लेख में लिखा है- "दो शताब्दियों का इंग्लैंड और भारत का इतिहास अच्छी तरह से बताता है कि उदारवाद को कैसे शक्ति और विध्वंस के औजार के रूप में ढाला जा सकता है।"[7] वर्तमान समय में इसी उदारवाद का विध्वंस विभिन्न रूपों में दिखाई पड़ रहा है। लगभग 3 लाख किसानों की आत्महत्याएँ, महँगाई तथा बढ़ती

बेरोज़गारी और बेलगाम भ्रष्टाचार का बढ़ना इसी उदारवाद के चलते संभव हुआ है।

भूमंडलीकरण एक विशेष प्रक्रिया है। जिसमें एक देश का दूसरे देश या वहाँ के लोगों से घनिष्ठ संबंध हो या न हो, एक देश के उद्योगपतियों, बाज़ारों, पूँजी का दूसरे देश के उद्योगपतियों, बाज़ारों और पूँजी का अटूट व्यापारिक संबंध और अबाध आवागमन जरूर होता है। भूमंडलीकरण में यह संबंध ज्यादा आसान और वांछनीय भी होता है। लोगों का आना-जाना उतना आसान नहीं होता है। यह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के एकीकरण की स्थिति है। सभी देशों के लोगों की निकटता का बोधक शब्द नहीं। जिस देश से व्यापार करने में लाभ की संभावनाएँ अधिक होंगी उससे आर्थिक निकटता भी कायम हो जाती है। आर्थिक एकीकरण और निकटता का अर्थ सर्वांगीण निकटता तो बिल्कुल नहीं है। इस निकटता का लाभ समर्थ और विकसित देश ही ज्यादा उठाते हैं। कुछ छद्म लाभ अल्पविकसित और विकासशील देश भी प्राप्त करते हैं। जिन्हें नोम चोमस्की ‘आकस्मिक लाभ’ कहते हैं। इसलिए भूमंडलीकरण का सबसे ज्यादा लाभ विकसित देशों को ही मिला है।

लेकिन भूमंडलीकरण के संबंध में कही जाने वाली बातें इतनी सरल नहीं हैं। इस संबंध में अध्ययन करने वाले कुछेक विद्वानों, इससे लाभान्वित व्यक्तियों ने

भूमंडलीकरण के सकारात्मक पक्ष की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है। इनके अनुसार एक ऐसी शक्ति जो विश्व को बदलने, विकसित करने, विकास की प्रक्रिया में सबको शामिल करने की मंशा रखती है, वह भूमंडलीकरण है। पूँजीवाद जिस तरह की मानवीय घोषणाएँ करता है और उसके विपरीत अपरंपार विषमता को जन्म देता है। उसी का विस्तार यहाँ दिखता है। फ्रांस के पूर्व राष्ट्रपति जाक शिराक ने भूमंडलीकरण की असलियत को स्पष्ट करते हुए कहा है-

"जो लोग सबसे ज्यादा जरूरतमंद हैं, उनके जीवन को भूमंडलीकरण बेहतर नहीं बना पा रहा है, जिन लाभों का उसने भरोसा दिलाया था, उन्हें पूरा नहीं कर पा रहा है।"[8]

बल्कि यह कहा जा सकता है कि जिन लाभों की बात भूमंडलीकरण करता है, उसका विरोधी आचरण कर रहा है। भूमंडलीकरण को जमीन पर उतारने और दिन-रात उसके प्रसार में लीन विश्व संस्थाओं में से एक विश्व बैंक का आदर्श वाक्य है- निर्धनता रहित दुनिया हमारा सपना है- "आवर ड्रीम इज़ ए वर्ल्ड विदाउट पावर्टी"[9] भारत और विश्व की जमीनी हकीकत की थोड़ी भी समझ रखने वाले किसी व्यक्ति को इस वाक्य में छिपी हास्यास्पदता और क्रूरता साफ दिखाई पड़ जाएगी। यह एक तथ्य है कि "बीसवीं शती के अंतिम दशक में गरीबों की संख्या में दस करोड़ की बढ़ोत्तरी हुई है।"[10] यह स्थिति उस परिदृश्य में और

हास्यास्पद तथा अमानवीय हो जाती है जबकि गरीबी उन्मूलन के राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय प्रयास भी इसके समानान्तर बदस्तूर 'जारी' हैं। जिस बेहतर जीवन का स्वप्न इस भूमंडलीकरण के समर्थन में विश्व-समुदाय के वंचित हिस्से को दिखाया जा रहा है, उसकी कलई अब खुल चुकी है। जो वादे इस संदर्भ में किये गए हैं, वे जैसे के तैसे मौजूद हैं या कहें स्थिति पहले से ज्यादा खराब हुई है। भूमंडलीकरण के जिस स्वरूप से हमारा परिचय है उसका संबंध बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक से है। लेकिन उसकी एक सुदीर्घ परम्परा भी है। बहरहाल, इस समय की विशेषता और भूमंडलीकरण की इस प्रक्रिया से उसके संबंध को रेखांकित करने वाली तीन बड़ी घटनाएँ उल्लेखनीय हैं। पहली घटना 1989 की है, जब पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी को बाँटने वाली दीवार को गिराया गया। दूसरी दिसंबर 1991 में जब सोवियत संघ का विघटन हुआ और तीसरी जब वाशिंगटन आमराय के दस विश्व-नियमों की घोषणा की गई। ये दस विश्व-नियम हैं-

"1.राजकोषीय अनुशासनः बजटीय घाटे को सीमित रखने के लिए कठोर कदम, 2.सार्वजनिक व्यय संबंधी प्राथमिकताओं में परिवर्तनः सबसिडी में कटौती और गरीबी निवारण के कार्यक्रमों की लगभग समाप्ति, 3.कर संबंधी सुधर : कराधन के आधर का विस्तार और कर की सीमान्त दर में कमी, 4.वित्तीय उदारीकरणः ब्याज की दरों का बाज़ार द्वारा निर्धारण, 5.विनिमय दरः इसका निर्धारण ऐसे हो

कि गैर परंपरागत निर्यात बढ़े, 6.व्यापार का उदारीकरणः कोटा समाप्त हो और दस वर्षों में सीमा शुल्क को कम कर 10 प्रतिशत के आसपास किया जाय, 7.विदेशी प्रत्यक्ष निवेशः उसके प्रवेश में कोई बाध न हो तथा देशी निवेश के साथ पूरी समानता दी जाय, 8.निजीकरणः राजकीय उपक्रमों का निजीकरण हो, 9.विनियमनों को हटानाः नई देशी-विदेशी फर्मों के प्रवेश पर रोक या किसी तरह का प्रतिबंध न हो, और 10.सम्पत्ति संबंधीः सम्पत्ति संबंधी अधिकारों को प्राप्त करने, इस्तेमाल में लाने और हस्तांतरण में कोई रुकावट न हो।"[11]

इसी समय विश्व एक ध्रुवीय होता गया। संचार माध्यमों में अभूतपूर्व वृद्धि दर्ज की गई। विश्व व्यापार और उदारीकरण को अर्थव्यवस्था और विकास का एकमात्रा तरीका मान लिया गया। 24 जुलाई 1991 को अपने सालाना बजट में भारत ने खुद को उदारीवादी अर्थव्यवस्था से जोड़ लिया। इसने भारत को भी भूमंडलीकरण की वैश्विक प्रक्रिया से जोड़ दिया।

भारत में भूमंडलीकरण के पिछले छब्बीस साल भारतीय समाज में गरीबी, बेरोजगारी, मंहगाई, साम्प्रदायिकता, जातिवाद आदि के बढ़ने और सार्वजनिक क्षेत्रा, नौकरियाँ, सहनशीलता, साम्प्रदायिक सौहार्द, शासन के उत्तरदायित्व के कम होते जाने का समय है। हिंदी कहानियों ने इन वर्षों में अपने समय-समाज को बदलते देखा है। बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद, विज्ञापनी संस्कृति और

प्रतिस्पर्धात्मक स्थितियों का प्रभाव भी इस दौर की कहानियों में बखूबी देखा गया है। उस बदलने की नकारात्मक परिणतियों का विरोध और सकारात्मक स्थितियों का समर्थन किया है। साहित्य की अन्य विधओं की तुलना में कथा-साहित्य में भूमंडलीकरण की स्थितियों और चुनौतियों का कमोबेश ज्यादा चित्रण मिलता है।

इस अवधि में लिखे गए उपन्यासों में भूमंडलीकरण की चुनौतियों को बारीकी से दर्ज कराया गया है। इस दौर में रचनारत उपन्यासकारों में काशीनाथ, हृदयेश, दूधनाथ सिंह, रवींद्र कालिया, मन्नू भंडारी, विनोदकुमार शुक्ल, मैत्रेयी पुष्पा, चित्र मुद्गल, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, राजी सेठ, नासिरा शर्मा, उषा प्रियंवदा, संजीव, असगर वजाहत, अब्दुल बिस्मिल्लाह, मदन मोहन, रणेंद्र, अखिलेश, महुआ माझी, महेश कटारे, तेजिंदर शर्मा आदि अनेक प्रमुख नाम हैं। इस दौर में लिखे गए उपन्यासों में एक ओर जहां समाज, राजनीति और व्यक्ति से जुड़े तमाम विषयों को उकेरा गया है। वहीं वर्तमान आर्थिक स्थितियों ने मानव-मन और मानव-समाज को किन किन रूपों में प्रभावित-परिवर्तित किया है, उन्हें भी देखने-दिखाने की भरपूर कोशिश की है।

वर्तमान समाज शोषण के नए-नए रूपों को भोग रहा है। इन सभी रूपों का यथारूप चित्रण और प्रभाव इन उपन्यासों में देखा जा सकता है। प्रख्यात

कथाकार काशीनाथ सिंह ने 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में भूमंडलीकरण की चुनौतियों को पाठक के सामने घटित होते दिखाया है। किस प्रकार मनुष्य का स्थान मुद्रा लेती जा रही है। इसे भी इस उपन्यास में देखा जा सकता है। गांव और शहर से होते हुए अमरीका तक मनुष्य किस प्रकार अकेला और असहाय होता जा रहा है इसे भी यहां दिखाया गया है। वहीं अलका सरावगी के उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' में कॉर्पोरेट जगत के बरक्स उस एक-तिहाई जनसंख्या को दिखाया है जो कीड़े मकोड़ों की तरह जीवनयापन कर रही है। भूमंडलीकरण का पक्षधर यह कॉर्पोरेट जगत मानता है कि 'ट्रिकल डाउन' पद्धति के कारण उफपर के समाज की सम्पन्नता एक दिन नीचे भी पहुंचेगी। भूमंडलीकरण का लाभ लेता उसे भोगता समाज इस भरोसे को निम्नवर्ग में बनाए रखना चाहता है। 'गायब होता देश' और 'ग्लोबल गांव के देवता' उपन्यासों के रचनाकार रणेंद्र ने आदिवासी समाज और वर्तमान आर्थिक नीतियों के कुचक्र को सामने रखा है। 'ग्लोबल गांव के देवता' उपन्यास में असुर जनजाति के विस्थापन की पीड़ा को बहुत मार्मिकता के उकेरा गया है। विकास के नाम पर एक बड़ी आबादी के सफाए को यहां देखा जा सकता है। स्वयं प्रकाश ने 'ईंधन' उपन्यास में मध्यवर्ग को भूमंडलीकरण के भंवर में फंसते दिखाया है। किस प्रकार जो नहीं चाहिए उसे अनिवार्य बनाया जा रहा है, और जो होना चाहिए उसे बेकार घोषित किया जा

रहा है, इसे स्निग्ध और रोहित के माध्यम से स्वयं प्रकाश ने होते दिखाया है। स्निग्ध एक छोटे से घर में रहती है। लेकिन उसके बावजूद वह बहुत बड़ा वेक्यूम क्लीनर खरीद लेती है। वह उपभोक्तावाद की गिरफ्त में बड़ी आसानी और अपनी इच्छा से चली जाती है। भूमंडलीकरण किस प्रकार मनुष्य को उपभोक्ता में तब्दील कर रहा है इसे 'ईंधन' उपन्यास में दिखाया गया है।

कहानियों में भी बड़ी संख्या में कहानीकारों ने भूमंडलीकरण की चुनौतियों को सामने रखने का प्रयास किया है। हृदयेश, अरुण प्रकाश, रवींद्र कालिया, उदय प्रकाश, संजीव, अखिलेश, असगर वजाहत, अब्दुल बिस्मिल्लाह आदि बड़े चर्चित कहानीकार हैं। जया जादवानी, राकेश कुमार सिंह, अल्पना मिश्र, पंकज मित्रा, वंदना राग, प्रभात रंजन, रवि बुले, कविता, मोहम्मद आरिफ, कैलाश वानखेड़े, गीताश्री, जयश्री रॉय, चंदन पाण्डेय, कुणाल सिंह, विमलचंद्र पाण्डेय, अजय नावरिया, सोनाली सिंह आदि कहानीकार सामने आये जो इसी भूमंडलीकरण के दौर में लिखना शुरू करते हैं।

उपभोक्तावाद एक नए घोर व्यक्तिवादी मनुष्य को जन्म दे रहा है। जो इस दौड़ में शामिल नहीं हो पा रहा है उसकी नियति 'पॉल गोमरा' की तरह मरने में हो रही है। बाज़ारवाद इसी उपभोक्तावाद का पोषक है। कारक भी है। उपभोक्तावाद निरर्थकता को पैदा करता है। और-और के पीछे दौड़ाता है। संतोष और सुख-

चैन का विरोधी है। इसीलिए ‘शापग्रस्त’ कहानी के प्रमोद वर्मा को सुख की तलाश है जबकि उसके पास सभी संभव उपभोक्ता वस्तुएँ हैं। बाज़ारवाद ने इस उपभोक्तावाद को बढ़ाया है।

विज्ञापन संस्कृति किस रूप में भारतीय के नवधनाढ्य वर्ग को अपनी गिरफ्त में ले चुका है इसे देखने के लिए ओमा शर्मा की कहानी ग्लोबलाइजेशन को देखना प्रासंगिक होगा। कहानी का एक अंश है-

“कल बिग बाज़ार गयी थी तो एक अलग रंग का शैम्पू दिखा। अंडे के चोक को बेस लेकर बनाया हुआ। मुझे फौरन याद आया कि केट मोस और एंजलिना जोली भी इसी तरह के शैम्पू इस्तेमाल करती हैं। कितना अच्छा है कि इंडिया में भी हर चीज मिल जाती है।”[12]

इस तरह भूमंडलीकरण की संस्कृति के आर्थिक स्वरूप के अंतर्गत विज्ञापनी संस्कृति का प्रभाव वर्तमान कहानियों पर नाना रूपों में पड़ा है। बाज़ार का सबसे बड़ा सहायक और प्रसारक विज्ञापन है। इसी विज्ञापन के चलते गैर जरूरी, अनावश्यक को जरूरी बनाया-बताया जा रहा है। विज्ञापन मानव-मन को जीत कर उसे अपना दास ; उपभोक्ता बनाता है। इसे ‘पॉल गोमरा का स्कूटर’ कहानी में दिखाया गया है। विज्ञापन उत्तेजना और सम्मोहन का वातावरण रचता है-

अभी आठ महीने पहले किशनगंज के जनता फ्लैट में रहनेवाली सर गंगाराम हॉस्पिटल के सफाई कर्मचारी राम औतार आर्य की सत्राह साल की बेटी सुनीला रातोंरात मालामाल हो गई थी, क्योंकि किसी टीवी के विज्ञापन में वह आठ फुट बाइ चार पुफट साइज के विशाल ब्लेड के मॉडल पर नंगी सो गई थी। सुनीला को अपने चेहरे पर उस ब्रांड के ब्लेड से होने वाली शेविंग से उपजने वाले, चिड़ियों के पर के स्पर्श जैसे सुख और आनंदातिरेक को दस सेकंड के भीतर-भीतर व्यक्त करना था। यह काम अपने-चेहरे के क्लोज शॉट में उसने इतनी निमग्न कुशलता और स्वप्नातीत भावप्रवणता के साथ किया था कि देश के एक सबसे बड़े चित्रकार ने एक अंग्रेज़ी अख़बार में वक्तव्य दिया था कि वे एक हफ्ते में उस विज्ञापन को डेढ़ सौ बार देख चुके हैं और अब आनेवाले दो वर्षों तक वे लगातार सुनीला के न्यूड्स ही बनाएँगे।"[13]

यह विज्ञापन की महिमा और उसका परिणाम है। यह मनुष्य के चित्त पर बाज़ार की विजय है। इसमें तर्क नहीं सम्मोहन का शिल्प काम करता है। जो चित्र सप्ताह में डेढ़ सौ बार देखे जाएँगे वे यथार्थ न होकर भी ज्यादा यथार्थवान लगेंगे। एक चित्रकार का वशीभूत हो जाना आमजन के भी वशीकरण की ओर संकेत है। इसी वशीकरण, लूट, भ्रम, धोखे की विज्ञापनी दुनिया अपने लाभ के लिए जो वांछनीय है, जरूरी है उसके विरोध में खड़ी हो जाती है। जैसे बच्चे के लिए

पौष्टिक दूध आदि सामान बनाने वाली कंपनी नवजात के लिए माँ के दूध को विज्ञापन के जरिए हानिकर बताने लगे तो यही ‘सच’ लगने लगता है। इस संदर्भ में जोसेफ स्टिग्लिट्ज ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों के छलपूर्ण व्यापार और विज्ञापन रचित झूठ की ओर संकेत करते हुए कहा है-

“यदि विज्ञापन से इच्छाएँ नहीं बढ़ती होतीं तो हर साल करोड़ों रुपये विज्ञापन पर न खर्च करतीं। खाद्य पदार्थ बनाने वाली कंपनियाँ बच्चों के दांतों को खराब करने वाले खाद्य उत्पादों की चाह पैदा करती है, मोटर गाड़ियों की निर्माता कंपनियाँ सार्वजनिक परिवहन के विरोध में प्रचार करती हैं।[14]

इसी किताब में जोसेफ स्टिग्लिट्ज लिखते हैं कि

“कैसे ‘नेशले’ जैसी कंपनी तीसरी दुनिया के देशों की माताओं को इस बात के लिए वशीभूत कर लेती हैं कि वे उनके द्वारा तैयार दूध ही अपने बच्चों को पिलाएँ न कि स्तनपान कराएँ।[15]

उपभोक्ता सामग्री का निर्माण करने वाली यह कंपनियाँ सम्मोहन और प्रलोभन से उपभोक्ता को अपने अधीन बनाती हैं। इसमें वह इतना वशीभूत हो जाता है कि उसे अपनी अधीनता भी महसूस नहीं होती।

यह विज्ञापनी संस्कृति का सच है। इससे वह मनुष्य की पाशविक वृत्तियों को अधिकाधिक जगाकर पशुतुल्य बना रहा है। इस विज्ञापनी संस्कृति के कार्य व्यापार और परिणामों पर विचार करते हुए डा. विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा है-

विज्ञापनी मानसिकता पूँजीवाद की खास विशेषता है। वस्तुतः वेदांत दर्शन में जो स्थान माया का है, वही महत्त्व पूँजीवाद में विज्ञापन का है। माया के दो काम हैं- आवरण और निक्षेप। आवरण अर्थात् जो है यानी सत्य को छिपाना और जो नहीं है उसे सच बताना निक्षेप का काम है। विज्ञापन पूँजीवाद के लिए दलाली करता है। बाज़ार तैयार करता है। चीजों को बिकवाता है, ऐसी चीजों को बिकवाता है जिनकी जरूरत ग्राहक को नहीं है। उपभोक्ता की जो वास्तविक जरूरतें हैं, उनको ओझल करता है। पूँजीवाद की विचारधारा कई रूपों में दिखलाई पड़ती है। आप आज टी.वी खोलें तो आपके सामने कारों, हेलिकॉप्टरों, सूचना-तंत्रों बड़े-बड़े होटलों, सौन्दर्य प्रसाधनों का चमचमाता हुआ मायालोक दिखालाई पड़ेगा। यह मायालोक आपको आकृष्ट करता है। इस मायालोक की निगाह आपकी जेब पर है। यह ऐसा सौन्दर्य है, जो आपकी आँखों से काजल तक चुरा सकता है। लेकिन यह दहेज, मँहगाई, अशिक्षा, स्वास्थ्य की बात कभी नहीं करता।[16]

और इस विज्ञापनी संस्कृति में नारी शरीर को विज्ञापन-वस्तुओं की बिक्री का उद्दीपक विभाव बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। वह ऐसा मनुष्य की वृत्तियों को नियंत्राण-रहित करने के लिए करता है। डा. विश्वनाथ त्रिपाठी ने विज्ञापन में इस्तेमाल होते नारी-शरीर के संदर्भ में लिखा है-

विज्ञापनी संस्कृति सबसे ज्यादा इस्तेमाल नारी शरीर का करती है। वह शरीर को माल की बिक्री का साधन बनाकर अंततः शरीर को भी महत्त्वहीन बना देती है- महत्त्वपूर्ण बनी रहती है खरीदारी, जिससे सेठों की जेब भरती है।[17]

इस प्रकार देखें तो भूमंडलीकरण की चुनौतियों और उससे उपजी अनेकानेक स्थितियों का चित्रण इस दौर की कहानियों में पर्याप्त रूप में हुआ है। हिंदी कहानियों ने भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में निहित अमानवीयता को उजागर करने और उसके निहितार्थों को पाठकों के सामने रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. "The word "globalization' was first employed in a publication entitled Towards New Education in 1930, to denote a holistic view of human experience in education. http://en.wikipedia.org/wiki/globallization, 28 December 2011

2. Global village is a term closely associated with Marshal McLuhan, popularized is his books "The Gutenberg Galaxy: The Making of Typographic Man (1962) and Understanding Media (1964). McLuhan described how the globe has been contracted in a village by electric technology" http://en.wikipedia.org/wiki/marshall.Mcluhan,28 december 2011

3. "Globalization started after World War II but has accelerated considerably since the mid 1980s." http://en.wikipedia.org/wiki/globalization.28.december 2011

4. See Jameson, Fredric, Postmodernism, or, the cultural logic of late capitalist, Verso, London, 1991

5. "I believe that globalization- the removal of barriers to free trade and closer integration of national economics" Globalization and its discontents Joseph E. Stiglitz, Penguin books, edition 2002, preface IX

6. "International economic integration, what's called globalization in a technical sense, increased steadily up until the World War 1. leveled or reduced between the wars, picked up again after the World War 2. It's now reaching roughly the levels of a century ago by gross measures... By some measures, the period before World War I had a higher degree of international integration. That had to do particularly with movement of people, what Adam Smith called "the free circulation of labour" which was the foundation of free trade. That reached its peak before World War 1, it's much lower now. By other measures globalization is greater now, most dramatically the flow of short-time speculative capital, which is far beyond any precedent. These differences reflect the central features of the contemporary version of globalization. To an extent even beyond the norm, capital has priority-people are incidental," Chomsky, Noam, where is the World Heading

2, Globalisation: one world, many voices, Ed. Samit Kar, Rawat Publication, 2005, p-40-41

7. The history of England and India for two centuries illustrates very graphically how liberalism can be shaped into an instrument of power and destruction." Chomsky, Noam, Where is the World Heading?. Globalisation: one world, many voices, Ed. Samit Kar, Rawat Publication, 2005, P-37

8. "France's president, Jacques Chirac, have expressed concern that globalization is not making life better for those most in need of its promised benefits." Globalization and its discontents, Joseph E. Stiglitz. Penguin books, edition 2002. p-4

9. On my first day, February 13, 1997, as chief economist and senior vice president of the World Bank, as I walked into its gigantic, modern, gleaming main building on 19th street in Washington, DC, the institution's motto was the first thing that

caught my eye: Our dream is a world without poverty Globalization and its discontents Joseph E. Stiglitz, Penguin books, edition 2002, p. 23

10. "Despite repeated promises of poverty reduction made over the last decade of the twentieth century, that actual number of people living in poverty has actually increased by all most 100 million" Globalization and its discontents Joseph E. Stiglitz, Penguin books, edition 2002, P.5

11. मिश्र, गिरीश और ब्रजकुमार पाण्डेय, भूमंडलीकरण मिथक या यथार्थ अभिधा प्रकाशन संस्करण 2005, पृ.सं. 12

12. शर्मा, ओमा, ग्लोबलाइजेशन, कारोबार, भारतीय ज्ञानपीठ, दूसरा संस्करण 2011, पृ. 60

13. प्रकाश, उदय, पॉल गोमर का स्कूटर, वाणी प्रकाशन संस्करण- 2004, पृ. 37-38

14. स्टिग्लिज, जोसेफ, मेकिंग ग्लोबलाइजेशन वर्क, पेंगुइन बुक्स, 2006, पृ. 189

15. वही, पृ. 178

16. त्रिपाठी, विश्वनाथ, हरिशंकर परसाई, साहित्य अकादेमी, प्रथम संस्करण 2007. पृ. 42

17. वही, पृ. 43

आदर्श का विचार अभी भी पुराना नहीं पड़ा है

पहली बार पढ़ने पर ‘भागने वाली लड़कियाँ’ कहानी को मैंने जोखिम न लेने वाले कहानीकार की साधारण-सी कहानी के रूप में समझा और दिनेश कर्नाटक जी के इस निर्णय पर मुझे अचरज हुआ। फिर दोबारा पढ़ने पर आगे चलकर इस कहानी के अंत के साथ ‘यही सच है’ कहानी के अंत को सामने रखकर देखा तो मुझे लगा कि मन की दुविधा में हमेशा उस पर चलते जाना ही प्रगतिशील विचार नहीं होता है। मन की त्रिशंकु जैसी स्थिति में जो निर्णय आप करते हैं वह निर्णय आपके बारे में भी निर्णय कर देता है। घर से निकलीं दो लड़कियों को लौटा लाने का निर्णय भी कहानीकार की संवेदना का निर्णय कर देता है। कभी-कभी अपने मन और कदम को पीछे लौटा लाना भी प्रगतिशील विचार होता है। इसलिए कहानी में यह एक बड़े और दूरदर्शी विचार की संगति में लिया गया निर्णय लगा। एक दुर्गम पहाड़ी गाँव के अपने घरों से निकलीं दो अबोध लड़कियों ने दिल्ली जाने का कठिन निर्णय ले लिया। एक लड़की प्रेम और दूसरी लड़की रोजगार पाने के लिए घर छोड़ कर निकल तो पड़ती हैं लेकिन आगे की राह समझ न आने पर घर लौट पड़ती हैं। रोजगार की तलाश में निकली लड़की को अपने घर की याद आने पर दूसरी लड़की को भी मजबूरी में उसके साथ वापस गाँव आना पड़ता है। इस कदम को भी कहानीकार का जोखिम कहा जा

सकता है। कहानी में किसी रोमांचक और डराने वाली स्थिति को रच देने की बजाय वे दोनों लड़कियों को घर लौटा लाते हैं। यह भी कम साहसिक कदम नहीं है। कहानी के वर्तमान दुखांतक चलन के विपरीत आदर्श की स्थापना करना भी कहानीकार की उपलब्धि मानी जानी चाहिए।

'भागने वाली लड़कियाँ' कहानी को और अच्छे से समझने के लिए उसके सार के साथ ऊपर कही गई बातों को जोड़कर भी हम पढ़ सकते हैं। इस कहानी में उमा और कमला अपना घर छोड़ किसी को बिना बताये दिल्ली जाने के लिए निकल पड़ी हैं। उमा अपने प्रेमी से शादी करने के इरादे से निकली है और कमला अपने बूढ़े और बीमार माता-पिता की मदद करने के लिए शहर जाकर नौकरी करना चाहती है। वे दोनों दिल्ली जाने के लिए एक ट्रक में बैठ जाती हैं। ट्रक में एक लड़का, ड्राइवर और एक हेल्पर है। कमला को घर की याद सताने लगती है और वह रास्ते में घर की याद के कारण कमजोर पड़ जाती है और घर लौटने के लिए रोने लगती है। फिर उमा और कमला ड्राइवर से झूठ बोलती हैं कि दिल्ली में मौसी के घर जाना था लेकिन उनके घर का पता कहीं खो गया है इसलिए अब वे वापस लौटकर अपने घर जाना चाहती हैं। दिल्ली न जाकर उसी ट्रक से वे वापस लौट पड़ती हैं। रास्ते में किसी व्यक्ति की शिकायत के कारण उस ट्रक के ड्राइवर धौलिया को पुलिस पकड़ लेती है और उस पर

लड़कियों का व्यापार करने का आरोप लगा देती है। वह बड़ी मुश्किल से कमाये हुए पैसे पुलिस वालों को देकर छूटता है और कसम खाता है कि अकेली लड़कियों को ट्रक में नहीं बैठायेगा। उमा और कमला अपने घर के लिए पहाड़ की सड़क से नीचे उतरने लगती हैं। कमला खुश है तो वहीं उमा दुखी है। यह कहानी कमला और उमा के बहाने ड्राइवर धौलिया के साथ होने वाली विद्वेषपूर्ण घटना और झूठी खबर की कहानी भी है। कहानी में पिरोयी गई दूसरी घटना उस छवि को भी तोड़ती है जो ट्रक ड्राइवर या सड़कों पर दिन-रात रहने वाले समाज के साथ जुड़ चुकी है। छवि निर्माण और उसे तोड़ने की बात अन्य कहानियों पर बात करते हुए भी हम आगे करेंगे।

'काली कुमाऊँ का शेरदा' कहानी में शेरदा नाम का एक दर्जी है जो किसी अनजान गाँव से आकर इस कस्बे में बस गया है। उसके कुत्ते का नाम कालू है। शेरदा की पत्नी का नाम कमला है। शम्भू पैसे न मिलने वाली जगह पर काम करने नहीं जाता है। शेरदा एक गाने 'ओ जाने वाले हो सके तो लौट के आना' सुनकर भावुक हो जाते हैं। उनके परिवार में पत्नी कमला, बेटा गणेश और एक बेटी और एक कुत्ता कालू हैं। दिन रात काम करते हुए वह तपेदिक का शिकार हो जाता है। उसके काम न करने पर पत्नी कमला सबको शहर ले कर जाती है। वहाँ पर खूब काम उसे मिलता है। लेकिन शेरदा को कोई काम नहीं मिलता है।

बेटा गणेश दसवीं में है। लेकिन वह गलत संगति में पड़ जाता है और माँ से झूठ बोलकर पैसे ऐंठता है। शेरदा को लगता है कि बेटा दसवीं कर ले तो उसकी नौकरी लग सकती है। शेरदा कमला को काम पर नहीं भेजना चाहता है लेकिन मजबूरी में भेजना पड़ता है। जब एक दिन शेरदा को पता चलता है कि उसके बेटे गणेश ने दसवीं की परीक्षा ही नहीं दी है तो बिना बताए वह उस दिन घर से निकल जाता है और फिर कभी घर नहीं लौटता है।

यह कहानी मूल रूप से गरीबी और निरुपायता के बारे में है। नवउदारवाद ने कई तरह के लोगों और उनके रोजगारों को अप्रासंगिक बना दिया है। उसकी एक स्थिति यहाँ दर्जी शेरदा के साथ घटित होते देख सकते हैं। बने बनाये कपड़ों के चलन ने दर्जी के काम के साथ शेरदा को भी गैरज़रूरी बना दिया है। वह दलित और निर्धन है। उसे अभी तक अशिक्षा के कारण आरक्षण का कोई लाभ नहीं मिला है। उसकी एकमात्र आशा है कि उसका बेटा पढ़कर किसी सरकारी नौकरी में ले लिया जाए। आरक्षण का एक पक्ष यह भी देखने को मिलता है कि अशिक्षित दलित समाज इस लाभ से अपने को अभी तक जोड़ नहीं पाया है। लेकिन इसमें कुछ और मुद्दे भी बीच-बीच में आते और तिरोहित होते रहते हैं। जैसे शम्भु का ऐसे लोगों के लिए काम न करना जो उसके श्रम का मूल्य नहीं देते हैं। पुरुष अहंकार के कारण शेरदा कमला को घर-घर काम करने नहीं भेजना

चाहता है। जैसे कुत्ते कालू का उसके साथ आने के लिए दौड़ना और फिर ट्रक वाले की कृपा से वह सबके साथ आ जाता है। गणेश का अपने पिता से विरोध और अपनी जिन्दगी को गलत मोड़ देने की मुद्रा।

जीवन-संघर्ष के अनेक रंग इन कहानियों में मिलते हैं। पहाड़ को समतल क्षेत्र के लोग पर्यटक स्थल के रूप में ही जानते हैं। लेकिन उस क्षेत्र के सामाजिक जीवन और उस जीवन के संघर्ष और कष्ट इन कहानियों में पढ़ने को मिलते हैं। दलित संवेदना की एकाधिक कहानियाँ भी दिनेश कर्नाटक जी ने लिखी हैं। इन दिनों आरक्षण के विरोध का एक व्यापक संगठित और असंवैधानिक मतवाद रचा जा रहा है। इसे एक कहानी में दर्ज किया गया है। एक गरीब युवा अपने कठिन प्रयास से डॉक्टर बनने की राह पर मेडिकल कॉलेज में दाखिला ले लेता है तो तथाकथित सवर्ण छात्र उसे 'साले आरक्षण' कहकर बुलाते हैं और रैगिंग कर उसे लगातार अपमानित करते हैं। लगातार कम हो रहे संसाधनों की बात न सोच समाज के लोग आपस में ही व्याप्त भेद के कारण लड़कर मर रहे हैं। और इस भेद को बढ़ावा देने वाले संसाधनों की कमी को विचार के क्षेत्र से बाहर ही रखना चाहते हैं। इसलिए वे आरक्षण-विरोधी विचार को हवा देते रहते हैं। घर में पिता के बुरे बर्ताव और होस्टल में सीनियर छात्र उसे हतोत्साहित करने का प्रयास करते हैं। इन सब स्थितियों के बाद भी वह परेशानियों से लड़ता है और

आगे बढ़ता है। इन कहानियों में संघर्ष के साथ आशा की झलक जरूर मिलती है। यही इन कहानियों की सबसे बड़ी उपलब्धि है। इन कहानियों को पढ़ने के बाद पाठक समाज के अलग-अलग हिस्सों के दुःख और संघर्ष को ही नहीं बल्कि लेखक के आशावाद को भी पढ़ते हैं। यह आशावाद अनेक स्थलों पर स्थितियों से पैदा होता हुआ दिखता है। यह आशावाद बाहर से थोपा हुआ न होकर स्थितियों के भीतर से जन्म लेता है। ये कहानियाँ निराशा का वातावरण न रचकर पाठक को निराश मन:स्थितियों में अकेला नहीं छोड़ती हैं।

सेना में शहीद होने पर समाज और मीडिया द्वारा किये जाने वाले जय-जयकार में छिपे रह जाने वाले दुःख की मार्मिक कहानी है 'कितने युद्ध'। जिस पत्नी का पति शहीद हो जाता है, उसे आगे जीवन में कैसे-कैसे दुःख उठाने पड़ते हैं और उसके बच्चे किस प्रकार के कष्ट सहते हैं, इसे सभी लोग भूल-से जाते हैं। अभी पिछले दिनों रक्षा प्रमुख जनरल बिपिन रावत के साथ शहीद होने वाले सभी ग्यारह सैनिकों की मृत्यु के संदर्भ में भी इस कहानी को रखकर पढ़ सकते हैं। देशभक्ति के अतिरंजित भाव में परिवार के सदस्यों के दुःख और कष्टों को छिपा-सा दिया जाता है। बड़ा समाज उन दुखों को देखकर भी अनदेखा करता है। इन स्थितियों को न देखने के प्रयास को दिनेश कर्नाटक जी अपनी कहानी में दिखाते

हैं। जिन आवाजों को समाज नहीं सुनना चाहता है, इस विसंवादी स्वर को इस कहानी में सुना जा सकता है।

रिटायरमैंट के बाद जीवन में आने वाले खालीपन की समस्या में शहरों में नई नहीं है। इस विषय पर लगातार साहित्य में लिखा जा रहा है। इसी विषय पर एक कहानी 'रिटायरमैंट और सचिन की बल्लेबाजी'। अपने लम्बे कार्यकाल के बाद घर और समाज में समय को सम्मानजनक रूप से बिताने की समस्या से दो-चार होते व्यक्ति का दुःख यहाँ दिखाया गया है। अकेलेपन और अपने को अवांछित बनाए जाते रहने से उपजे विषाद और उस पर जीत हासिल करने के बारे में कहानी संकेत करती है।

मैंने दिनेश कर्नाटक जी की सभी कहानियाँ नहीं पढ़ी हैं। लेकिन कुछ कहानियों के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि इनमें उत्सुकता की कमी भी कई बार खलती है। कहानी पढ़ने पर शुरुआत या कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि आगे क्या होने वाला है? इस शक्ति के अभाव में पाठक कहानी को पाठक का कर्तव्य समझकर आगे पढ़ता जरूर है लेकिन कहानी का कोई सूत्र ऐसा नहीं मिलता है, जिससे उत्सुकता का जन्म होता हो!

इन कहानियों को पढ़कर बहुत जगह ऐसा भी लगता है कि कहानी के पात्रों की तरह कहानीकार स्थितियों के भीतर छिपे अनिश्चय की चुनौती को झेलने के लिए कतई तैयार नहीं है। कहानी बिलकुल सरल और सुरक्षित रास्तों पर आगे बढ़ती है। जोखिम रहित स्थितियों के मिलने के कारण अधिकतर कहानियाँ पाठक को किसी प्रकार का याद रह जाने लायक पल स्मृति में दर्ज किए बिना ही खत्म हो जाती हैं।

खड़ीबोली हिंदी के साथ पहाड़ की भाषा के कुछ शब्द और कभी-कभी वहाँ का विशिष्ट 'कहन' भी इन कहानियों में पढ़ने को मिलता है। जैसे गधेरे का अर्थ मुझे बाद में जाकर संदर्भ से मालूम पड़ा। 'ठैरे' आदि शब्दों को भूतकालिक क्रियापद के लिए प्रयुक्त करने का ठेठ आँचलिक शैली का तो उपयोग किया ही गया है।

कई कहानियों में कुछ पात्रों के नामों का दुहराव ऐसा लगता है कि कहानीकार ने उन नामों वाले लोगों के जीवन को ही बार-बार लिखा है या यह भी संभव है कि किसी चरित्र विशेष के लिए किसी नाम विशेष की सर्जना कहानीकार ने एक छवि के तहत की है। जैसे रवि नाम के लड़के का दो कहानियों में बुरे पात्र के रूप में ही आना, ऐसा लगता है कि किसी वास्तविक रवि से लेखक का बहुत पाला पड़ा है। या दूसरी बात की ओर अभी संकेत किया कि लेखक ने रवि नाम की

एक छवि मन में ख़ास प्रकार की बना रखी है, जिस कारण से जाने-अनजाने लेखक रवि को ख़राब लड़के के लिए उपयुक्त नाम मानने लगा है। अगर ऐसा है तो लेखक ने छवि-निर्माण की अवचेतन-प्रवाही प्रक्रिया के कारण अपनी कहानियों और पात्रों के साथ अन्याय किया है।

इस छवि के कारण ही स्त्री के सफल होने और उसके साथ पुरुष समाज के सम्बन्ध की कथित छवि का शिकार लेखक और उसकी एक कहानी 'स्विच ऑफ' हुई है। प्रेम और फिर उसमें विफलता के बाद अपनी नौकरी और आगे बढ़ते जाने में पुरुष समाज द्वारा निर्मित स्त्री-छवि को भी इस कहानी में दिखाया गया है। अगर स्त्री अपनी नौकरी में आगे बढ़ रही है और अकेले ही दूसरे शहर की यात्रा करती है और अकेले ही किसी होटल में रुकती है तो एक फ़िल्मी जैसी घटना इस कहानी में मिलती है। आभा को शराब पिलाकर उसके साथ किये जाने वाले बलात्कार को बेहद फ़िल्मी और एक निर्मित छवि के तहत दिखाया गया है। यह स्त्री की ऐसी छवि है जिसे जानता भले कोई न हो लेकिन पुरुष समाज और पुरुष ही नहीं स्त्री समाज भी आधरहीन होने के बावजूद मानता है। इस छवि के कारण अनेक कहानियों का नुकसान यहाँ देखने को मिलता है।

कहानियों को आवयविक रूप से आगे न बढ़ने देने के कारण ही 'शहर का सब से सुखी इंसान' कहानी एक सफल और कोमल प्रेम कहानी होने की

तरफ आगे बढ़ती है लेकिन लेखक उसमें अपने विचार की अग्नि से उस कथा के आगे बढ़ते पौधों को जला देता है। और अंत में कहानी ‘करनी-कथनी के अंतर’ के भेद जैसे बहुत घिसे हुए विषय तक केन्द्रित होकर रह जाती है। इस कहानी में एक वाक्यांश ध्यान खींचता है। ‘गुनगुनी सी उदासी’। गुनगुनी धूप को पढ़ने वाला मन गुनगुनी सी उदासी का अर्थ ठीक से नहीं समझ पा रहा है। क्या यहाँ उदासी भी धूप की तरह सुखद हो सकती है? यह गद्य की भाषा में कविता की भाषा का प्रयोग है। शायद इस वाक्यांश का यह अर्थ हो कि उदासी अपने होने में बहुत तेज धूप की तरह न होकर चुपचाप असर कर रही है। मालूम नहीं इस वाक्यांश को लिखते समय कहानीकार का अभिप्राय क्या रहा होगा?

‘माँ उदास है’ कहानी के द्वारा हम लोग पहाड़ के समाज में मनाये जाने वाले एक त्योहार के बारे में जानते हैं साथ ही एक स्त्री-मन में भी झाँकने का अवसर पाते हैं। यह कहानी स्त्री-विमर्श के भीतर भी आ सकती है। इस कहानी के द्वारा स्त्री-सम्पत्ति पर भी विचार किया जा सकता है। शादी के बाद लड़की को उसका परिवार किस रूप में और कितना मान-स्थान देता है? विवाहिता लड़कियों के भाई ‘भिटौली के महीने’ में उससे मिलने और भेंट देने जाते हैं। इस त्योहार के जरिये अन्य क्षेत्र की संस्कृति से पाठक का परिचय होता है। लेकिन माँ क्यों उदास है? इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए कुछ उत्सुकता लेखक रचता

है। उत्सुकता रचने की सफलता ही किसी भी कथाकार को पठनीय कथाएँ उपलब्ध करवाती हैं। कुछ कहानियों में इस तरह की सफल कोशिश दिनेश कर्नाटक करते हैं। लेकिन कभी-कभी कहानीकार के सजग न रहने से पाठक उस सूत्र को पहले ही पा जाता है जो उसे कहानी के अंत में जाकर मिलना चाहिए। यही सूत्र रचने और उसे छिपाते हुए कहानी को प्रस्तुत करता है। लेकिन इस कहानी में माँ की उदासी का कारण पाठक कुछ पहले ही समझ जाता है। इसलिए इस कहानी में उत्सुकता में भी कमी आ गई है।

इन दिनों लिखी जाने वाली अधिकतर कहानियों में पात्र प्रायः एक रैखिक अथवा अपरिवर्तनीय स्वभाव के साथ कहानी के जीवन में उपस्थित होते हैं। अगर किसी पात्र को कहानीकार बुरे रूप में दिखाता है तो वह किसी भी मानवीय स्थिति के साथ नहीं दिखाया जाएगा। किसी मशीन की तरह मनुष्य को भी आजकल दिखाया जाने लगा है। लेकिन प्रेमचन्द और उनके समय के कहानीकार जीवन को सम्पूर्णता में स्वीकार करते हुए पात्रों में परिवर्तन की सम्भावना बनाए रखते थे। कुछ इसी प्रकार की कहानी 'झाड़ियाँ' है। इस कहानी में श्वेता प्रगतिशील विचारों की लड़की है। वह रवि नाम के लड़के से प्रेम करती है। रवि अमीर और तमाम दोषों से युक्त युवा है। उसे 'सब कुछ चाहिए' की लत लग चुकी है। श्वेता भी उसकी इसी लत के तहत जीवन में आई है। उसे श्वेता से

वास्तविक प्रेम नहीं है। लेकिन श्वेता रवि से प्रेम करती है और रवि की ओछी हरकत पर उसे ऐसा तमाचा मारती है कि वह पूरी तरह से बदल जाता है। अब वह पहले वाला रवि नहीं रहता है। इस तरह की घटनाओं को नकारने वाले लोग जीवन में सकारात्मकता की सम्भावना से रहित हो चुके होंगे। उन्हें इस कहानी में हुए हृदय परिवर्तन में कुछ भी विश्वसनीय नहीं लग सकता है। यह भी हो सकता है कि इस कहानी के अंत को कुछ पाठक कृत्रिम या असम्भव भी मान सकते हैं। लेकिन मानव-मन और जीवन में असंभव कुछ भी नहीं होता है। इसी प्रकार यह कहानी एक अच्छी कहानी होने के साथ-साथ बड़ी साहसपूर्ण कहानी भी है। इस कहानी में कहानीकार ने वक्त के चलन से हटकर गांधीवादी विचार को दर्ज किया है।

जीवन जितना दुखद और कष्टपूर्ण होता है उसे जीने वालों के सपने कभी-कभी उतने ही सुखद जीवन की कल्पना से भरे होते हैं। 'खंडहर' कहानी में जीवन के कड़वे यथार्थ को रचते-सहते हुए चड्ढा जी अपने कल्पना-लोक में सुंदर और सुखद परिवार की रचना कर लेते हैं। इस काल्पनिक जीवन स्थिति को कुछ लोग गलत समझ सकते हैं। लेकिन जब व्यक्ति कहीं असफल होता है तो कहीं और सफलता के लिए दौड़ता है। चड्ढा जी अपने जीवन में विफल हो चुके व्यक्ति हैं। परिवार का यथार्थ ऐसा है कि होली के दिन घर आए हुए मेहमान के सामने

भी घर का क्लेश थम नहीं रहा है। उसे पकवान तो क्या चाय तक पिलाने की स्थिति में चड्ढा जी नहीं हैं। वे लगातार अपनी पत्नी को गाली दिए जा रहे हैं। बेटा और बहु इस वक्त आए अनामंत्रित अतिथि को अप्रत्यक्ष रूप से अपमानित करने से भी अपने को नहीं रोक पाते हैं। कहानी का वाचक जिस उत्साह से आया था उतनी ही निराशा और तेजी से घर से निकल भागता है। जीवन के ‘खंडहर’ को जीते हुए चड्ढा जी एक ‘महल’ की कल्पना पर जी रहे हैं। इसी कल्पित महल के सपने को सच मानकर अपने सभी साथी कर्मचारियों को सुनाते हैं। झूठ को जीते हुए अधूरे सुख का जीवन बिता रहे हैं। लेकिन कहानी का वाचक शरत उस कल्पित सुख का नंगा और कड़वा सच देख आता है। इसके बाद चड्ढा जी दोबारा अपने ऑफिस नहीं आते हैं। चड्ढा जी जीवन में जितने कमजोर मनुष्य हैं, अपनी कल्पना और दूर के समाज में उतने ही रोब झाड़ने वाले व्यक्ति हैं। इस रोब को बर्दाश्त न करने वाला समाज इस सच के सामने आने से खुश होगा। लेकिन मुझे तो चड्ढा जी एक टूटे हुए लाचार मनुष्य नजर आते हैं। उनके दोषों का बचाव तो कोई नहीं कर सकता है लेकिन उस कल्पित सपने को तोड़ने की किसी को क्या जरूरत है? क्या पता कभी वह सपना जीवन में साकार ही हो जाए! जिस सुखद घर और सम्बन्धों की वे झूठी कहानियाँ सबको सुनाते हैं क्या पता कभी वे कहानियाँ सच ही हो जाएँ!

‘कहाँ हो मुमताज’ रमेश और मुमताज की दोस्ती की कहानी है। हिन्दू मुसलमान संबंधों के साथ-साथ विचारधाराओं की सीमा को भी उठाया गया है। गरीबी, बेरोजगारी और दंगों की बात भी आई है। बाद में मुमताज बिना बताये परिवार के साथ कहीं चला जाता है। मुसलमानों के प्रति हिन्दू समाज में मौजूद अधूरी ही नहीं साजिशपूर्वक रची गई छवि का खंडन करती कहानी है।

‘एक मूँछ प्रेमी का कबूलनामा’ बिलकुल अगल अंदाज़ और आस्वाद की कहानी है। इस कहानी का अंदाज़ व्यंग्य का है लेकिन बात बहुत गहरी कही गई है। अस्वाद के स्तर पर भी यह कहानी हल्के-फुल्के ढंग से बहुत कुछ कह जाती है। जैसे मूँछों को प्रतीक रूप में यहाँ कहीं नहीं दिखाया गया है लेकिन वास्तव में मूँछें पुरुष समाज में एक रुतबे और खास ठसक की भी प्रतीक रही हैं। इसी ठसक के तिरोहित होते ही भौतिक स्तर पर जो जादुई बदलाव कहानी में घटित होने लगते हैं, उनका मजेदार बयान इस कहानी में मिलता है।

इस संकलन में दिनेश कर्नाटक जी के कहानी-लेखन के इक्कीस उदाहरण पढ़ने को मिलेंगे। सभी के बारे में न लिखकर कुछ कहानियों के बारे में अपनी पाठकीय प्रतिक्रिया यहाँ दर्ज कर रहा हूँ। साथ ही आशा करता हूँ कि यह संकलन पाठकों को पसंद आएगा।

(इक्कीस प्रतिनिधि कहानियाँ- दिनेश कर्नाटक)

महाप्रभु की कथा

यह उपन्यास चैतन्य महाप्रभु के जीवन पर आधारित है, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने चैतन्य महाप्रभु को समस्त बंगाल की आध्यात्मिक साधना का प्रतीक माना है, भक्तिकाल में गौरांग का आविर्भाव हुआ, राजेंद्र मोहन भटनागर ने इस उपन्यास को भक्तिभाव से रचा है, उपन्यास का कथावृत्त गौरांग का जीवन है, जिस समय समाज में वे जन्मे, पले-बढ़े उसका किंचित् वर्णन चित्रण रचनाकार जरूर बीच-बीच में करता जाता है, लेकिन लेखक ने इसे जीवनी नहीं, उपन्यास के शिल्प में लिखा है चैतन्य महाप्रभु का जन्म नीम के पेड़ के नीचे माना जाता है, इसलिए उनका नाम निमाई भी है। मां शची बेटे निमाई के दूध छुड़ाने की घटना का स्मरण कर रही हैं। इस घटना से उपन्यास शुरू होता है. चैतन्य बनकर अंत में कृष्ण अनुरक्ति में जलमग्न होने तक की घटनाओं को उपन्यास में शामिल किया गया है। गौरांग को उनके अनुयायी कृष्ण का अवतार मानते हैं। 1486 ई. में बंगाल के छोटे से गांव नवद्वीप में जन्मे गौरांग बचपन से ही प्रतिभाशाली होने के साथ-साथ शास्त्रार्थ करने में कुशल हैं। अल्पायु में ही उन्होंने विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान अर्जित कर लिया था। मात्र 48 वर्ष की उम्र में उनका देहावसान हो गया।

गौरांग के बड़े भाई विश्वरूप का जिक्र उपन्यास के शुरू में शची देवी और जगन्नाथ मिश्र की बातचीत में आता है। मां और पिता विश्वरूप के वैराग्य धारण कर लेने से आहत हुए हैं। जब वे गौरांग में इस तरह की प्रवृत्ति को उठते देखते

हैं तो उनका मन भयभीत होने लगता है। यह अंश उपन्यास का श्रेष्ठ अंश है मां शचि देवी का चित्रण जितना पठनीय और सहज-मान्य लगता है, उतना अन्य पात्रों का नहीं। पिता जगन्नाथ मिश्र का देहांत पुत्र विश्वरूप के विछोह-दुख में होता है। गौरांग की दूसरी पत्नी विष्णुप्रिया से शचि देवी गौरांग को घर-परिवार में बांध लेने और जीवनोन्मुख बनाने का आग्रह करती हैं। प्रवृत्ति मार्ग का निवृत्ति मार्ग से जो द्वंद्व तत्कालीन समाज में चल रहा था, वह परिवार में शनी देवी और जगन्नाथ मिश्र के मन में किस प्रकार अनिश्चय और भय पैदा कर रहा है, इसे सामने लाना उपन्यासकार की उपलब्धि है।

छोटे-छोटे वाक्यों को पढ़ने का अपना सुख होता है। इस जीवनीपरक उपन्यास में कुछेक स्थल जरूर ऐसे हैं, जहां वाक्यों की लघुता सुखद है। लेकिन कई जगह दो-एक शब्दों द्वारा निर्मित वाक्य भी दिखाई देते हैं, जो प्रवाह को रोकने का ही काम अधिक करते हैं।

कहीं-कहीं स्वाभाविकता के अभाव के साथ-साथ पाठकों को रचनाकार की इतिहास दृष्टि अथवा युगबोध के संदर्भ में निराश भी होना पड़ सकता है धर्म परिवर्तन जैसे संवेदनशील विषय को उपन्यास के आरंभ में हल्के स्तर पर उठाया गया है, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी कह गए हैं, "उत्कृष्ट साहित्य सदैव अनिवार्य ही हुआ करता है" अनिवार्य का अर्थ कि वह अपने समय की चिंताओं-

आशाओं की अभिव्यक्ति भी करे। ‘गौरांग’ को पढ़ते हुए पाठक उनकी इस मान्यता से संभवतः सहमत होंगे।

(गौरांग, राजेन्द्र मोहन भटनागर, राजपाल एंड संज)

त्यागे जाने का अभिशाप और शकुंतला

‘शकुंतला’ उपन्यास पौराणिक पात्र शकुंतला, ऋषि कण्व की पालित पोषित कन्या पर आधारित उपन्यास बिल्कुल नहीं है। किंतु इस उपन्यास की नायिका शकुंतला कालिदास के नाटक ‘अभिज्ञान शाकुंतलम्’ की नायिका के साथ जुड़े "त्यागे जाने के अभिशाप को अवश्य ही वहन करती है। इसी उपन्यास की पंक्तियां हैं - उस शकुंतला को उसकी मां मेनका ने त्यागा, जन्मदाता पिता विश्वामित्र ने त्यागा और बाद में उसके पति दुष्यंत ने त्यागा- संभवत: वह अपने भीतर त्यागे जाने का संस्कार वहन कर रही थी। लेखिका नमिता गोखले ने कथा

का ताना-बाना एक पहाड़ी लड़की शकुंतला की प्रकाशक जीवन स्थितियों और उसकी टकराहट से निर्मित किया है। पूरी कथा मुख्य रूप से तीन चरणों में समाप्त होती है। शकुंतला की बाल्यावस्था का जीवन, वैवाहिक जीवन और तीसरा चरण उसके 'स्वगृहीत निर्वासन' की जीवन।

शकुंतला की विधवा मां का व्यवहार अपने एकमात्र पुत्र गोविंद के प्रति कुछ और है जबकि बेटी शकुंतला के प्रति कुछ और। इस बात को शकुंतला शिद्दत से महसूस करती है। तीन लोगों के इस परिवार में शकुंतला अकेली होती जाती है।

विवाह के बाद पति सृजन से उसे प्रेम तो मिलता है, लेकिन वह शकुंतला के रहते अन्य स्त्री कमलिनी को ले आता है। इससे उत्पन्न असहज स्थिति के कारण वह एक यूनानी यात्री के साथ घर छोड़कर चली जाती है। यह मोड़ उसके जीवन का एक महत्त्वपूर्ण मोड़ है। बहुत कुछ जानने की, अनुभव करने की उसको अदम्य अभिलाषा उसे अब पूरी होती दिखती है। मगर उसकी यह स्थिति बहुत दूरगामी नहीं थी। यूनानी यात्री, नीरकर, को थोड़े समय बाद व्यापार के सिलसिले में अपने देश जाना पड़ता है। यह घटना उसके जीवन की अंतिम महत्त्वपूर्ण घटना है। इसके बाद वह बहुत कुछ आत्मविरक्त-सी काशी में आ जाती है। यहीं उसके जीवन के अंतिम लम्हे बीतते हैं, जो काफी कष्टकर है।

इन सब घटनाओं के मोतियों को एक डोर इस उपन्यास में एक साथ पिरोती है। अगर इस डर को कोई नाम देना चाहें तो हम उसे त्यागे जाने का अभिशाप नाम दे सकते हैं। पहली बार जब शकुंतला घर से भागती है, तो एक कंदरा में निवास करने वाली स्त्री की शरण लेती है, जो उसे आदि देवों के रहस्यों और शक्तियों से परिचित करवाती है। 'ध्यान रखना' वह कहती है। 'अपने हर रूप में देवी स्वयं अपनी स्वामिनी है। बाद में जीवन के आश्चर्यजनक उतार-चढ़ावों के बीच शकुंतला इस अमोल सीख का रहस्य समझती है।

जब उसके पति अपनी सुदूर यात्रा से उसके लिए| एक दासी लेकर आते हैं, तो संदेह और ईर्ष्या से भरकर वह यदुरि-पतिता का रूप धर लेती है, और अपने घर और कर्तव्यों से मुख फेर गंगा किनारे मिले एक यूनानी पथिक के साथ चल देती है साथ-साथ वे काशी यात्रा करते हैं, वहां शकुंतला बंधनों से मुक्त आनंदलोक में विचरती है पर शीघ्र ही एक व्याकुलता उसे इस संसार को भी त्याग देने को बाध्य कर देती है

एकदम मौलिक और मर्मस्पर्शी उपन्यास शकुंतला ऐसी स्त्री के त्रासदीपूर्ण जीवन का सजीव चित्रण है जिसकी अपनी शर्तों पर जीने की इच्छा को परिस्थितियां और समाज पग-पग पर कुचल देता है। नमिता गोखले में कथानक

में इतिहास, धर्म और दर्शन को असाधारण कौशल से पिरोकर एक अपूर्व उपन्यास रचा है। इसी कौशल के कारण उपन्यास पठनीय भी है।

(शकुंतला : स्मृति जाल, नमिता गोखले, अनुवाद शुचिता मीतल, पेंगुइन बुक्स इंडिया)

भूमंडलीकृत समाज की फसक गाथा

भूमंडलीकरण से पहले का भारत कैसा था? उसके बाद का भारतीय समाज किस रूप में अलग है? इन सवालों के समाजशास्त्रीय जवाब बहुत जटिल और उबाऊ हो सकते हैं। लेकिन इन सवालों के साथ यह भी जानना हो कि भूमंडलीकरण और नवउदारवाद ने हमारे गाँव-समाज को कैसे और किन रूपों में बदलकर रख दिया है? तो इसे बड़े सहज और रोचक ढंग से जानने के लिए आपको छोटी-छोटी गपबाजियों से भरे 'फसक' उपन्यास को पढ़ना चाहिए। भूमंडलीकरण की संस्कृति ने मानव व्यवहार को एक ही समय-बिंदु पर उत्तरआधुनिक और मध्यकालीन बनाने का जो अभूतपूर्व काम किया है, उसकी कुछ बानगी यहाँ घटित होते देख-सुन सकते हैं। बेजोड़ पठनीयता वाला यह उपन्यास सूक्ष्म समाजशास्त्रीय पद्धति की तरह हमारे सामने बदलते गाँव-समाज को दिखाता है और यह भी जाहिर नहीं होने देता कि आप रोचक, नाटकीय शैली और हास्य

के आवरण में भूमंडलीकरण से पूर्व और पश्चात् के भारतीय समाज का गंभीर और प्रामाणिक अध्ययन पढ़ रहे हैं। संवादों और स्थितियों में इतनी नाटकीयता भरी है कि इसका आसानी से मज़ेदार नाट्य रूपान्तरण भी किया जा सकता है।

अपने झूठ को सच कहने वाले राजनीतिक दौर में अपने सच को भी झूठ और कोरी गप या फसक कहने वाले कथाकार हैं राकेश तिवारी। आप यदि हरिशंकर परसाई और श्रीलाल शुक्ल जैसे रोचक गद्य के शौक़ीन हैं तो आपको इस उपन्यास की भाषा और लहज़ा कदम-कदम पर गुदगुदाएगा। व्यंग्य और करुणा के समन्वय वाली परसाई जैसी भाषा-शैली के साथ रोने वाले अनेक स्थलों पर भी ट्रेजिक कॉमेडी वाली श्रीलाल शुक्ल जैसी भाषा-शैली यहाँ एक साथ पढ़ने को मिलेगी। भाषा में मनोहर श्याम जोशी की स्टाइल जैसा चटपटापन और कुमाऊँनी शब्दों, वाक्यों और क्रियापदों को भी आप अनेक पात्रों के संवादों में पढ़ेंगे। इस उपन्यास की कथा आप नहीं जानते हैं तो उसे यहाँ संक्षेप में नहीं कहा जा सकता है। पूरी कथा अनेक छोटी-बड़ी कथाओं से इस तरह गुँथी हुई है कि आप पूरी उपन्यास-कथा एक समीक्षा में नहीं जान सकते हैं। फिर भी उपन्यास में दर्ज कुछेक कथाओं के सार को जान लेते हैं। इसके आधर पर आगे बात कहने में आसानी होगी।

उपन्यास की बीज-कथा बचवाली, रेवा और जोशी कॉटेज से जुड़ी है। रेवा अपने माता-पिता की खोज करने के उद्देश्य से हल्द्वानी के निकट पहाड़ पर बसे अपने पैतृक गाँव बचवाली आती है। उसके माता-पिता कहीं खोए नहीं बल्कि जाति व्यवस्था के कारण उसे उनकी गोद ही नहीं मिल पाई। वह जन्म के बाद से ही अपने मामा-मामी के पास रही। रेवा की माँ जानकी जोशी कॉटेज में रहने वाले माधव और शिव जोशी की बहन थी। जानकी के परदादा तारादत्त जोशी पुराने कांग्रेसी और जाति बंधन के विरोधी थे। उन्होंने ही यह घर बनवाया था, जिसे तब जोशी निवास के नाम से जाना जाता था और बाद में उनके बेटे गोविन्द बल्लभ जोशी ने नया रूप-नाम दिया जिसे अब वहाँ के लोग 'जोशी कॉटेज' के नाम से जानते हैं। जानकी बचवाली से कुछ दूर तूना गाँव के शिल्पकार-दलित प्रदीप से प्रेम करती थी। लेकिन जाति-व्यवस्था के कारण प्रेम का रास्ता शादी की मंजिल तक नहीं पहुँच पाता है कि उन दोनों के प्रेम से रेवा अस्तित्व में आ जाती है। अब जोशी बन्धु अपने परिवार और गर्भवती बहन को लेकर रातोंरात उस घर और गाँव को छोड़ हमेशा के लिए कहीं चले जाते हैं। दिल्ली और मुंबई में वे दोनों जोशी भाई अपनी झूठी शर्म, चहेती बहन और अपने परिवार के साथ बस जाते हैं। वहीं पर रेवा का जन्म होता है। रेवा के मामा-मामी ही उसे पालते हैं। रेवा के जन्म के कुछ दिन बाद ही जानकी दवाई लेने के बहाने घर से निकलती

है और फिर कभी अपने भाइयों और बेटी से मिलने भी नहीं आती है। जानकी और प्रदीप की कहानी अधूरी और अनेक स्रोतों से टुकड़ों में पाठकों तक पहुँचती है। उन कहानियों को सुनने-पढ़ने के बाद भी अधूरेपन का भाव नहीं दूर होता है। बचवाली में ही चुंगी तिराहे से थोड़ा ऊपर जाने पर जोशी कॉटेज दिखता है। पहाड़ों पर सदाबहार भूत की कहानियों जैसा भुतहा जोशी कॉटेज पिछले 28 साल से बंद पड़ा था। बंद पड़े उस घर में अचानक एक शहराती, सुंदर और काँचकूट हँसी वाली लड़की रेवा के आने से जोशी कॉटेज की पुरानी कहानी और बचवाली की नई हलचल सबकी फसकबाज़ी/गपबाज़ी का विषय बन गई है।

लेखक, पाठक और मुख्य पात्र की तरह लगने वाला प्रायः द्वन्द्वग्रस्त रहने वाला बाहर से कभी तेजू कभी तेजप्रताप रेवा में सबसे ज्यादा रुचि लेते हैं। इसलिए लगता है कि रेवा इस उपन्यास की मुख्य पात्र है। रेवा बड़ी होकर अध्यापिका बनती है। उसे दोनों मामाओं की एकांत बातचीत में अपनी माँ जानकी की दुखभरी चर्चा बार-बार अक्सर सुनाई पड़ती है। रेवा अक्सर अपनी माँ और पिता के बारे में सवाल करती है तो मामा उसे कोई झूठी-सच्ची कहानी सुनाकर शांत कर देते हैं लेकिन एक दिन वह समझ ही जाती है कि सही बात तो अपने गाँव

जाकर ही पता चलेगी। वह दिल्ली से बचवाली पहुँच जाती है। रेवा यहाँ अपनी माँ और पिता के सच को जानना चाहती है।

अब रेवा की इस खोज-यात्रा की पृष्ठभूमि और उसके परिणाम को जानने के लिए पाठक इस उपन्यास को एक ही सपाटे में पढ़ डालता है। उपन्यासकार राकेश तिवारी अपने अपार धैर्य और कौशल से पाठक को उत्सुकता रूपी धागे से बांधे-बांधे अपने साथ ले चलते हैं। रेवा की इस खोज-यात्रा में लक्ष्य और रास्ते में से क्या ज्यादा रोचक है इसे अगर चुनना हो तो मैं कहूँगा कि रास्ता लक्ष्य से कहीं ज्यादा रोचक रहा। इस उपन्यास की कथा का परिणाम या लक्ष्य कुछ भी नहीं है। यानी उपन्यास के अंत में प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। रचनाकार इस उपन्यास के पाठक को एक निश्चित अंत देने वाली पुरानी कथा-परम्परा का हिस्सा नहीं बनाना चाहा है। इसलिए इस उपन्यास में सभी घटनाओं को समेटने वाला कोई चिराचरित अंत नहीं है। उपन्यास के अंत में मिलने वाला कोई प्रयोजन यहाँ सचेष्ट रूप से ग़ायब है। उपन्यासकार ने उसे एक प्रवाह से शुरू किया था और उसी प्रवाह के बीच से पाठक उपन्यास के अंतिम पन्ने पर आ जाता है। उपन्यास का अंतिम पन्ना उसका अंत नहीं है। किसी भी प्रकार का फलागम या ‘द एंड’ पाठक को यहाँ नहीं मिलता है तो वह थोड़ा विचलित-सा

होता है। न रेवा को अपने माता-पिता का पता मिल पाता है। उपन्यास का केंद्र ऊपर से देखने में वही है।

उपन्यास की दूसरी बड़ी कथा पुष्पा से जुड़ी है। पुष्पा बचवाली के विस्तार में ही आने वाले तल्ला रामखेत में गरीब फल वाले और अब दिवंगत मदन की विधवा है। खूब शराब पीकर दिन में भी टिल्ल रहने वाला एक बच्चे का बाप मदन अब मर चुका है। छब्बीस साल की अशिक्षित और लाचार पुष्पा के पति के मरने का कारण अनेक गाँववाले उसकी जेठानी और जेठानी की माँ के जादू-टोने को मानते हैं। पीलिया, जेठानी और देवता की टेड़ी नज़र से डरने वाली पुष्पा जादू-टोने के चक्कर में उसके इकतरफा प्रेमी हरिया की अनुशंसा पर नन्नू महाराज के पास उनके आश्रम में जाती है। नन्नू महाराज अपना क्षेत्र-विस्तार करके आगे बढ़ते जा रहे हैं। कुछ लोग मानते हैं कि यह धर्म का विस्तार है। किसी ने कहा है कि नन्नू महाराज यूपी में नौकरी से गबन कर भागे हुए पूर्व अपराधी हैं और अब वे अपना हर लिहाज़ से क्षेत्र विस्तार करना चाहते हैं। वे अपने जीवन की बगिया को पुष्पा रूपी अनेक पुष्पों से धोखे के बल से हरा-भरा करना चाहते हैं। फिर पुष्पा नौकरी और वृद्धावस्था पेंशन के लिए नवनिर्वाचित, लम्पट और सांसद बनने की चाह रखने वाले ग्राम प्रधान चंदू के पास जाती है। पुष्पा उन दोनों की हवस का शिकार बनती है या नहीं लेकिन वह नन्नू महाराज का पंजा और चंदू

पांडे की नाक काटकर अपना बदला लेती है। यह न्याय तो नहीं लेकिन पुष्पा से वे लोग डरने ज़रूर लगते हैं। लेकिन पुष्पा भी बिल्कुल पागलों की तरह 'आओ श्याँपों आओ रे, आओ नागो आओ रे' कहकर चिल्लाती घूमती है। यानी यह कहानी भी एक तरह से अधूरी लगती है। उसके साथ होने वाले अन्याय के बाद पुष्पा के अपराधियों को वास्तविक सजा भी नहीं मिल पाती है। सजा दिलाने जैसा आदर्शवादी समाधान राकेश तिवारी के सम्पूर्ण कथा संसार में खोजने से भी नहीं मिलेगा। पुष्पा के साथ क्या होता है? यह भी पाठक कभी नहीं जान पाता है। तेजू अब हमेशा के लिए दिल्ली चला जाता है। अपने माता-पिता का पता न चलने पर रेवा तो शायद दिल्ली लौट जाएगी, ऐसा संकेत पाठक को मिलता है। चंदू और नन्नू महाराज पुष्पा को जिन्दा छोड़ेंगे या मार देंगे? पी श्री और लाल बुझक्कड़ का अंत क्या होता है? इन सभी जिज्ञासाओं के समाहार पारम्परिक उपन्यासों के अंत में होते थे, इस उपन्यास में या राकेश तिवारी की कहानियों में समावेशी और सभी जिज्ञासाओं का समाधान करता हुआ अंत प्रायः नहीं मिलता है। यह कथा-विधि जीवन के बिल्कुल समान है। अपने आसपास के जीवन में भी किसी एक व्यक्ति या घटना के अंत के बाद भी जीवन चलता रहता है। यही यहाँ भी देखने को मिलता है। इस प्रकार यह उपन्यास अंतहीन उपन्यासों की श्रेणी में आएगा।

उपन्यास जिन रास्तों से गुजर कर अंत तक पहुँचता है वे छोटी-छोटी अनेक कहानियों की मदद से बनाए पहाड़ी पगडंडियों वाले रास्ते हैं। यहाँ कथा का कोई राष्ट्रीय राजमार्ग नहीं है। छोटे-छोटे रास्तों से उपन्यास की यात्रा पूरी की गई है। शुरू से आखिर तक चलने वालीं एक-दो कथाओं के बारे में हमने ऊपर बातें की हैं। इनमें रेवा, पुष्पा, तेजू और चंदू की कथाएँ हैं। इनकी पृष्ठभूमि बनाने वाली जानकी की कथा भी हम जान चुके हैं। इन कहानियों के अन्य प्रमुख पात्र पी थ्री यानी प्रेम प्रकाश पन्त, लालू उर्फ़ लाल बुझक्कड़, नन्नू महाराज, मोहन सिंह, भैय्या जी, भोला दत्त, पूरन सिंह, जीतराम और भैरव, नंदन और डुनी बुब आदि हैं। इन पात्रों के अलावा अनेक छोटे-बड़े पात्र अपने सजीव और विश्वसनीय व्यवहारों के साथ मंच पर अपनी छोटी लेकिन प्रभावी भूमिका के साथ आते हैं और फिर सदा के लिए विलुप्त हो जाते हैं। जीवन में भी इसी प्रकार से लोगों और घटनाओं की आवाजाही होती रहती है। किसी घटना या पात्र के पीछे-पीछे रचनाकार या पाठक चलता हुआ नहीं दीखता है।

रेवा की खोज की तरह ही रेवा और तेजप्रताप का प्रेम भी अधूरा ही रहता है। रेवा अपनी माँ और पिता के अधूरे किस्से को अपने जीवन में नहीं लाना चाहती है। जाति के बंधन के सामने वह अपने मन के प्रेम को जीवन में लाने से डरती है। इसलिए वह प्रेम-कहानी भी अधूरी ही रह जाती है।

पाठक इन सभी अधूरी कहानियों को पढ़कर कुछ देर के लिए खिन्न तो होता है लेकिन इन अधूरी कहानियों में उसे बहुत कुछ पूरा भी मिलता है। इन अधूरी कहानियों में भूमंडलीकरण के निर्मित बदलाव को पूरी तरह उपन्यास में उतरते हुए देख सकते हैं। उन्नीस सौ नब्बे के बाद देश ने एक नया रंग और आकार लेना शुरू किया है। पिछले तीस सालों के बदलाव की कथा इस उपन्यास में सम्पूर्णता में पढ़ने को मिलती है। एक तरीके से देखें तो बदलाव इस उपन्यास का केन्द्रीय भाव है। हमारे समाज में घटित हुए बदलाव को पूरी एकाग्रता और बिल्कुल नजदीकी से देखने के लिए भी इस उपन्यास को पढ़ा जाना चाहिए।

बचवाली का यह फसकोत्तर काल है। पोस्ट-ट्रूथ या उत्तर सत्य का वर्तमान काल है। अफवाहों को सच और किसी सच को अफवाह मान लेने का काल है। एक ओर तर्क और विज्ञान के विकसित होते जाने तो दूसरी ओर तर्कहीनता-अवैज्ञानिकता के न्यू नार्मल होते जाने का भी यह स्वर्ण-काल है। अब भूमंडलीकरण की चपेट में आने से फसक सुनने-सुनाने वालों पर भी फर्क पड़ा है। अब बचे-खुचे फसकबाजों को रेवा का किस्सा हाथ लगा है। रेवा और भूत से उसके प्रेम का किस्सा पुराने फसकबाज़ों की जीभ पर आकर बैठ गया है। यह उपन्यास उन्हीं फसकबाज़ों और रेवा के आसपास बुना हुआ है। फसकबाज़ी का प्रमुख अड्डा है हमेशा अपनी जांघ खुजाने और स को श बोलने वाले मोहनसिंह

की चाय की दुकान। लेकिन अब फसकबाज़ी पुरानी पड़ती जा रही है। अब फेसबुक और व्हाट्सअप की फसकें ज्यादा रोचक और प्रचलित हो चली हैं।

“इधर बड़े दिनों बाद रेवा का फड़कता किस्सा हाथ लगा है। फिर से सतरंगी इन्द्रधनुष ज़मीन से फूटते हैं और आकाश की ऊँचाइयों पर टंगजाते हैं। लेकिन नज़ारा देखने वाले ग़ायब हैं। किस्सागोई और फसकबाज़ी के पुराने स्मारकों के सामने बैठने वाले कौन हैं? ले-दे कर उदास आँखों वाले मुरझाए चेहरे। अपने समय और स्थान से विस्थापित। कंप्यूटर के बगल में पड़े सूखे फाउंटेन पेन। जिनकी स्याही बाज़ार से उठ गई है। किस्सों की पेराई में आख़िरी बूँद तक रस खींच लेने वाले श्रोता पता नहीं कहाँ बिला गए। लोग अनुमान लगाते हैं कि यह तब से हुआ जब से समय दोफाड़ हुआ। आधे इधर रह गए, आधे उधर। लद्धड पाले के आधे के आधे नन्नू बाबा के मुखारबिन्द से कथा सुनने जाते हैं। लेकिन लद्धड़ों में कुछ महत्त्वाकांक्षी लद्धड भी हैं, जिनमें से एक चंदू पांडे है।” (पृष्ठ 19)

फसक अथवा गप या गल्प इस उपन्यास का महज़ आवरण है। किस्सागोई या फसकबाज़ी इस उपन्यास की शैली मात्र है। गप कहकर उन बातों को सामने रखा गया है, जिन्हें अख़बारों में छोटे-छोटे टुकड़ों में आप पढ़ते ही रहते हैं। उन्हें सीधे कहने से असर नहीं पैदा हो रहा है। जिन्हें टीवी में दिखाया जा रहा है और जिन्हें देख-देखकर लोग ऊब रहे हैं। समाज के भीतर जाति व्यवस्था कितनी भीतर तक

धँसी हुई है, विरोधी विचार के प्रति युवा वर्ग कैसे हिंसक होता जा रहा है, धर्म और राजनीति ने कैसे आदमखोर गठजोड़ बना लिया है, राजनीति ने मुद्दे छोड़ अफवाहों को फैलाकर कैसे जनता को भीड़ में बदला है, तकनीकी रूप से सजग और पुरातन पद्धति के लोग एक साथ कैसे घोर अन्धविश्वासी हो रहे हैं? आदि सवालों के जवाब भी इस उपन्यास में देखने को मिल सकते हैं।

फसककार को कथा-रस सिद्ध है। इन दिनों कई आलोचक उपन्यास को समाज वैज्ञानिक शोध प्रबंध मानने की पैरवी कर रहे हैं। ऐसे में यदि उपन्यास पूरी तरह से अपठनीय और दुरूह है तो उसे उपन्यासकार की अक्षमता न मानकर पाठक को अधीर और दोषी सिद्ध किया जा रहा है। यह स्थिति फसक के साथ नहीं आती है। वे अपने पाठक को कथा-रस और पाठकीय सुख पहुँचाने में कोताही नहीं करते हैं।

कहन और स्थितियों से रस पैदा करने वाली भाषा इस उपन्यास में सर्वत्र मिलती है। फल बेचने वाला हरिया पुष्पा के प्रति एकतरफा प्रेम रखता और प्रेम पाने का प्रयास करता है। पुष्पा और हरिया के संवाद में हरिया भी छद्म करुणा और पुष्पा के वास्तविक दुःख दोनों के लिए रचनाकार ने हास्यपूर्ण शैली का ही उपयोग किया है। शायद इसलिए कि पाठकों को स्थितियों के बारे में बताने के साथ-साथ रोचक शैली द्वारा बांधे रखने में ऐसी भाषा प्रायः सफल होती है। चाहे

स्थितियाँ कितनी भी वेदनापूर्ण क्यों न हों उन्हें अगर हास्यपूर्ण शैली में कहा जाए तो पाठकों पर 'रागदरबारी' उपन्यास की भाषा जैसा असर पड़ता है। ट्रेजिक को भी कॉमिक में कहने का अंदाज पाठक पूरे उपन्यास में जगह-जगह पाएँगे। ऐसे स्थलों पर पाठक संवेदित होने के साथ-साथ हास्य की गुदगुदी भी खूब महसूस करता है।

शायद दुःख की भावना में पाठक को ऐसे कहन से लेखक उस समय उबार लेना चाहता है। यदि दुःख ही दुःख का वर्णन 'उदय प्रकाश की शैली' में होगा तो पाठक अनेक बार निर्विकल्प असहायता की मनस्थिति में आ जाता है। इस लिहाज़ से यह उपन्यास कहन के रूप में पाठक को दुःख में अकेला छोड़ देने वाला उपन्यास नहीं है।

एक उदाहरण देखिए-

"लम्बे समय तक उदारता और सज्जनता के प्रदर्शन के बाद हरिया ने एक दिन अपने प्रभाव की आजमाइश की, "भौजी, तुम्हारे बारे में सोच कर रोना आता है।" "तो मत सोचा करो।" – पुष्पा ने जवाब हाथ में धर दिया। हरिया को लगा उसने जूता मारा है। वह रुआँसा हो गया। कबूतर की आँखें बना लीं। एकदम निरीह। उसे देख कर पुष्पा की आँखें नम हो गईं। खरखराते स्वर में बोली, "मरने

वाला लौट कर नहीं आ सकता, लला। मैंने अपने आँसू सुखा दिए। फिर तुम क्यों दुःख करते हो?"

सुखा दिए आँसुओं को उसने धोती से पोंछ कर फिर से सुखाया।" (पृष्ठ 18)

पुष्पा का पति बहुत ज्यादा शराब पीने से पिछले साल मर गया। उसके बाद पुष्पा बचवाली की उस खोखेनुमा दुकान में फल बेचने का काम करने लगी है। वहाँ के पड़ोसी दुकानदारों का व्यवहार पुष्पा के वहाँ आते ही बदल गया। यह बदलाव रोचक शैली में ज़रूर है लेकिन उस मर्द समाज की आँखों और उनके आचरण से पुष्पा को तीर की तरह होने वाली चुभन का भी संकेत है।

"जब से दुकान पर बैठने लगी, फल वालों का कायाकल्प हो गया। पलीद भी बन-ठन कर आने लगे। भुर्रन जुल्फी अपने भूरे और बेजान बालों को जैल लगा कर खड़ा रखने लगा। दीपू अपनी दुकान से लौटने वाले ग्राहकों को उँगली लगा कर पुष्पा की तरफ भेज देता- उधर से पसंद कर लो। बूढ़े तिवाड़ी ने काला चश्मा खरीद लिया था और उसके अंदर से लगातार पुष्पा को देखता था। कुछ सीधे नजरें लड़ाने की कोशिश करते। उसे लगता था, उसकी छाती में घुस कर कोई तीखी चीज पीठ के पार निकल रही है।" (पृष्ठ 16)

यह वर्णन पढ़कर पुष्पा की मनोदशा-जीवनदशा के साथ पुरुष समाज के भीतर बैठे सनातन काल से स्त्री को हर लेने के भाव के भी दर्शन हो रहे हैं। हरिशंकर परसाई की 'एक लड़की पाँच दीवाने' कहानी की लड़की और उसके प्रेमियों का जिक्र यहाँ याद आ जाता है। वहाँ पाँच दीवाने हैं और यहाँ बचवाली बाज़ार में चार दीवानों का जिक्र है। कई बार करुण दशा को भी हास्यपूर्ण तरीके से वर्णित-चित्रित करने की परसाई-परम्परा यहाँ देखी जा सकती है।

भूमंडलीकरण की संस्कृति के बदलावों को इस उपन्यास में इतनी पास से घटित होते दिखाया कि पिछले समाज और नए समाज को साफ-साफ देखा-दिखाया जा सकता है।

इस उपन्यास का घटना-काल भले ही सन् 2013 के आसपास का है लेकिन इसके बीज पिछली सदी के नवें दशक में दबे हैं। ठीक उदारीकरण की तेज आँधी आने से चार-पाँच साल पहले की एक घटना इस उपन्यास का रचना-बिंदु है। अब रेवा के आने से मानों ठहरे हुए ताल में फिर से किसी ने पत्थर मार दिया हो। रेवा की फसक शुरू हो गई है। लेकिन भूमंडलीकरण के बाद बदले समाज ने फसकबाजों और उसे सुननेवालों को भी बदल कर रख दिया है।

अब हर कोई दो हिस्सों में बंटे हुए अपने कौतुक का समाधान करना चाहते हैं। एक हिस्से में लद्धड लोग हैं। दूसरे हिस्से में फर्राटा लोग हैं। लद्धड लोग फर्राटा वाले हिस्से में आने के लिए कबड्डी के खिलाड़ियों की तरह भागकर इस ओर आ जाना चाहते हैं। लेकिन फर्राटा समाज की गति इन लद्धड लोगों की गति से कहीं तेज है। चाय बनाने वाला मोहन सिंह अभी भी पुराने फसक का रसिया है। जीतराम बढ़ई को भी फसक सुनने का चस्का है। चंदू भी इन्हीं का हमउम्र फसकबाज़ है। वह लद्धड समाज का हिस्सा ज़रूर है लेकिन फर्राटा समाज में आने के लिए उद्धत है।

नई तकनीक ने यह बँटवारा किया है। तकनीक पटु हिस्सा फर्राटा समाज बन गया है लेकिन पीछे रह जाने वाले लोग लद्धड रह गए हैं। वे कुशल उपभोक्ता या तकनीकी उपकरणों के कुशल उपभोक्ता नहीं हैं। पास की पहाड़ी भुमई इस्टेट पर एक टावर खड़ा हो गया। लोग गवय्यों की तरह कान पर हाथ रखे नज़र आने लगे हैं। जैसे ही लद्धड समाज इस स्थिति तक पहुँचा फर्राटा समाज और आगे बढ़ गया। अब वह सुनने से देखने वाली तकनीक तक आ गया। इस नए समाज ने फसक के ठीहों को फीका-सा कर दिया है। फिर भी फसक कहने-सुनने वाले कुछ लोग अभी बचे हुए हैं। यह उपन्यास उन्हीं ठीहों की लाइव तस्वीरें दिखाती हैं।

पिछली सदी के अंतिम दशक में तकनीक, बाज़ार के साथ धार्मिक कर्मकाण्डों और अंधविश्वासों में भी अभूतपूर्व क्रांति आई है। नए-नए बाज़ारों और बाबाओं का जन्म होने लगा। कथाओं और गौ कथाओं का उबाल-सा आ गया है। तर्क और ज्ञान को इस दौर ने हास्यास्पद बनाकर हाशिये पर ला दिया। तर्कहीनता और धार्मिक अंधविश्वासों से चार्ज युवा लिंचिंग के लिए अब तैयार हो चुके हैं। सेक्स और मनोरंजन एक दूसरे के पर्याय बन चुके हैं। बेरोजगार-अशिक्षित-बेचैन-शांतचित्त-लक्ष्यहीन अकारण व्यस्तता के सभी युवा शिकार हैं। भैय्या जी जैसे नेता ढाई-तीन सौ लड़कों का फोन रिचार्ज कर उन्हें वजीफ़ा देते हैं।

यह उपन्यास पुराने और नए समाज के संधि-स्थल की थ्रीडी तस्वीर दिखाता है जिसे आप मानों अपने सामने होता देखते हैं। पुराना समाज कैसे अब नए समाज का रूप लेगा इसे भी देख सकते हैं।

इस उपन्यास में छोटी-छोटी प्रभावी लघुकथाएँ भी बीच-बीच में पिरोई गई हैं। इन लघुकथाओं से उपन्यास के असर को और संघनित किया गया है। पार्वती, रमेश की दादी, मास्टर भुवन चन्द्र, घनश्याम कका और काखी के बूढ़े माँ-बाप, झुंगरराम के बेटे नरराम की डोली-पालकी और कथित सवर्ण रामदत्त जोशी की बदसलूकी और डुनी बुब की घड़े से ब्याहने की लघुकथाएं ऐसी हैं जो इस

उपन्यास की स्पीड-वर्धक और उत्सुकता बनाए रखने के कुशल उपाय भी हैं और मूल कथा के अर्थ को और असरदार बनाती हैं।

हर पात्र की अपनी शैली ऐसी है कि आप उनके संवादों से पात्र का नाम बता देंगे। 'फसक' में आप चाय वाले मोहन सिंह के मुंह से इस प्रकार के संवाद पूरे उपन्यास में देखेंगे। इन संवादों में कुमाऊँनी बोली के साथ अंग्रेजी के तद्भव में रूपांतरित शब्द देखेंगे। साथ ही 'स' की जगह 'श' का खास तरीका भी सुनेंगे।

"उन दिनों वहाँ झल्लू कबर के आसपास जंगल ठैरा। ('था' के लिए 'ठैरा' शब्द प्रयोग आप पहाड़ की आंचलिक भाषिक पहचान मान सकते हैं।) तो हुआ ये कि बौज्यू (पिताजी) उस सड़क पर थे," मोहन सिंह ने मैदानों की तरफ ले जाने वाली सड़क की ओर उँगली लगाई, जहाँ अँधेरा पहाड़ था और धूप अभी उस हिस्से में पहुँची नहीं थी, "और ठीक नीचे हुई झल्लू कबर। जैसे ही मोड़ की तरफ बढ़े तो भूत ने खच्च-से उनकी टांग पकड़ ली। गिंगांज (केंकड़ा) के चिमटे जैसी नरनरी (ऐंठी हुई रूखी) उँगलियाँ हुईं महराज।...उस दिन उन्होंने तीन फरलांग का रास्ता पार करने में एक के बाद एक सोलह बीड़ियाँ जलाईं। वो आगे-आगे, भूत शाला पीछे-पीछे।...भूत शोचे, बौज्यू बीड़ी फेंकें तो उन्हें वहीं लमलेट कर दे। वो भी शमझ गए भूत की चाल।" (पृष्ठ 24) राकेश तिवारी

‘सोलह’ को ‘शोला’ लिखते तो और अच्छा होता। खैर, कथा-प्रवाह में इसे पाठक अनदेखा भी कर सकता है।

इस थोड़े से बड़े उदाहरण में आप मोहन सिंह की भाषा के साथ किस्सागोई की उस परम्परा को भी देख सकते हैं जो अब बचवाली में बीते दिनों की बात होती जा रही है। साथ ही लोक मन में भूत अभी भी सदाबहार विषय है। इस रोचक अंश से आप पूरे उपन्यास में की गई कमाल की किस्सागोई को पढ़ सकते हैं। हिंदी, कुमाऊँनी, अंग्रेजी के साथ अरबी-फारसी भाषा के शब्दों से इस उपन्यास को सजाया गया है। भाषा की इस विविधता के साथ उपन्यासकार की शब्दावली की व्यापक जानकारी भी इस रचना में आप देख सकते हैं। पात्रों का चरित्र चित्रण इतने मन लगाकर किया गया है कि आप अपने आसपास के जीवन में ऐसे किसी न किसी पात्र से उसे आराम से जोड़ सकते हैं। सब कुछ देखा और जाना हुआ होकर भी अपने संयोजन में इतना नया है कि कई बार पढ़ने पर भी यह उपन्यास अपनी भाषा और कथा-स्थितियों के कारण पुराना नहीं पड़ता है। उपन्यास में जगह-जगह पर मारक सूक्तियां भी दी गई हैं। इन सूक्तियों से आप अपने वर्तमान समाज और मनुष्य के चरित्र को समझ सकते हैं। दो उदाहरण देखे जा सकते हैं- “सिर्फ पागल ही सपने देखते हैं। बल्कि सपने इंतजार करते हैं कि पागल उन्हें देखें।” (पृष्ठ 10) “आजकल तो झूठ का हर सौदागर सत्य और निष्ठा का प्रचारक

बना घूमता है।" (पृष्ठ 12) ऐसी पचासों सूक्तियाँ इस उपन्यास में पढ़ने को मिलेंगी।

अंतिम और सबसे ज़रूरी बात यह है कि आप और हम सब लोग बचवाली में ही रह रहे हैं। ये घटनाएँ किसी पहाड़ी गाँव की न होकर पूरे भारत की हैं। नन्नू महाराज को अब हर शहर में फैले और निरंतर फैलते बाबाओं के रूप में आप देख सकते हैं। चंदू पांडे जैसे चलते-फिरते प्रोपर्टी डीलर, लकड़ी चोर, भ्रष्ट, लम्पट नेता अब हर ओर हैं। चुनावों में भूतबाधा और गौ-कथा की धर्म और राजनीति की जहरीली खिचड़ी पूरे देश में पकाई और खिलाई जा रही है। तेजू और तेजप्रताप जैसे पढ़े-लिखे दुचित्ते व्यक्तित्व वाले युवा सब कुछ जानकर भी अकेले, निष्क्रिय, निष्प्रभावी हैं। रेवा कथित दलित और सवर्ण माता-पिता की संतान होकर भी उसे आगे बढ़ाने में लाचार है। पुष्पा जैसी असहाय बलात्कृत और पागल औरतें इस समय बढ़ रही हैं। पीथ्री की तरह सब कुछ जानने वाले थूक फेंककर बात करने और अकेले बुद्धिजीवी भी हमारे आसपास हैं। लाल बुझक्कड़ को अब जनता ने पागल समझ लिया है। जो वामपंथ की राजनीति का प्रतीक चरित्र है और हर किसी के द्वारा हास्यास्पद बना दिया गया है और पीटा जा रहा है। बाइक पर तेज रफ़्तार में घूमते युवा हैं जो रस्ते में चलते हुए अपने फोन पर सनी लिओने ने गणवे (पैर) देख रहे हैं और अफवाह के तंत्र से चुनाव

जीतने वाले भैय्या जी जैसे नेताओं से पैसे लेकर मॉब लिंचिंग का हिस्सा बन रहे हैं।

यह उपन्यास किसी पात्र के प्रति किसी प्रकार का कोई विशेष आग्रह नहीं रखता है। न बुरे के प्रति और न अच्छे दिखने वाले के प्रति। एक प्रकार का तटस्थ भाव उपन्यासकार ने अपना रखा है। कोई पात्र उपन्यासकार का प्रवक्ता भी नहीं है और न ही लेखक ने किसी के प्रति आदर्शवादी रुख अपनाया है। यह बिल्कुल यथार्थवादी कहा जाने वाला उपन्यास है। जिसमें किसी के प्रति नरमी नहीं बरती गई है। इन बातों के अलावा पीथ्री और लाल बुझक्कड़ के वाक्यों में मुक्तिबोध के पागल की तरह का सच भी पढ़ने को मिलेगा। जो समाज का सच है या सच कहने वाले लोग हैं वे अफवाहों या पागलों में बदले जा चुके हैं। पुष्पा के अपहरण के बाद नन्नू बाबा का नाम 'बा...बा' कहना भी सबको 'बाघ' सुनाई देता है। सबको लगता है पुष्पा को कोई बाघ उठाकर ले गया था। न कि नन्नू बाबा ने उसका अपहरण करवाया था। लाल बुझक्कड़ का यह बोलना कि पाकिस्तान के हाल अभी और ख़राब होंगे वे भारत के लिए हैं। लेकिन पागल समझ कोई उसकी चिंता को समझना तो दूर उस पर हँसते और हैं।

इसका मतलब यह नहीं कि इसमें करुणाजनक मार्मिक स्थल ही नहीं हैं। पुष्पा के बेटे को जब सांप काटता है, उस दृश्य में लेखक ने पूरी मार्मिकता रच दी है।

भावुक दृश्य कम हैं। जीवन में दिखने वाला यथार्थ पाठक हर पन्ने पर देख और पढ़ सकता है। भूमंडलीकरण ने राजनीति और अर्थव्यवस्था, पर्यावरण, मानव-स्वभाव को जिन रंगों से रँग दिया है उन्हें उपन्यास के हर पन्ने पर देखा जा सकता है। जीवन के हर हिस्से को मुनाफ़े के चश्मे से ही देखने की नई अर्थव्यवस्था की पहचान इसका सबसे बड़ा सबूत है।

उपन्यास में कहन की तीन तकनीकों या शैलियों का बेहतर अनुपात में उपयोग किया गया है। पहली तकनीक संवाद की आजमाई और कम होती जा रही तकनीक या शैली है। यहाँ पात्रों के बीच में होने वाले संवादों में नाटकीयता सबसे अधिक है। कथा का विकास भले ही धीमे होता है लेकिन उपन्यास के सबसे रोचक हिस्से किस्सागोई और आंचलिक भाषा में बुने गए संवाद ही हैं। अधिकांश पात्रों की संवाद शैली को दूसरे से सहज रूप से भिन्न रखने की कला भी यहाँ आप महसूस करेंगे। दूसरी तकनीक में लेखक पात्रों, घटनाओं या स्थितियों के बारे में किस्सागोई की ही शैली अपनाते हुए बताता है। इस शैली में कहानी जल्दी आगे भी भागती है और रचनाकार कथा के छूटे हुए हिस्सों को जोड़ने का काम भी लेता है। पाठकों में जिज्ञासा बढ़ाना और किसी जिज्ञासा का संवाद या घटना द्वारा समाधान नहीं हो रहा है तो लेखक अपनी इस दूसरी तकनीक से उसका समाधान कर कथा आगे बढ़ाने लगता है। उपन्यास की

शुरुआत इसी दूसरी शैली से होती है। कहन की तीसरी और सबसे कम इस्तेमाल की गई तकनीक में लेखक उपन्यास में आए किसी भाव या विचार या घटना के ऊपर टिप्पणी करता हुआ पाठक को रचना से बाहर ले जाता है। ऐसे स्थल इस उपन्यास में हैं लेकिन बहुत कम हैं। यानी उपन्यास को निबंध होने से फसककार को बचाना आता है। साथ ही यहाँ लेखक को उस धैर्य को धारण करना पड़ता है जिसके अभाव में अनेक उपन्यास काफी खोज और मेहनत से लिखे गए शोध-आलेख की कोटि में आ जाते हैं। राकेश तिवारी 'फसक' उपन्यास को निबन्ध कोटि के उपन्यास-रचना होने से बचाने में पूरी तरह सफल हुए हैं।

(फसक, राकेश तिवारी, वाणी प्रकाशन)

सच्चे समाज की सच्ची कहानी

यशवंत व्यास का अधुनातन उपन्यास कॉमरेड गोडसे अपने शीर्षक को लेकर भले विवाद पैदा करे, लेकिन जिस सामाजिक आर्थिक परिदृश्य को इसमें दिखाया है वह एकमत से आज के उत्तर आधुनिक समाज की ही झांकी है।

आज का समाज घटनाओं के भीतर छिपे आर्थिक - राजनीतिक लाभदायक निहितार्थों को पहले की अपेक्षा ज्यादा जल्दी समझने वाला समाज बन गया है। इसी समाज का सच्चा प्रतिनिधि प्रेम प्रकाश है जो टॉर्च फैक्टरी, धागा फैक्टरी और अखबार चलाने का कार्य एक साथ करता है वह किसी भी अवसर, चाहे वह घटित हो, प्रायोजित को अपने पक्ष में मोड़ने की दुर्दम इच्छा और योग्यता रखता है। वह अपने पिता के मरने पर बहुत निराश हुआ निराश होने का कारण पिता के मरने से जितना संबद्ध नहीं था, उससे ज्यादा मरने के दिन से जुड़ा हुआ था।

श्याम प्रकाश (प्रेम प्रकाश के पिता) की मृत्यु रविवार को हुई सुपुत्र प्रेम प्रकाश बहुत निराश हुआ काश पिताजी सोमवार को मरते सम्मान में सारे बाजार बंद करके दिखाता। रविवार को सब खुद ब खुद बंद था अतः कहा जा सकता

है कि प्रेम प्रकाश के पिता उसे एक ठीक सा चमत्कार करने का मौका भी देकर नहीं गए।

प्रेम प्रकाश चमत्कार प्रेमी व्यक्ति है पिता ने उन्हें चमत्कार दिखाने का अवसर भले ही न दिया हो लेकिन प्यारे मियां की लाश ने उन्हें एक अवसर जरूर दे दिया प्यारे मियां की लाश हिंदुओं की गली में डलवाने का काम प्रेम प्रकाश अपनी चमत्कार वृत्ति के तहत ही करते हैं। इस चमत्कार ने ही शहर में कर्फ्यू लगवा दिया। मजहबी दंगा प्यारे मियां के मरने से शुरू हो गया ये स्कूल में उर्दू के टीचर थे और मजहब को व्यक्तिगत मामला मानने वालों में से थे। यह एक विडम्बना ही कही जाएगी कि प्यारे मियां का मरना एक धार्मिक उन्माद का कारण बन गया। इस सुनियोजित ढंग से आरंभ होने कर्फ्यू में प्रेम प्रकाश वह व्यक्ति थे जिन्हें इस स्थिति में सबसे अधिक लाभ प्राप्त हो रहा था। प्रेम जी की आत्मा में प्रकाश बढ़ता जाता था टॉर्च की फैक्टरी भी दमादम चल रही थी, क्योंकि कर्फ्यू ने भीतरी मांग तेज कर दी थी और अखबार का तो कहना ही क्या आग लगी थी। एक दिन में चार-चार पांच-पांच संस्करण निकालने पड़ रहे थे। कंपटीशन में अखबारों ने एक दूसरे की जान ले रखी थी और सौ बात की एक बात कहें तो मीडिया के इलाके में धंधे का समय था।

प्रेम प्रकाश ने अपनी स्थिति को ऐसे ही अवसरों से महत्त्वपूर्ण बना लिया था। अब वे कलेक्टर की गाड़ी में कर्फ्यू देख सकते थे और होम मिनिस्टर के साथ दंगा प्रभावित बस्तियों की समस्याएं सुन सकते थे गणेश जी की तोंद पर वह बचपन में चिंतित होकर सोचता था कि एक चूहे पर वे कैसे बैठ पाते होंगे? बड़े होने पर उसे समझ में आ गया कि कुछ बातें तर्कों से परे होती हैं। तोंद वाले लोगों का काम चूहों की परवाह करना नहीं है। इसी तोंद वाले वर्ग में प्रेम प्रकाश भी आते हैं जो चूहों के समान निकृष्ट बना दिये गये आम आदमी की परवाह नहीं करते।

इन्हीं प्रेम प्रकाश पर लेखक को रोचक टिप्पणी है। प्रेम प्रकाश... लॉफिंग बुद्धा की तरह हाथ ऊपर करके अंगडाई ली पेट बाहर निकाला और म्यूट टीवी पर नाचती नंगी लड़की और रुपए बिखेरते खलनायक पर हंस पड़े में भी कितना हरामखोर हूँ। प्रेम प्रकाश के जीवन का मूलमंत्र व्यवस्था है। कल से लेकर जूते की पॉलिश तक वह व्यवस्थित ढंग से करता है। बस हरामी वक्त ने उसे हरामीपन का फैन बना दिया था वे संपूर्ण कमीनत्व को सार्थक जीवन की कुंजी मानने वालों में से थे। एक स्वस्थ समाज के लिए मजहबी वैमनस्य विनाशकारी भूमिका निभाता है जिसे टालना और उसकी संभावनाओं को भी खत्म करना मानवीय कार्य है, जो समाज की आयु को बढ़ाता है। लेकिन सत्ता के हित सदैव मानवीय

हो, कहा नहीं जा सकता। उपनिवेशित भारत में ऐसा कई बार हुआ कि और मुसलमानों को उनकी वास्तविक चिंता से दूर करने के उद्देश्य से धार्मिक असहिष्णुता का पाठ पढ़ाया और प्रायोजित ढंग से मजहबी वैमनस्य पैदा किया ऐसा करने के लिए वे मंदिर के पास गोवध करा देते थे और मस्जिद के पास सूअर को मरवाकर डाल देते थे।

आजादी के बाद सत्ता के प्रतिष्ठानों ने भी इस फार्मूले का उपयोग करना सीख लिया इस फार्मूले के साथ दिलचस्प बात यह थी कि पहले जो काम सूअर को काटकर फेंकने पर संभव हो पाता अब वह सुअर के एक ब्रोशर के प्यारे मियां की लाश के पास मिलने (रखने) से ही संभव हो गया।

निष्कर्षों का इतना अमानवीय सरलीकरण उत्तर-आधुनिक समाज की एक पहचान है। यह सरलीकरण कभी राजनीतिक दल करते हैं और कभी सूचना क्षेत्र पर काबिज कुछ स्वार्थी लोग धुन्नेशाह रंगीले जैसे भ्रष्ट व्यक्ति और प्रेम प्रकाश जैसे समाज विरोधी व्यक्ति को उसी की प्रेस में काम करने वाले दो व्यक्ति चिमन चपरासी और कांचवाला कमल किशोर मार देते हैं। दोनों व्यक्ति (चिमन और कमल किशोर) बखूबी जानते हैं कि वर्तमान सामाजिक दुरावस्था का जिम्मेदार कौन है इसलिए वे प्रेम प्रकाश और धुन्नेशाह रंगीले का खून कर देते हैं। अंत में दोनों स्वयं को क्रमशः कॉमरेड और गोडसे घोषित करते हैं। भाषा के

चालू मुहावरे में हमारे वर्तमान समाज में धर्म और संस्कृति की नाजुक शब्दावलियों को बाजारवादी शक्तियों ने अपने पक्ष में मोड़कर कैसे मानव विरोधी कर दिया है। यह पक्ष दिखाना इस उपन्यास की उपलब्धि है। लेकिन प्रेमजी और धुनेशाह जैसे शातिर लोगों को इतनी आसानी से खत्म करवाकर लेखक एक आदर्शवादी निष्कर्ष इस रचना के अंत में रख देते हैं। रचनाकार का यह कदम बहुत औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता।

और अंत में एक बात और धुन्नेशाह रंगीले जैसे भ्रष्ट व्यक्ति का एक सिद्धांतवादी जुझारु न्यूज रिपोर्टर कमल किशोर, खून कर देता है क्योंकि वह मजहबी वैमनस्य पैदा कर दंगा फैलाने वाले व्यक्ति प्रेम प्रकाश से मिल गया था लेकिन सवाल है कि इस घटना में गोडसे, जो कि एक व्यक्ति का नाम कमल किशोर को क्यों दिया गया। शाह रंगीले में महात्मा गांधी को अप्रत्यक्ष रूप से आरोपित कर लेखक अपने किस निष्कर्ष को यहां थोपने का प्रयास कर रहा है ? क्या लेखक अपने इस साहसिक शीर्षक से लाभ नहीं पाना चाहता ? या इसका कोई और निहितार्थ भी उसके पास है?

(कॉमरेड गोडसे, यशवंत व्यास, फूल सर्कल प्रकाशन)

इतिहास, अन्याय, साहित्य

उपन्यास धर्मस्थल न्याय व्यवस्था और सत्य के विडंबनाग्रस्त स्वरूप पर केंद्रित है। यह प्रियवंद का चौथा उपन्यास है। इससे पहले पाठक उनके तीन उपन्यास वे 'वहां कैद हैं','परछाई नाच' और 'छुट्टी के दिन का कोरस' के साथ-साथ तीन कहानी संग्रह और इतिहास से संबंधित विषयों पर लिखीं दो पुस्तकों से परिचित हो चुके हैं। हम जिस न्यायप्रणाली में रह रहे हैं उसका बहुलांश औपनिवेशिक शासन द्वारा प्रदत्त है। प्रियंवद इस उपन्यास में उसकी आरंभिक और बुनियादी विसंगतियों को रचनात्मक रूप से सामने लाने का प्रयास करते हैं। वे रचना में किसी एक सत्य, नैतिकता, न्याय, व्यवस्था को अंतिम नहीं मानते बल्कि इनके स्वरूप में आने वाले बदलावों गड़बड़ियों को बेहतर ढंग से पहचानते हैं। वे संदेह के भीतर से जन्म लेने वाले सच को तो प्रमुखता देते हैं लेकिन किसी 'एब्सोल्यूट' सत्य को मान्यता नहीं देते। वे इतिहासविद् साहित्यकार हैं, विसंगति के मूल में जाते हुए वे 1775 में दिए गए पहले ऐतिहासिक निर्णय को रचना में पिरोते हैं। इस खोज में वे औपनिवेशिक शासन के समय में 5 अगस्त, 1775 को नंदकुमार को मिली फांसी को सबसे पहला और झूठ पर टिका मुकदमा बताते हैं।

प्रियंवद अपने रचनाकार रूप में जब ऐसी जानकारियां इतने तथ्यात्मक रूप में सामने लाते हैं तो वह उपन्यास की बजाए शोध लेख का हिस्सा लगने लगता है। इस उपन्यास का केंद्रीय विषय न्याय व्यवस्था और रचना के सच को

जानना है। कामिल और उसके सर्जक पिता इसके केंद्रीय चरित्र कहे जा सकते हैं। कामिल इस उपन्यास के कथावाचक का मित्र और कथानायक है। वह अपने शिल्पी रचनाकार पिता का संवेदनशील पुत्र है। एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार जिसमें मां, पिता और भाई का परिवार है। कामिल अपने दोस्त विजन के साथ धर्मस्थल में घूमता है। धर्मस्थल शब्द व्यंग्यात्मक है। इसे प्रियंवद न्यायालय के न्याय विरोधी आचरण के लिए प्रयोग में लाते हैं। पिता रात भर जागकर कला की साधना करते हैं।

कामिल परिवार की स्थितियों के चलते पढ़ाई पर ज्यादा ध्यान न देकर टाइपिंग सीखता है। बाद में वकीलों के यहां टाइप करने का काम करने लगता है। कानून और न्याय व्यवस्था को जानता चलता है। कचहरी में काम करने वाले आनंद स्वरूप के लिए काम करता है। उनकी बेटी दाक्षायणी से वह प्रेम करने लगता है। बाद में कामिल से विमुख होकर वह मादल पर अनुरक्त हो जाती है। कामिल एक झूठे मुकदमे में जेल चला जाता है, पर उसका स्थितियों के प्रति लगातार आत्मसमर्पण करते जाना खटकता है।

धर्मस्थल प्रियवंद के पिछले उपन्यास छुट्टी के दिन का कोरस से काफी छोटा और सुगठित है। भाषा में पठनीयता है लेकिन वाक्य संरचना जान बूझकर कहीं-कहीं ऐसी बनाई गई है जो प्रवाह को बाधित करती है। मसलन वाक्यों में

सर्वनाम को एकाधिक बार अंत में दिया गया है। ऐसी स्थितियां कथा-रस को भंग करती है। खैर विषय ऐसा है जो हमारी आपकी जिंदगी से जुड़ता भी है और उस पर कभी-कभी प्रभाव भी डालता है। पर वर्ग-विभक्त विषमताग्रस्त, समाज में न्याय व्यवस्था के वर्गीय चरित्र की ओर प्रियंवद कोई संकेत नहीं करते।

इस तरह के कथ्यों के लिए जिस रचना माहौल की जरूरत होती है, उसे प्रियंवद बड़ी सावधानी से बुनते हैं, पात्रों का अकेला होना, दार्शनिक मनस्थिति से घटनाओं पर प्रतिक्रिया करना, घर और आसपास की निस्संगता, भुतहा माहौल, अजीब दिनचर्याएं, आदतें बातचीत के जीवन-निरपेक्ष विषय सब कुछ को प्रियंवद रचना में शामिल करते हैं। कई बार पाठक को लगने लगता है कि यह ठहरा हुआ उदास, निस्संग जीवन ही तो कहीं रचना का कथ्य नहीं है, फिर उसमें मृत्यु कब्रिस्तान, जेल, पुरानी बेतरतीब स्मृतियां, तर्कातीत आदतें सेक्स जीवन से बेरुखी का भाव सब कुछ चेतना प्रवाह शैली में आता चलता है। इतिहास और स्मृतियां निर्जीव रूप में कथित चित्रित दिखती हैं।

प्रियंवद इतिहास से तथ्यों को लाकर दिखाते हैं कि कैसे न्याय व्यवस्था में शुरू से ही छद्मन्याय के रूप में अन्याय होता रहा है। वर्तमान स्थितियों में वे कामिल के उदाहरण के अलावा न्याय व्यवस्था की अमानवीयता से पाठकों को अवगत जरूर कराते हैं, पर संवेदित नहीं कर पाते।

(धर्मस्थल, प्रियंवद, अंतिका प्रकाशन)

अकेलेपन की पीड़ा

नए बनते या कहें बिगड़ते समाज से निरंतर अकेले टकराते व्यक्ति के निरंतर अकेले पड़ते जाने की दास्तान है ज्ञानप्रकाश विवेक का उपन्यास चाय का दूसरा कप चाय का पहला कप देवदत्त अपने सामने रखते हैं और दूसरा कप अपने पुत्र केतन की अनुपस्थिति के सामने चाय का दूसरा कप तो है, लेकिन उसे पीने

वाला दृश्य से बाहर हो गया है। उसका इंतजार है। इंतजार की ताकीद करता चाय का दूसरा कप है। लेकिन यह इंतजार अंत तक बना रहता है।

यह इंतजार और अकेलापन तभी तक काटने दौड़ता है जब तक यह माना जाए कि हम अकेले हैं जब इस भाव से मुक्ति मिलती है तो यातना भी संभवतः समाप्त या कम होने लगती है। उपन्यास के अंत में ज्ञानप्रकाश विवेक देवदत्त को अकेलेपन की गुफा से निकलने का यही रास्ता दिखाते नजर आते हैं।

उपन्यास की कथा यह है कि देवदत्त नाम के व्यक्ति का बेटा केतन अचानक गायब हो जाता है। वह स्कूल जाता है, लेकिन लौट कर वापस नहीं आता। कहां गया? किसी को भी पता नहीं। सभी देवदत्त की स्थिति को समझते हैं, सहानुभूति संवेदना भी जताते हैं। लेकिन सबके अपने दुख है। दुख न सही, अपनी जिंदगी है। ऐसी जिंदगी, जो हमें लगातार दूसरों से काट रही है। निस्संग बना रही है। यह निस्संगता कमोबेश इस क्षीणकाय कथावस्तु वाले उपन्यास के हर पात्र में सहज सुलभ है। यानी यह हमारे परिवेश को परिभाषित कर रही है।

देवदत्त अकेले ही डलहौजी बन्नीखेत घूमने जाते हैं। भावी पत्नी कल्याणी से जब पहली बार मिले तो वह भी अकेली थी। वह विधवा थी और मां के साथ रहती थी। अब देवदत्त खोए हुए से यह सब याद कर रहे हैं। बेटे केतन को जन्म

देने के कुछ ही साल बाद ब्रेन हैमरेज से कल्याणी मर जाती है। देवदत लगभग फिर अकेले हो जाते हैं।

इस छोटे उपन्यास का हर पात्र किसी न किसी रूप मैं अकेला है। यह चाहे देवदत्त की सहकर्मी अनुमेहा हो या एसएचसी रणजीत सिंह या प्रिंसिपल सभी मिल कर इस अकेलेपन के सन्नाटे को कम करने की कोशिश भी करते हैं। यह बातचीत हर बार समाज की ओर मुंह करके नहीं की जा रही होती है यहां। बल्कि कई बार इसका दार्शनिकीकरण भी रचनाकार ने किया है, जो इस यातना के प्रभाव की संगति में नहीं लगता है।

केतन बारहवीं का छात्र था। पिता के लिए पुत्र भी, मित्र भी। संबंध बेहद आत्मीय और अनौपचारिक। अब उन अच्छे दिनों की स्मृतियां ही देवदत्त के पास रह गई हैं। इन स्मृतियों में घटनाएं कम, शब्द-व्यापार अधिक बात को कहने के लिए मालोपमा अलंकार की तरह शब्दों उपमानों की लड़ियां भी लगा दी गई हैं। शब्दों की बाजीगरी हर जगह देखने को मिलती है। कई स्थितियां और घटनाएं अचानक सामने आती हैं। स्थितियां वर्णित होती हैं, लेकिन उनकी पृष्ठभूमि अदृश्य बन कर रह गई है। कल्याणी से मुलाकात बिल्कुल अचानक होती है। उसका जाना भी अचानक ही है। केतन का लापता होना भी उसी कड़ी में घटित

होता है। एक दिन साथ में काम करने वाली मित्र अनुमेहा अचानक घर आ जाती है।

तर्क से परे जाते अपने वर्तमान समय-समाज की स्वीकृति या संगति में ही रचनाकार ने इन घटनाओं को इस रूप में रचा है। समाज की तर्कहीनता रचना में आ गई है। यह प्रवृत्ति उपन्यास के अंत तक मिलती है। केतन तो लौट कर नहीं आता, लेकिन उसके अभाव से उपजी यातना बार-बार समाज से टकरा कर भिन्न रूप ले लेती है। घटना यह भी अचानक ही घटित होती है। मतलब बिना किसी पूर्वापर संबंध के ज्ञानप्रकाश विवेक के ही शब्दों में यह घटना है अचानक एक छोटे से बच्चे ने उनकी देवदत्त की पतलून को पकड़ लिया है। एक प्यारा-सा शब्द बड़ी मासूम आवाज में कहा उसने 'पापा'... देवदत्त ने लगभग छह महीने बाद सुना है यह शब्द- पापा यह संबोधन है या सम्मोहन। नन्हा सा बच्चा अपने संसार के साथ आया है। देवदत्त उसके संसार में गुम हो गए हैं। सब कुछ भूल गए हो जैसे।'

यह भूलना उस यातना की तीव्रता को चिटका देता है। देवदत्त इस घटना में एक अर्थ पा जाते हैं -'क्यों देवदत्त, एक मासूम सा बच्चा अगर तुम्हारी पतलून पकड़ कर तुम्हें पापा कह सकता है तो क्या तुम सब बच्चों में केतन को नहीं ढूंढ सकते ? यह कहना जितना आसान है, करना उतना ही मुश्किल मुश्किल है,

लेकिन जरूरी भी। यह जरूरी देवदत्त के लिए भी है और ऐसी ही निस्संग परिस्थिति में जी रहे बाकी समाज के लिए भी।

पूरा उपन्यास पढ़ कर लगता है कि इसे एक कहानी होना चाहिए था कहानी में यह सब कुछ बहुत थोड़े में कहा जाता तो शायद ज्यादा मारक होता। व्यर्थ की शब्द-क्रीड़ा ने इस कथ्य को फुलाने में बिल्कुल सकारात्मक भूमिका नहीं निभाई है। शब्द-मोह और शब्दों की बाजीगरी के चलते शिथिलता भी आने लगती है। एक कहानी भर के विषय को उपन्यास बना देने में लेखक की महत्त्वाकांक्षा के साथ-साथ इस समय सबसे ज्यादा सक्रिय बाजार की शक्तियां भी कारण रूप में उत्तरदायी हो सकती हैं।

लेकिन जिस परिस्थिति या कथ्य को यहां उपन्यास में वर्णित चित्रित किया गया है उसकी सत्यता पर बिल्कुल संदेह नहीं किया जा सकता। ऐसे अचानक लापता होने वाले बच्चों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। देवदत्त जैसे पीछे रह गए अकेले लोगों का अकेलापन भी इस गति से बढ़ता जा रहा है। ज्ञानप्रकाश विवेक ने जो भाषा अर्जित की है यह उबाऊ नहीं है। हां, संवादों में एकसापन जरूर दिखता है। एक ही व्यक्ति दो बातें कह रहा है या दो लोग आपस में बात कर रहे हैं, यह भाषा से, कथन - भंगिमा से बहुधा स्पष्ट नहीं होता।

(चाय का दूसरा कप, ज्ञानप्रकाश विवेक, हार्परकॉलिन्स पब्लिशर्स इंडिया)

समय के बे-समय होने की क्रूर कथा

'क्षमा करो हे वत्स' और 'शहर कोतवाल की कविता' जैसी मकबूल कहानियों के ठीक बीस बरस बाद कहानीकार देवेन्द्र का यह दूसरा कहानी -संग्रह पाठकों के सामने है। दो दशक के अंतराल के बाद वे अपने पाठकों को छह कहानियाँ दे रहे हैं। इस तरह से देखें तो काफी संकोची और ठहरकर लिखने वाले कहानीकार हैं देवेंद्र।

कहानी में आदर्श और यथार्थ की बहस पुरानी है। अपने जन्म के समय कहानी का झुकाव भले ही आदर्श की ओर रहा हो लेकिन अब वह दिनोंदिन यथार्थ की खुरदरी जमीन पर चलने लगी है। इस शब्दावली में कहें तो समीक्ष्य कहानीकार को यथार्थवादी स्कूल से संबद्ध मान सकते हैं। वे अपने पाठकों को किसी आदर्शवाद के धोखे में नहीं रखना चाहते। समाज जिस तरह से बदल रहा है, निर्मम होता जा रहा है, कहानी में यथार्थ भी उसी अनुपात में चोटिल करने वाला

हुआ है। इस संग्रह की कहानियाँ इसी चोटिल करने वाले यथार्थ को चित्रित करती हैं।

संग्रह की कमोबेश सभी कहानियाँ पाठक को तादात्म्य और आदर्श पात्र से जुड़ने की छूट नहीं देतीं। इस लिहाज से ये कहानियाँ व्याख्या का भी संकट पैदा करती हैं। व्याख्या का यह संकट बहुधा उन लेखकों के यहाँ घटित होता है जहाँ कथा-वस्तु गूढ़ अथवा वायवीय हो। लेकिन देवेंद्र कहानी को गूढ़ और वायवीय नहीं बनाते हैं। वे कथा-वस्तु का संयोजन, पात्रों का विन्यास इस रूप में करते हैं जो कहानी को एकरैखिक अथवा सरल नहीं रहने देता। वे सपाट अर्थों वाली कहानियों के रचनाकार नहीं हैं। कहानी पढ़ते हुए पाठक कहानी के जिस पात्र से अपनी निकटता बनाता है कहानीकार उस पात्र की इसी 'पात्रता' को खंडित कर देते हैं। वे पात्रों के प्रति उस अर्थ में निर्मम नहीं हैं जिस अर्थ में उदय प्रकाश हैं, बल्कि वे पात्रों के महिमा मंडन के सजग विरोधी रचनाकार हैं। इसीलिए पाठक अपने मनोनुकूल पात्र से जुड़ने की असफल कोशिश इन कहानियों में करता है।

कहानीकार मृत्यु, प्रेम, हत्या, आस्था, व्यवस्था आदि विषयों पर सोचने के तरीके को भी प्रश्नांकित करता है। जैसा सोचा जाता रहा है उसमें एक दरार डालना भी इन कहानियों का प्रयोजन है। इसी कारण पाठक कहानी के अंत में

एक झटका महसूस करता है। यह झटका या चोट पूर्वनिर्मित आदर्श अथवा व्यवहार प्रणाली पर पड़ती है।

ये कहानियाँ उन स्थलों पर चुपचाप पहुंचा देती हैं जहाँ हम अपनी इच्छा से तो कतई नहीं जाना चाहते हैं। जैसे वैधव्य के बाद पत्नी का पहला दिन कैसा होता होगा? जिन जवाबों को हम और आप जानते हैं या देख-सुन चुके होंगे उन जवाबों से बिल्कुल अलग जीवन और जवाब 'एक खाली दिन' कहानी में सत्तो के जीवन में मिलता है। हर जीवन अपने में विशिष्ट है। हर किसी की अपनी कहानी होती है। बेहद निजी और विशिष्ट। सत्तो के भाई ने उसकी शादी जबरदस्ती कहीं और करवा दी है। सत्तो प्रेम शांतनु से करती थी। प्रेम किसी और से हुआ और विवाह किसी और से करना पड़ा। उसने शांतनु और उसके साथ अपने प्रेम को शादी के बाद 'भुला' दिया। वर्तमान को स्वीकार कर लिया। लेकिन जल्दी ही वर्तमान भी भूतकाल में समां गया और भूतकाल वर्तमान में उपस्थित हो आया। पति की मृत्यु जिस शहर में हुई वह शांतनु का शहर था। वह पति केशव को अकेले अस्पताल से श्मशान ले आई। यहाँ अभी भाई और मां नहीं पहुंचे हैं। और उसे राख मिलने का इंतजार रात बारह बजे तक करना है। ऐसे में शांतनु से मिल आने का विचार मन में आता है। यह सत्तो के वैधव्य का पहला दिन है। जबरन हुई शादी और पति के मृत्यु के बाद ऐसे विचार का आना

अस्वाभाविक तो नहीं है! लेकिन शांतनु से मिलकर जो भाव मन में आया होगा वह पुनः अस्त हो गया। शांतनु से मिलने पर प्रफुल्लता का अभाव उसने महसूस किया।

मनुष्य के जीवन की ही नहीं मनुष्य के मन की निर्मम चीर-फाड़ करती हैं ये कहानियाँ। मनुष्य के मन में क्या कुछ किस रूप में छिपा हुआ है वह विशिष्ट परिस्थितियों में ही बाहर आ पाता है। ये कहानियाँ उन विशिष्ट परिस्थितियों की सर्जना करती हैं। उन्हें रचते हुए कई बार ये काल्पनिक और असत्य भी लगने लगती हैं लेकिन हैं ये ठेठ मनुष्य जीवन की कहानियाँ। ऐसे स्थलों पर कहानीकार भाषा को खिलंदड़ी बनाकर उसे असंभव-सत्य अथवा फ़ैंटेसी जैसे रूप में प्रस्तुत कर देता है।

कुछ कहानियों का एक बड़ा हिस्सा समाज की ओर उन्मुख है और कुछ का व्यक्ति और उसके मन के पोर-पोर को खोलता हुआ। जीवन का उल्लास इन कहानियों में लगभग नहीं के बराबर है। अगर है भी तो उसकी परिणति दुखद होती है। उच्चाटन का भाव पात्रों पर तैरता रहता है। सत्तो जिससे प्रेम करती है उससे उसकी शादी नहीं हो पाती। जबरन कहीं और शादी कर दी जाती है। पति की मृत्यु के बाद पूर्व प्रेमी शांतनु से मिलने की इच्छा मन में जगती जरूर है लेकिन मिलने पर उसकी उचाट अवस्था शांतनु से वांछित व्यवहार न पाकर

उचटी ही रहती है। और वह बिना बताए रात में ही उस प्रेमी के घर से निकल आती है, जिससे एक भेंट न जाने कब से मन में थी। जीवन किसी भी रूप में यहाँ देर तक मौजूद नहीं रहता है। मृत्यु की गंध, उसकी उकताहट सत्तो को परेशान करती है। पति के मरने के बाद वह जीवन की ओर जाती है। वह अपने वैधव्य के पहले दिन को रोने-धोने में नहीं बिताकर अपनी इच्छा का भोजन, आराम और पूर्व प्रेमी संग बिताना चाहती है।

शांतनु सत्तो से मिलता है तो वहां किसी प्रकार का कोई समभाव मौजूद नहीं दिखता। वहां मिलती है भयानक और अलंघ्य तटस्थता। इसे सत्तो पार नहीं कर सकती। और वह वापस लौट पड़ती है श्मशान की ओर। पति की लाश जल चुकी होगी उसकी राख लाने के लिए। जीवन से मृत्यु और मृत्यु से जीवन की ओर झूलते भाव-बोध की कहानी है 'एक खाली दिन'।

सत्तो से शांतनु एक प्रश्न करता है-अगर तुम मुझे बताकर शादी करने गई होती तो मेरे लिए ज्यादा सहज होता।' लेकिन सत्तो की शादी जिन जबरन स्थितियों में हुई थी, उसमें वह कैसे शांतनु को बताती? सत्तो ने यह सच भी शांतनु की तटस्थता के कारण बताना बेमानी समझा। शांतनु को अपना वर्तमान सच बताना भी उसे ऐसा लगा कि कहीं वह सोचेगा कि मैं अपने मतलब से आयी हूँ। इस स्थिति को दुर्लंघ्य देखकर सत्तो लौट जाती है। सत्तो भी कहानी की अन्य

स्वाभिमानी प्रेमिकाओं की भांति है। वह पूर्व प्रेमी की उदासीनता के आगे झुकने और वहाँ ठहरने के लिए तैयार नहीं है। इन पात्रों में जीवन के प्रति एक खास तरह का उचाटपन भी इस बहिर्गमन का कारण हो सकता है।

'रंगमंच पर थोड़ा रुककर' कहानी में सुव्रत अपनी प्रेमिका से धोखा खाकर जीवन की ओर पीठकर बैठ गया है। अब मृत्यु और जीवन यहाँ भी मौजूद हैं। सुव्रत को कहीं निर्जन में एक बंद घर में दो पेशेवर हत्यारे गोली मार देते हैं। सुव्रत अपने हत्यारों के तिल-तिलकर मरने की व्यवस्था भी अपने मरने के साथ कर देता है। वह ऐसा घर है जिसे रिमोट से पूरा बंद किया जा सकता है। अब वह रिमोट से ही दोबारा खुल सकता है। सुव्रत ने उन दो पेशेवर हत्यारों को अपने साथ तड़प-तड़पकर मरने के लिए मजबूर कर दिया है। जिस स्थान पर वह घर है उस गाँव के लोग उन हत्यारों के मृत्यु के प्रत्यक्षदर्शी बनने का 'परपीड़क सुख' लेते हैं। इसकी सजा किसे मिले तो एक बुढ़िया को न्यायपालिका इसकी सजा देती है। उसने सबसे पहले इन दोनों को उस मृत्यु-घर में देखा और बाहर निकालने की कोई कोशिश नहीं की। इसलिए उसे मृत्युदंड दिया गया।

इस कहानी में सुव्रत समेत दो हत्यारे और बुढ़िया को मिलाकर कुल चार लोग मरते हैं। इनमें से सुव्रत को मारने वाले उसके बारे में कुछ नहीं जानते थे, बस उन्हें मारने के बदले पैसा मिलता है, इसलिए मार दिया। सुव्रत अपने हत्यारों से यह

जानना चाहता है कि आप लोग कौन हैं? मुझे कैसे जानते हो? क्यों और किसके कहने पर मारना चाहते हो? उसके बाद ही वह दरवाजा खुलेगा जो अब हमेशा के लिए बंद हो चुका है। उसे सुव्रत ही खोल सकता है। गोली लगने के तुरंत बाद वह नहीं मरता है, उसकी जान उस घाव से होती है जो गोली लगने पर उसको हुआ था। वे दोनों सुव्रत को अपने सामने मरता देखते हैं, बाद में सुव्रत की सड़ती लाश की बदबू झेलते, भूखे-प्यासे तिलतिलकर खुद भी वे दोनों हत्यारे मरते हैं। इनकी हत्या करने वाला सुव्रत भी इनके बारे में कुछ नहीं जानता था। इसी तरह से उस बुढ़िया की व्यवस्था ने अपने निर्णय द्वारा 'हत्या' कर दी।

हत्या की तर्कहीनता को इस कहानी में दिखाया गया है। व्यक्ति द्वारा हत्या हो या सरकार द्वारा उसे कहानी में तर्कहीन दिखाया गया है। पैसा, बदला, न्याय कुछ भी इन हत्यायों के कारण नहीं हैं। हत्यारों को पैसा चाहिए था, सुव्रत को बदला और व्यवस्था को न्याय। इन तीनों ही शब्दों को यहाँ बेमानी होते दिखाया गया है। हत्यारों को पैसा नहीं मिला, सुव्रत ही मर गया तो बदला क्या रहा, बुढ़िया ने किसे मारा जो उसे मृत्युदंड देकर न्याय किया गया?

कहानी एक बहुत बड़े प्रश्न से टकराती है। पूरे विश्व में हत्याएं और उनके कारणों? को इस कहानी के साथ रखकर पढ़ें तो लगता है यह कहानी हत्या की तर्कहीनता को दिखाती ही नहीं उसका दंश भी पाठक-मन में डाल देती है।

इसी तरह हत्या की तर्कहीन स्थिति को सामने लाने वाली एक और कहानी है- 'समय बे-समय'। यहाँ बेरोजगार विश्वम्भर अपने पिता की हत्या करने का विचार करता है। डरकर यह विचार छोड़ भी देता है। पिता के रिटायर होने से पहले अगर वे मर या मार दिये जाते हैं तो बेरोजगार विश्वम्भर को नौकरी मिल जाएगी। लेकिन हत्या का विचार ही उसे असहज और भयभीत कर जाता है। वह इसे दूर करने के लिए हत्यारों से मिलता है। उनसे बात कर उनके डर के बारे में जानना चाहता है। लेकिन इससे भी उसका डर दूर नहीं होता। आगे चलकर यही विश्वम्भर एक थानेदार की हत्या कर 'आराम' से घूमता है। विशेष स्थिति में वह हत्यारा बन जाता है। थानेदार उसे मारता इससे बचने के लिए उसने थानेदार को ही मार दिया और वहां से फरार भी हो गया। ऐसा करते हुए किसी ने उसे देखा भी नहीं। किसी ने देखा नहीं इस स्थिति ने उसे निडर बना दिया। उसके अलावा अब कोई नहीं जानता है कि थानेदार की हत्या उसने की है। यहाँ भी लेखक जीवन सत्य को किसी तर्क से नहीं तर्कहीनता के आवरण में प्रस्तुत कर रहा है। तर्कहीनता में भी तर्क किसी न किसी रूप में रहता ही है।

"जिंदगी की गुत्थियां बहुत सोचने-विचारने से ही सुलझती हों, यह कतई जरूरी नहीं। हंसी, मजाक, उपहास और छेड़छाड़ में कही गयी बातें भी कब, किस तरह और कैसे जीवन का दिशा निर्देश करने लगें-हम जान नहीं पाते।" लेखक द्वारा

कही गई यह बात सिर्फ 'समय बे-समय' कहानी में अंतर्भूत सत्य तक ही सीमित न होकर उनकी सभी कहानियों में आए जीवन-दर्शन को बयां करती है।

जिस समय में हम जी रहे हैं वह हिंसक समय है। हिंसा एक वास्तविकता बन गई है। जैसे सुबह-शाम होती है, उतनी ही सहज रूप में हिंसा सर्वव्यापी हो गई है। इन कहानियों में भी हिंसा को इसी रूप में चित्रित किया गया है। पढ़ाई कर अपनी जिंदगी खराब कर लेने वाले बेरोजगार हत्या करने की हिम्मत बटोरते विश्वम्भर से गांव के लड़के चुहल करते हुए कहते हैं- "विश्वम्भर भाई, मार डालो अपने बाप को, वरना दो साल में रिटायर हो जाएंगे तो कभी नौकरी नहीं पाओगे।' बेरोजगारी जनित निर्ममता को प्रकट करने वाली कहानियाँ भूमंडलीकरण के दौर की विशेष देन हैं। उमाशंकर चौधरी की कहानी 'अयोध्याबाबू सनक गए हैं' को भी इसी संदर्भ में देखा जा सकता है। यहाँ मार डालने की क्रिया का कितना स्वाभाविक प्रयोग किया जा रहा है, जैसे खाना खाना या पानी पीना। इस हिंसक समय में जो मार डालने की शक्ति नहीं अर्जित कर पा रहा है, वह मरने के लिए अभिशप्त और प्रस्तुत है। न्याय व्यवस्था कैसे इस समय को बदतर बनाए हुए है, इसे भी इन कहानियों में दिखाया गया है। यथार्थ की तीव्रता यहाँ इतनी अधिक है कि उसे अभिधा में नहीं कहा जा सकता। अभिधा में कथ्य पूर्णता से व्यंजित नहीं हो पा रहा है। कथाकार इस कारण व्यंग्य का सहारा लेता है। समय की

सच्चाई अतिशयोक्ति में प्रकट हो रही है। अतिशयोक्ति वास्तविकता में रूपांतरित हो गई है। विश्वम्भर ने एक वकील से पूछा कि वह कानून को देखना चाहता है तो उसने अन्याय को बरकरार रखने की व्यवस्था दिखा दी- "वकील ने सामने तख्त पर बैठे एक बीस-बाइस साल के लड़के की ओर इशारा किया जो इत्मीनान से बैठा न होता। वाकई बहुत भयानक होता तब, जब पुलिस, कानून, अदालतें और जेलें न होतीं। वह लोग यकीनन इसे मार डालते।' 'वकील बता रहा था, "लेकिन अब वह लोग इसे मारने के बदले अदालतों का चक्कर मारते हैं।' भारतीय न्याय व्यवस्था के विद्रूपतम हो चुके चेहरे को बिना किसी आदर्शीकरण के यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इन कहानियों में व्यवस्था बनाम मनुष्य की लड़ाई भी चलती दिखती है। व्यवस्था कहीं ज्यादा शक्तिशाली और निर्मम है। वह मनुष्य के सामाजिक और वैयक्तिक सभी जीवन-रूपों को अपने अनुसार बदलती और प्रभावित करती है। व्यवस्था चाहे न्याय व्यवस्था की हो या परिवार व्यवस्था की। मनुष्य भी इन कहानियों में बहुत कम शक्ति रखते हुए भी इस मनुष्य-विरोधी व्यवस्था को अपने पैरों तले रौंदने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया में कई बार व्यवस्था के साथ-साथ कुछ चोटें आस-पास के मनुष्यों को भी अनायास आ जाती हैं। 'एक खंडित प्रेमकथा' में सेठानी व्यवस्था की अधीनता को अस्वीकार करती बेजोड़ स्त्री चरित्र है।

सेठानी का नाम निरुपमा है। वह सेठ मनोहरलाल की बेटी की हमउम्र और उनकी तीसरी पत्नी है। ‘सपने के भीतर’ और ‘एक खाली दिन’ की तरह ही इस कहानी में भी क्रूर और धोखेबाज भाई ने अपनी बहन की जबरन शादी करवा दी। शादी के समय उम्र पैंतीस और दूसरी शादी ही बताई गई थी। निरुपमा उर्फ सेठानी समाज-व्यवस्था, भाई, गरीबी, बेमेल विवाह सबकी चोट सहती है। और अपनी तरह से इस व्यवस्था को उसकी हैसियत दिखाती है। सेठ के नौकर निरंजन से वह ‘प्रेम’ करती है। सेठानी निरंजन के बच्चे की माँ बनती है। पुरुषसत्तामक समाज से अपना प्राप्य वह इसी तरह से वसूलती है। जब निरंजन उस पर अधिकार भाव जमाता है तो उसे भी उसकी हैसियत दिखा देती है। अपने कथित मौसेरे भाई श्यामल को भी निरंजन की स्थिति में लाने में उसे बिलकुल भी देर या झिझक नहीं होगी। ऐसा वह जता भी देती है। यह वृतांत सेठानी को क्रूर दिखाता जरूर है। लेकिन व्यवस्था ने उसके साथ जो क्रूरता की है वही क्रूरता वह व्यवस्था और उसकी चपेट में आने वालों से कर रही है।

इन कहानियों में सफल प्रेम कहीं भी नहीं दिखाया गया है। किसी तरह की आशावादी-आदर्शवादी स्थिति को कहानीकार प्रस्तुत करने से बचता है। ऐसा नहीं है कि समाज में प्रेम की सफलता का ग्राफ शून्य पर आ गया है लेकिन चूंकि असफलता अधिक और सर्वव्यापी दिखती है इसलिए कहानीकार का बल

यथार्थ के कटु पक्ष की ओर अधिक है। जीवन और मनुष्य का आदर्शीकरण यहाँ लगभग नहीं मिलेगा। अगर कहीं कोई पात्र ऐसा करता हुआ दिखता भी है तो कहानीकार उसे यथार्थ की खुरदरी जमीन पर ला पटकता है। ऐसा होना इतना अनायास और अकृत्रिम ढंग से सावधानीपूर्वक किया जाता है कि पाठक को यकीन भी नहीं होता और उसके संभावित आदर्श-पात्र का दर्दनाक अंत कहानीकार बड़े कौशल से कर देता है। कहीं भीतर से आदर्शों को टूटते देखकर कहानीकार पाठक को अब किसी धोखे में नहीं रखने का फैसला कर चुका है। इसी का परिणाम है कि इन कहानियों की परिणति प्रायः दुखांतक है।

इसी तरह की आदर्श के टूटने की कहानी 'नालंदा पर गिद्ध' कहानी भी है। शिक्षा व्यवस्था भी उसी आदर्श का एक हिस्सा है। आचार्य चूड़ामणि सभी दोषों से सम्पन्न महाधीश और चलता-फिरता रोजगार कार्यालय हैं। उनका आशीर्वाद किसी का भी जीवन बनाने की क्षमता रखता है। इन्हीं आचार्य चूड़ामणि को सुबोध मिसिर अपना आदर्श और सम्मान का आलंबन बना लेता है। कहानी देश की शिक्षा व्यवस्था, उसकी चाल-कुचाल, बेरोजगारी और इसी 'आदर्श' के टूटने की कथा कहती है। कहानी के देशकाल से जुड़े पाठक इसमें आए पात्रों को भलीभांति जानते भी होंगे। इस कहानी को पढ़कर खासतौर से इसके निर्मम अंत को पढ़कर पाठकों को खल-सुख की अनुभूति भी होती है।

कहानियों की भाषा इस तरह की है कि इनमें अभिनेयता का गुण भी आ गया है। इनमें से अधिकांश कहानियों में नाटकीयता इस कदर है कि उनका कुशलता से मंचन भी किया जा सकता है। घटनाओं का वर्णन नहीं चित्रण किया गया है। यह बात ‘रंगमंच पर थोड़ा रुककर’, ‘एक खंडित प्रेमकथा’ और ‘नालंदा पर गिद्ध’ कहानियों को ज्यादा ध्यान में रखकर कही जा रही है। संवादों में कहीं भी बनावटीपन या भाषाई कृत्रिमता की बू नहीं मिलती है। जैसा हम आप बोलते-सुनते हैं, वैसा ही यहाँ पर पात्र आपस में बोलते-बतियाते हैं। जहाँ जैसे शब्दों की जरूरत हुई, भाषा भी उसी भाव के अनुसार बदल रही है।

(समय बेसमय, देवेन्द्र, ज्ञानपीठ प्रकाशन)

सामान्य में विशेष की ध्वनि

यह अरुण कुमार ‘असफल’ की पांच यः कहानियों का संग्रह है। उनका दूसरा कहानी संग्रह। इसमें शहरी कस्बाई मध्यवर्गीय और निम्न मध्यवर्गीय जीवन के सामान्य हिस्सों को कहानियों की शक्ल में उकेरा गया है। पुरानी कमीजें और पांच का सिक्का कहानी में निम्नवर्गीय जीवन अपने गैर-रोमांटिक अंदाज में उपस्थित है। ये कहानियाँ सामान्य स्थितियों से ही विशेष अर्थ को ध्वनित करने की क्षमता और साहस रखती हैं।

संग्रह की पहली कहानी कंडम बाकी चारों कहानियों से लंबी और प्लॉट के चयन के नजरिए से विशिष्ट है। बीते दो दशकों में भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था में ही ताबड़तोड़ परिवर्तन नहीं हुए हैं बल्कि व्यक्ति के बेहद निजी जीवन, सोच विचार और संबंध व्यवस्था में भी काफी कुछ अकल्पनीय अवांछित घटित हुआ है, यह कहानी एक मशीन के टूटने की घटना से शुरू होकर एक परिवार के टूट जाने के संकेत के साथ खत्म होती है। एक बहुराष्ट्रीय कंपनी में कार्यरत अजीत कुमार से एक बार गलती से कोई पुरानी मशीन गिर

कर टूट जाती है। अधिकारी नई मशीन की कीमत वसूलने या नौकरी छोड़ देने की शर्त रखते हैं, अपने अहं और अकेले ही लड़ाई जीत लेने का भाव रखने वाला अजीत इस संकट की स्थिति से लिए उबरने का एक अलग ही रास्ता निकालता है और कामयाब भी होता है। पर यह सफलता निस्सार और विडंबनापूर्ण है। जुर्माना करने वाला अधिकारी गुस्सैल और लंपट है, अजीत बीवी को उसके पास भेजकर उसकी इस कमजोरी का 'लाभ' उठाता है।

यह स्त्री के साथ महाभारत काल से चलते आए पुरुष के अमानवीय व्यवहार की परंपरा को भी दिखाता है। साथ ही नई परिस्थितियों में एक शोषण कैसे रूप परिवर्तन कर दोबारा उपस्थित हो जाता है, इसकी तस्दीक भी करता है।

संबंध व्यवस्था का इस तरह टूटना अर्थव्यवस्था के महापरिवर्तनकारी अमानवीय बदलावों की छाया में घटित हो रहा है कोई सीमा न अर्थव्यवस्था में बाकी रहे, न संबंध व्यवस्था या समाज और व्यक्ति के जीवन में चरम उपभोक्तावाद का दर्शन भी इसमें दिखाई देता है। इस तरह देखें तो कंडम मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षा की विराट असफलता की कहानी है, जिसका एक हिस्सा उपभोक्तावाद, अवसरवाद, निजीकरण और आरक्षण से उपजे असंगत

पूर्वाग्रह से जुड़ता है, दूसरा सिरा परिवार में स्त्री की स्थिति, उसके निरंतर मूक समर्पण और कातर विद्रोह से जुड़ता है।

संग्रह की सबसे उल्लेखनीय कहानी पांच का सिक्का में मजदूर पुत्र बालक निनकू की विषम दिनचर्या का बयान है। कहानी में वर्णित यह दिन और दिनों से ज्यादा अलग नहीं है। वह बालश्रम, शोषण, यातना में से किसी भी शब्द को नहीं जानता। अनुभव की शक्ल में इन सबको झेलता अवश्य है मोटे पेट के कारण बच्चे चिढ़ाते हैं। वह चिढ़ता है और अपना काम करता जाता है। उसकी माई कई घरों में चौका बर्तन करती है, साथ में वह भी खटता है सेठ-सेठानी उसे कम पैसे पर गेहूं साफ करवाने, बर्तन धोने का काम देते हैं। पच्चीस की जगह बीस रुपए पकड़ा कर टाल देते हैं। माई के पास पहुँचकर फिर वापस आकर बाकी पांच रुपए वह बड़ी मुश्किल से उनसे ले पाता है। रास्ते में भूखे-थके निनकू को रोज आकर्षित करने वाली चाऊमीन की सुगंध अपनी ओर खींच लेती है, वह पांच रुपए में चाऊमीन खा लेता है। घर पहुँचकर मां से कहता है,"पांच रुपए नहरी में गिर गए" माई के लिए, उसकी जीवन स्थितियों के लिए इसे यूं भुला देना आसान नहीं लगता।

पांच का सिक्का माई के लिए बीमारी में मर चुके छोटे बेटे छोटकू की जान की कीमत के बराबर महत्त्व रखता है, माई पुरानी बात याद करती है: "कुल

पइसा सदर अस्पताल में ही खतम हो गवा। रात में नौ बजे डागदर बोला कि ले जाओ मेडिकल इसी बखत।" मानो इस खोए पांच के सिक्के का संबंध छोटकू की जान से है। पांच का सिक्का उसी अभाव की यातना की स्मृति को कुरेद जाता है।

'गुल्लक, स्याही और तेल तथा पुरानी कमीजें' संग्रह की अन्य कहानियाँ हैं। गुल्लक बच्चों के सौंदर्य बोध में आ रहे परिवर्तन को रेखांकित करती है। पुरानी कमीजें वर्ण के वर्ग में रूपांतरण का संकेत करने वाली कहानी लगती है। पर यह इस कहानी का संतोषजनक पाठ कतई नहीं। यह एकांगी भी है।

कहानीकार 'असफल' की प्रायः सभी कहानियाँ पाठक-समीक्षक को यह सुविधा नहीं देतीं कि वह इनका आस्वाद लेकर निश्चेष्ट बैठ जाए, न ही यहां पाठ की एकल व्याख्या ही उपयुक्त लगती है। कहानियाँ कई स्तरों पर एकाधिक व्यंजनाएं व्यक्त करना चाहती हैं पर विमर्शोन्मुख नहीं होतीं अंत तक इन्हें पढ़ने की आस्वादन योग्यता अर्जित करने के लिए धैर्य और कहानी के मौजूदा ढर्रे के पूर्वाग्रहों से मुक्ति जरूरी है।

(पाँच का सिक्का, अरुण कुमार 'असफल', अंतिका प्रकाशन)

ओझल को सामने लाने की चिंता से निर्मित कहानियाँ

नीरजा माधव अनचीन्हे विषयों पर लेखन के लिए चर्चित हैं। ओझल को सामने लाना मौलिक रचनाकार का एक गुण भी माना गया है। वे उपन्यास, कहानी, कविता के साथ साहित्येतिहास लेखन में भी अप्रकट-ओझल को सामने लाने, प्रकट करने का सतत प्रयास करती हैं। ‘यमद्वीप’ जैसे उपन्यास में वे कथा साहित्य के लिए नई जमीन तोड़ती नजर आती हैं। अपने सद्यः प्रकाशित कहानी-संग्रह ‘वाया पांडेपुर चौराहा’ में अपनी इस रचनात्मकता के नए क्षितिज को देखने दिखाने का अनवरत प्रयास करती दिखती हैं। प्रस्तुत संग्रह में सत्रह नई कथा स्थितियों को कहानी के रूप में पिरोकर वे लाई हैं। जो कहा गया है वही नया नहीं है, बल्कि जैसे कहा गया है, वह भी नया है वस्तु और शिल्प की नवीनता नीरजा माधव की कहानियों में सर्वत्र देखने को मिल जाएगी।

समीक्ष्य संग्रह की पहली कहानी को ही देखिए नाम है- ‘वाया पांडेपुर चौराहा’। विषय आसपास की घटनाओं से लेकर वैश्विक घटना तक फैला हुआ

है। पांडेपुर चौराहा पाठकों को ‘हैलो’ बोलता हुआ कहानी में उनको ले चलता है। यह काशी का एक चौराहा है। यह कहानी सहज किस्सागोई से आरंभ होती है। किस्सा सुनाने वाला कोई और नहीं पांडेपुर चौराहा ही है। यह चौराहा पाठकों को वहां जो घट रहा है, के साथ, जो घट चुका है, का भेद खोलता है। कहानीकार की जगह वही पाठकों से सीधा जुड़ने का प्रयास करते हुए अपनी बात कह जाता है। कहानी अपना यथेष्ट संदेश चुपके से पाठक को बताकर खत्म हो जाती है। वास्तव में नीरजा माधव कहानी के विषय के लिए आसपास से ही अदृश्य बना दिए गए संसार की यात्रा करती हैं। समाज में ऐसी अनेकानेक घटनाएं प्रतिक्षण घट रही हैं, जो हमारी जानकारी और संवेदना का हिस्सा बिना बने गायब हो जाती हैं। रचनाकार उन्हें न केवल सामने लाती हैं, बल्कि उन्हें व्यापक संदर्भों में ले जाकर हमारी अनुभूति का विषय बना देती हैं। नीरजा माधव ऐसा प्रायः अपनी सभी कहानियों में करती हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि अन्यान्य तरह की अदृश्य दुखद स्थितियों को यह कहानी संग्रह सामने लाने-दिखाने का काम कामयाब प्रयास करता है।

(वाया पांडेपुर चौराहा, नीरजा माधव, आर्य प्रकाशन मण्डल)

दहकते वर्तमान की कहानियाँ

स्त्री कहानीकारों की कहानियों में प्रायः एक तस्वीर का जिया-भीगा अनुभव जगत मिलता है। यह सीमितता अनेक स्त्री रचनाकारों ने तोड़ी भी है। प्रज्ञा भी इसी व्यापक भाव संसार की कहानीकार हैं। 'तक्सीम' उनका पहला कहानी संग्रह है। कहानी कहने में ही नहीं कथावस्तु के चयन में भी उनके यहाँ विविधता मिलती है। प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित ग्यारह कहानियों के इस संग्रह में वर्तमान और लगातार विगत हो रहे संसार के अनेक आयाम प्रस्तुत किये गए हैं। परिवार प्रेम, धर्म, साम्प्रदायिकता, भूमंडलीय दबाव, राजनीति, निम्नवर्गीय मध्यवर्गीय समाज के सपने, संघर्ष, अंतर्द्वंद्व, निम्नवर्ग के प्रति पूर्वाग्रह स्त्री का जुझारू, असहाय रूप सब यहीं दर्ज है। संग्रह के फ्लैप पर वरिष्ठ कथाकार ऋषिकेश सुलभ ने लिखा है "इन कहानियों का मूल स्वर गहन मानवीय संवेदनाओं और करुणा से निर्मित होता है। इन कहानियों के केंद्र में मनुष्य है और उसके चारों ओर फैला जीवन, जिनमें शामिल हैं अनेक मानवीय प्रपंच

इन्हीं प्रपंचों और व्यवहारों के उपकरण से प्रज्ञा अपनी कहानियों के अंतर्द्वंद्व को रचती हैं। ये अंतर्द्वंद्व ही इन कहानियों को बहुस्तरीयता और दीर्घ जीवन देते हैं।"

आज अनेक स्त्री कथाकारों ने समाज में पुरुषप्रदत्त अवमानना और शोषण को ही अपनी रचनाओं का उपजीव्य विषय बना लिया है। वह प्रज्ञा की कहानियों में उस रूप में नहीं मिलेगा। 'तस्वीर के पीछे' कहानी में रानी दीदी इसी अवमानना और शोषण की शिकार हैं। 'पाप, तर्क और प्रायश्चित' की मीनू और 'फ्रेम' कहानी की रावी और 'इमेज' कहानी की रूपल दी भी इसे झेलती हैं। लेकिन कहीं भी ऐसा नहीं लगता है कि इनमें कहानीकार ने यांत्रिक ढंग से पूर्वनिर्धारित मान्यतानुसार स्त्री को शोषित-अपमानित ही दिखाने की चेष्ट की हो।

समाज को संपूर्णता में देखने का आग्रह रखने वाला रचनाकार परिवार संस्था को उसके नफे-नुकसान के साथ अवश्य प्रस्तुत करेगा। व्यक्ति की कहानी होते हुए भी उसे उसकी संपूर्णता में दिखाने की कोशिश कहानीकार ने की है। 'फ्रेम', 'बराबाद'... नहीं आबाद, 'अमरीखान के लमड़े', 'पाप, तर्क और प्रायश्चित', 'तक्सीम’, 'रेत की दीवार', 'तस्वीर के पीछे ' इन सभी कहानियों में व्यक्ति और विचार प्रमुख होते हुए भी परिवार की कथा सामने आती है। परिवार संस्था एक मूल्य की तरह इन कहानियों में मौजूद है। लेकिन उसे जबरन बचाने या दोषमुक्त करने की भी कोशिश नहीं की गई है। इस संस्था को नर्क बनाने

वाली स्थितियां और किरदार भी यहाँ हाजिर हैं। 'तस्वीर के पीछे' कहानी की रानी जितनी अच्छी और 'सदाप्रसन्न' हैं उनका जीवन उतना ही दारुण सतत यातना पथ पर चलती हुई रानी रानी के पति रामप्रकाश जैसे परिवार विनाशक किरदार के बावजूद भी कहानीकार प्रज्ञा ने परिवार संस्था को स्त्री के समस्त दुखों का जिम्मेदार नहीं माना है। यह उन्हें वर्तमान स्त्री कहानीकारों से अलग करने वाला सबसे बड़ा लक्षण है। ऐसे क्रूर पति का अपमान और मार और उससे उपजी बीमारी सहते-सहते एक दिन रानी दीदी मर जाती हैं। लेकिन इस स्थिति को बदलने के लिए कोई बड़ा कदम नहीं उठाती हैं। उठातीं तो शायद अतिरंजित लगता लेकिन ऐसे किसी प्रयास का अभाव पाठक को खलता है। यह असहायता समाज द्वारा पैदा की गई है। आज अनेक कहानीकारों ने स्त्री की इस यातना को कथानक रूढि की भांति प्रयोग कर रहे हैं। इस चलन से कहानीकार भी परिचित होंगीं। इसलिए उनके पात्र विविधरंगी है। अगर उपर्युक्त बात यहाँ भी सच होती तो 'बरबाद नहीं आबाद कहानी में सुनीता जैसी दुर्दमनीय पात्र नहीं रच पातीं सुनीता इस कहानी संग्रह की सबसे मजबूत पात्र है। सुनीता में रानी दीदी की ही तरह सदैव प्रसन्न बने रहने का गुण है। वह लोगों के घरों में चौका-बर्तन कर अपना और अपने बच्चें का पेट पालती है। उसकी जिंदगी भी अनेक परेशानियों दुखों के आघात प्रतिघात से निर्मित है। उसके सर्वहारा वर्ग से होने

के चलते ही मानो उसमें लड़ने और लड़कर जीतने की अदम्य क्षमता स्वतः आ गई है।

अपनी कहानी पूछे जाने पर कहती है "क्या करोगे जी इस गरीबनी का दुख जानकर? क्या कहूँ... आदमी चला गया, ससुराल वालों ने धोखा कर दिया और छोड़ दी मैं भटकने को घरों में काम करके बेटे- बेटी पाले सादियाँ कर दी। अब छोटे को बाकी है। लाख है मेरा बेटा नसीब वाली होगी उसको औरत पर तकदीर में जाने क्या लिखा है। दो साल पहले जब बड़े की सादी की थी तो इसे उसकी साली पसंद आ गई थी जी लड़की भी चाहे थी इसे मैंने बात भी चलाई पर बहू को माँ नट गई एक घर में दोनों बेटी न देगी।" कारण कुछ और ही था छोटी बेटी की इस घर में शादी न करने का लेकिन सुनीता का मन इससे भी मलिन नहीं होता। वह इस लड़की की शादी और उसमें परेशानी आ जाने के बाद भी उसे अपने घर की बहू बनाने के लिए तैयार है। लेकिन यह भी नहीं हो पाता। जब दूसरी लड़की पसंद की जाती है तो वहाँ भी परेशानी आने लगती है। लेकिन सुनीता और उसको भावी समधिन मिलकर यह शादी करवा देती है। लड़की का बाप उसकी शादी नहीं करना चाहता था वह लड़की को अपने लिए रखना चाहता था। पूरी घटना सुनीता यूँ बताती है-"जी लड़की की माँ भगा लाई है

लड़की को कसाई से छुड़ाके कहीं नहीं करनी थी सादी उसे लड़की की अब कहता है में रख लूंगा इसे अपने लिए माँ नट गई तो रोज मारता पीटता है। दोनों जनियों की जिनगी नरक कर रखी थी। लड़की की माँ मौका देखकर भगा लाई है। मेरे पास फोन आया था। प्रिंस के साथ से होती है। निकलूंगी छह वाली गाड़ी से।"

सुनीता की ही तरह हारकर भी न हारने वाली एक और पात्र है 'इमेज' की रूप दी। जीवन को बेहतस्वीर बनाने के लिए रूपल दी साधन और व्यवहार में सुनीता से बिलकुल अलग है। वह सही-गलत तमाम तरीकों से जीवन को बेहतस्वीर बनाना चाहती है असुरक्षित जीवन से सुरक्षित संपन्न जीवन में जाना चाहती है। इसके लिए झूठ सच सबको अपनाती है। पार्लर के स्वय राजनीति में जाने का सपना भी टूट जाता है। लेकिन वह हार नहीं मानती है। कहानी पाप तर्क और प्रायश्चित की मीनू के जीवन के दो बिलकुल विपरीत रंग दिखाए गए हैं। एक बिलकुल अल्हड़ मस्तमौला, सबका दिल जीत लेने वाली, कभी उदास न रहने वाली मीनू है और दूसरा रूप उस मीनू का जो नितांत असहाय होकर अपने जीवन का धर्म और घर के लिए बलिदान कर देती है। एक घटना उसके पूर्ववर्ती रूप को बदल डालती है। वह है प्रेम यह प्रेम रखना चाहता था। पूरी घटना सुनीता यूँ भी असफल रहता है। लड़का मुस्लिम है और लड़की हिंदू लोग लव जिहाद

की बात भी बीच में लाते हैं मीनू की पढ़ाई बीच में ही छुड़वाकर धर्म को भेंट कर दो जाती है। अब वह मीनू नहीं साध्वी मीनाक्षी बन जाती है। पहले से बिलकुल विपरीत रंग-ढंग वाली मीनू।

'पाप, तर्क और प्रायश्चित' और 'फ्रेम' कहानियाँ प्रेम के असफल रूप को दिखाती हैं। एक में मीनू और इमरान की कहानी है तो दूसरी में रावी और जतिन की दोनों में लड़की के घरवाले पढ़ाई नौकरी छुड़वाकर उन्हें घर की चारदीवारी में बंद कर देते हैं। इस तरह की घटनाएँ समाज में बहुतायत में घटित होती हैं। अपने प्रेम को पाने के लिए कुछ भी कर जाने वाली कुछेक घटनाएँ भी होती है, ऐसी स्थितियाँ इन कहानियों में नहीं आ पाई है। पत्रकारिता के पेशे के कई सच बयान करती 'एहसास' कहानी में नवेद और झूमा की सफल प्रेम कहानी का जिक्र जरूर आता है। लेकिन वे कभी कहानी के रंगमंच पर उपस्थित नहीं होते। मुख्य न होकर वह नेपथ्य कथा की भाँति ही आती है। समाज में अभी भी लड़के-लड़की को साथी चुनने का अधिकार नहीं दिया है इसकी तसदीक इन असफल प्रेम कहानियों से होती है।

आज के दौर में भूमंडलीकरण देश, समाज और व्यक्ति को अपने अनुकूल बदल रहा है। जो कम पड़ रहा है उसे हाशिये पर पहुंचाया जा रहा है। "इस जमाने में" कहानी के जोशी जी इसी तरह के पात्र है जो बाजार के फैलाव के कारण

हाशिये में सरका दिये जाते हैं। जोशी जी कॉलेज के स्टाफ रूम में चाय ही नहीं बनाते हैं, वे उस माहौल को भी रचते हैं जो इस जगह को और खुशनुमा बनाता है। लेकिन बाजार व्यक्ति के स्थान पर मशीन का पक्षधर बनकर सामने आ रहा है। सुविधा का झांसा वह सामने प्रस्तुत कर रहा है। जोशी जी की जगह चाय-कॉफी बनाने की मशीन आ जाती है और वे पार्किंग में 'शिफ्ट' कर दिये जाते हैं। एक मशीन आने से एक रोजगार भी जा रहा है, पुरानी खुशदिल संबंध व्यवस्था भी दरक रही है, इसकी चिंता किसी को नहीं है। मनुष्य की सभी जिम्मेदारियों का निर्वाह नया समाज मशीन से पूरी करवाना चाहता है। इसी सामाजिक रूपांतरण की कहानी है 'इस जमाने में'।

कहानी में व्यक्ति चित्र खींचने में लासानी है प्रज्ञा ये कहानियाँ भाव-विचार के वायवीय आधार पर नहीं ठोस दिखने वाले, पहचाने जा सकने वाले व्यक्तियों के इर्द-गिर्द बुनी गई है। ऐसे ही अविस्मरणीय पात्र हैं 'अमरीखान के लमड़े' कहानी के भाई जी । भाई जी उस दुर्लभ होती जा रही पीढ़ी के आखिरी निशान हैं जो अपने से छोटी उम्र वालों को डांट-डपट सकते हैं। उनकी डांट-डपट का कोई बुरा भी नहीं मानता। गली मुहल्ले में उनकी दबंगई है। वे खुद सफल उद्यमी है और दूसरों को भी नये-नये व्यावहारिक अव्यावहारिक नुस्खे बताते रहते हैं। उनको न कहने की हिम्मत किसी में नहीं। वे अपने प्रयोगों में विफल होते है ।

जग हँसाई होती है। फिर भी वे एक नया नुस्खा लेकर तैयार मिलते हैं। कहानी इतनी रोचक और पठनीय है कि पाठक कहीं रुकता ही नहीं। लेकिन भाई जी के अंतिम दिन बड़े पिडांतक रहे। शरीर से भी अशक्त हो गए और एक दिन वे भी खत्म हो गए। कहानी दृश्यों में सामने आती है और अंत में एक टीस पाठक को देकर खत्म हो जाती है। इस कहानी की किस्सागोई पाठक पर अपना अमिट असर छोड़ती है।

संग्रह की सबसे बड़ी और शीर्षक कहानी ' तक्सीम ' है। तक्सीम यानी बंटवारा 1947 में हुआ था और वह आज भी चल रहा है। कायदे से यह हिंदू-मुसलमानों का बंटवारा तो औपनिवेशिक शासन के दौरान सन सत्तावन की राज्य क्रांति के बाद से ही समाज में गहरे रोप दिया गया था। अब इसका विष वृक्ष सामने आ खड़ा हुआ है। यह कहानी हिंदू मुसलमान के मध्य सांप्रदायिक विद्वेष को दिखाती है। दोनों कौमों के लोग अभी भी अमन चैन के साथ रहना चाहते हैं। वे सुख दुख में एक दूसरे के काम आते हैं। लडाने वालों को दोनों ही पहचानते हैं। लेकिन बांटने वाले इतने संगठित और आक्रामक है कि दोनों धर्मों के आम लोगों की जान सांसत में कर रखी है। कहीं चोरी हो तो हिंदू कहता है मुसलमान तो जन्मना ही अपराधि होते है। पुलिस भी उन्हीं पर शक करती है, मारती पिटती है।

तक्सीम जमील की कहानी है और कुछ कुछ अनोखे की भी । जमील उत्तरप्रदेश के खतौली से उखड़कर दिल्ली में कबाड़ी का काम करने लगा है। वहाँ न रोजगार था न सुख चैन साथ में बढ़ता साम्प्रदायिक तनाव भी दिल्ली आने का कारण था। लेकिन इस संप्रदायिकता ने जमील का पीछा दिल्ली में भी न छोडा बिना अपराध किये भी उसे अपराधी बना दिया जाता है। चोरी की घटना के बाद नाहक ही जेल जाना पड़ता है । वह दूसरा मुहल्ला देखता है। अपने जीवन को परिवार, माता-पिता बच्चे को खुशहाल बनाना चाहता है। लेकिन सांप्रदायिक शक्तियाँ उसका बनकर उसके जीवन को नर्क बना देती है।

भटके बेरोजगार नौजवानों को गाँव- शहर सब जगह पर सांप्रदायिक बना दिया जा रहा है। ये आक्रामक और राष्ट्रभक्त एक साथ हो रहे हैं। मारने मरने पर उतारू है। साथियों को भी अब धार्मिक खाँचों में ही बाँटकर देखने के अभ्यस्त हो चले है। मीडिया, प्रशासन, राजनीति सब इसमें अपने हित साथ रहे हैं। इस सांप्रदायिकता के साधन है बेरोजगार भटकते दिशाहीन युवक ऐसा ही एक साधन है उमेश यह मुस्लिम विद्वेष से भर दिया गया है। गोधरा के दंगे हों अथवा मुजफ्फनगर के युवकों ने इसमें सबसे बड़ी भूमिका निभाई है। धार्मिक राजनीति करने वाले उन्हें बदले की हिंसक भावना से भर दे रहे हैं।

गोधरा - गुजरात की घटना के बाद का माहौल गाँवों को भी अपनी गिरफ्त में ले चुका था –“इस बार शोर वैसा ही था और माहौल में सनसनी फैली थी” "बदला तो हम लेके रहेंगे छोड़ेंगे नहीं समझ क्या रखा है?"- उमेश का स्वर बड़े निश्चय के साथ निकला अखबार और टीवी की खबरें गाँव भर में फैल चुकी थी। खबरों पर सवार जलजला गाँव में दाखिल हो गया। गाँव में हिंदू-मुसलमानों की संख्या बराबर थी पर देश में किसका पलड़ा भारी है हर कोई जानता था और इसी बीच हिंदू नौजवानों को अपना देश और अपना धर्म बचाने के रास्ते पर डाल दिया गया था। इनमें से कई भटके नौजवान अपने बचपन के दोस्तों से देश में रहने और देश की कीमत अदा करने की बात करने लगे। उस दिन जमील युसुफ से भी उमेश इसी हक से बात कर रहा था। पुलिया पर बैठना मिनट मिनट भारी हो चला जमील और युसुफ के लिए एक काला सन्नाटा तारी था वहाँ । उस सन्नाटे में वीरर पुरुष की तरह प्रकाशवान था उमेश।" यह स्थिति गाँव शहर हर ओर फैलती गई। छोटी-छोटी घटनाएँ संप्रदायिक दंगों का कारण बनाई जाने लगीं। कहीं माता की चौकी, कहाँ माँस का लोथडा, कहीं और कुछ दंगे करवाने के लिए कुछ भी कारण बनाया जाने लगा। अपने फायदे की रोटियाँ सेंकने वाले लोग जमील और अनोखे जैसे न जाने कितने बेकसूरों की आहुतियों को लिये बैठे हैं। दंगे कितने सुनियोजित ढंग से करवाये जा रहे हैं इसको बानगी भी इस

कहानी से मिलती है। मरने वाले अनगिनत बेकसूर उसकी चपेट में आ जाते हैं। एक जीवन कैसे देखते देखते नष्ट हो जाता है इसे भी यह कहानी बड़ी सरलता से दिखाती है दंगे कैसे मनुष्य विरोधी जन विरोधी होते हैं इसकी पहचान यह कहानी करती है। गौग्रास का प्रसंग भी इस कहानी को मौजू बनाता है।

कहानी कहने और रचने की कला कहानीकार के पास है। किस्सागोई और संवाद दोनों ही शैलियों से ये कहानियाँ शुरू होती है। लगभग पाँच कहानियाँ संवादों से आरंभ होती है। नाटक का गुण प्रायः सभी कहानियों में मौजूद है। वर्णन करने में कहीं प्रथम पुरुष में तो कहीं अन्य पुरुष की भूमिका आती-जाती रहती है । किस्सागोई ऐसी कि घटनाएँ सामने से गुजरती मालूम पड़ती है। कहीं भी शिथिलता या रुकावट महसूस नहीं होती भाषा में हिंदी उर्दू दोनों के चलते शब्दों का सहारा लिया गया है। कहीं-कहीं आम हो चुके अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग मिल जाता है। कुछेक कहानियों में बोलियों और क्षेत्रीय टोन को भी लाने का प्रयास कहानीकार ने किया है। इन कहानियों में कहीं भी जल्दबाजी देखने को नहीं मिलती है। कहानीकार के पास कहने को कला के साथ असीम धैर्य है। इस धैर्य बल पर वह कहानी के मर्म को आराम से बाद में जाकर ही खोलने का प्रयास करती है। संग्रह की भूमिका में वरिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने सही ही कहा है "प्राज्ञा सचेत कहानीकार हैं। बड़ी बात यह कि ये विचारधारा या

वैचारिकता की सहज जीवन-सरणियों में लुप्त करके व्यंजित करती हैं। वे संभावनापूर्ण रचनाकार है।"

(तक्सीम, प्रज्ञा, साहित्य भंडार)

बदलते यथार्थ की कहानियाँ

पेशे से पत्रकार राकेश तिवारी का यह दूसरा कहानी संग्रह है। इस संग्रह में सात कहानियों के माध्यम से उन्होंने अपने समय - समाज की नब्ज पर हाथ रखने की कोशिश की है। इन कहानियों में सांप्रदायिकता की समस्या से लेकर स्त्री शोषण के विभिन्न रूपों को सामने लाया गया है। संचार क्रांति ने कैसे हमारे जन मन को प्रभावित किया है इसकी बानगी भी इन में दिखती है। इन कहानियों में पाठक की चेतना को कलम की नोंक के अनुसार चलाने का हुनर कहानीकार ने पा लिया है।

राकेश तिवारी को इन कहानियों में जो कहा गया है, के साथ, जैसे कहा गया है, पर भी बात करनी जरूरी है। कहानी कहने की कला में धैर्य की भूमिका ध्यान देने लायक है। धैर्य इस बात का कि सब कुछ को खबर की तरह एकबारगी ही नहीं सामने रख देना है। ऐसा लगता है कि पाठक कहानी पढ़ना शुरू करता है तो उससे पहले बहुत कुछ घट चुका होता है। वह कहानी के मध्य में या उसके

भी बाद से कहानी में दाखिल होता है, इस देरी का लाभ कहानीकार को मिलता है। सभी सातों कहानियों की शुरुआत इसी शैली से रची गई हैं। कई बार पाठक सोचता है कि कहानीकार उसे नाहक ही विचित्र रास्तों की यात्रा करा रहा है। जो कहना है उसे इतना क्यों छिपाया जा रहा है? लेकिन पाठक की यह मनोदशा उसके तादात्म्य स्थापित न कर पाने की सूचक होती है। जब वह तादात्म्य हासिल कर लेता है तब कहानी में छोटी-बड़ी यात्रा के बाद रचना के मूल तक जल्दी पहुँचने की बेचैनी नहीं रहती।

'मुकुटधरी चूहा' कहानी का आरंभ इन पक्तियों से होता है-" उस स्त्री के यहां सब कुछ स्वप्नलोक की तरह था। स्वप्नलोक में अजीब सी खुमारी थी। पता नहीं यह खुमारी उस स्त्री के बदन से उठने वाली गंध के कारण थी या खाद्य पदार्थों की थी। वह समझ नहीं पाता। कई बार सोचता है कि यह गुलाबी- गुलाबी सा मजा कहीं अंगूर खाने से तो नहीं आ रहा। कहीं मटर पनीर हलक में उतरने से तो ऐसा मजा नहीं आता ? पता नहीं। पर यह तय था कि मजा आ रहा है। सबसे अच्छी बात यह थी कि उसके यहां चूहे का जिक्र नहीं होता था। बड़ी राहत थी।"

एक स्त्री है, एक वह है जो कहानी का वाचक नहीं है, और एक चूहा है। चूहे की बात आते ही पाठक की उत्सुकता इस बात में बढ़ जाती है कि यह स्त्री

कौन है, यह स्वप्नलोक किस तरह का है, और यह चूहे वाली बात क्या है, इन रहस्यों का पता लगाने के लिए पाठक कहानीकार की इस शब्द यात्रा का सहगामी सहचर हो जाता है।

कहानी में आगे बढ़ते हुए ही मालूम पड़ता है कि यह स्त्री उस वह, जिसका नाम मुकेश उर्फ मुक्की है, को अपनी गाड़ी से टकराने के बाद घर ले आती है। लेकिन इससे पहले उसकी जिंदगी फ्लैशबैक में धीरे-धीरे सामने आती है। मुक्की जो उधमगंज जैसे पिछड़े इलाके का दसवीं में पढ़ने वाला लड़का है। यह उधमगंज देश के अगड़े शहरों से तीस चालीस साल पीछे चल रहा था। लेकिन अचानक ही खेल-खेल में घटित घटना से वह पिछड़ा क्षेत्र देश में हो रही घटनाओं की बराबरी या कहें अगुवाई करने लगता है। यह अगुवाई या बराबरी विकास में नहीं सांप्रदायिकता की लहर में है। कैसे सांप्रदायिकता पैदा की जाती है कैसे एक सामान्य सी घटना देखते-देखते एक क्षेत्र को और उसमें रहने वालों के जीवन नरक बना देती है। यह घटना कहने को छोटी है लेकिन इसके पीछे कुछ ऐसी शक्तियों की ताकत आ मिलती हैं जो इसे देशकाल से बड़ा कर देती है। इसके बड़ा होने से यहां मौजूद सब कुछ छोटा और बोदा नजर आने लगता है।

'मुर्गीखाने की औरतें' और 'अंधेरी दुनिया के उजले कमरे में' दोनों कहानियाँ स्त्री शोषण को सामने लाने के नए बिंदुओं की प्रस्तुति हैं। एक कहानी जहां नपुंसक समाज द्वारा स्त्रियों पर ढाए जा रहे अत्याचार को प्रकट करती है, वहीं दूसरी कहानी में भिन्न शिल्पविधि के माध्यम से निर्भया के बलात्कार की घटना की पुनर्रचना की गई है। यह पुनर्रचना दृश्य को नहीं एक खंडित दृश्य अथवा संपूर्ण दृश्य के केवल एक हिस्से को सामने लाती है।

'मुर्गीखाने की औरतें' कहानी में एक गांव में पुरुषों की शारीरिक अशक्तता का दंश वहां की स्त्रियों को झेलते दिखाया गया है। इस गांव में पुरुषों और प्रधान ने मिलकर इसका जो उपाय खोजा वह स्त्रियों को मुर्गीखाने का बाशिंदा बनाने पर बल देता है। इस गांव की स्त्रियों को पुरुषों की कमी का दाग पहले अपने सिर लेना पड़ता है। फिर एक ऐसे अमानवीय तरीके का अंधानुसरण करना पड़ता है जिसमें बच्चा पाने के लिए स्त्री को अपनी आंखों पर पट्टी बांधकर पति (पतिरूप में आने वाले अनजान व्यक्ति) के साथ संसर्ग करना पड़ता है। यह व्यक्ति भी अपनी आंख पर पट्टी बांधकर पूरे गांव को निःसंतान होने के धब्बे को दूर करने के लिए 'काम' पर रखा गया है। लेकिन स्त्री शोषण के इस रूप को गांव की सभी स्त्रियां गूंगी बहरी होकर नहीं सहतीं। जो विरोध करने या सच को सामने लाने का साहस करती हैं उन्हें मार दिया जाता है या खुदखुशी करनी पड़ती है।

कुछ कहानियों में जो स्थितियाँ हैं वो करुणास्पद हैं वे पाठक में दुखात्मक भाव का संचार करती हैं। लेकिन राकेश तिवारी कई बार ऐसी स्थितियों को पहचान कर उसमे तीव्रता लाने के लिए ‘हाफ पैथेटिक हाफ कॉमिक’ के रूप में सामने लाते हैं। जैसे कठपुतली थक गयी में कमला नाम की लड़की ने मोबाइल में पैसे डलवाने और मित्रों से व्हाट्सएप पर बात करने के लिए मां से सौ रुपये मांगे। माँ ने जब नहीं दिए तो उसने मरने की धमकी दी माँ ने कहा इस पैसे का राशन लाना है। तुझे मरना है तो मर जा और वह सच में चूहे मारने वाली दवाई खा जाती है। अब इतने करुणाजनक प्रसंग को इतने निरपेक्ष ढंग से कहानीकार बयान करता है जैसे उसे इस घटना में वर्णित स्थिति से लेना देना न हो अथवा ऐसा भी लग सकता है कि उसे इसके वर्णन में रस आ रहा है। और कहानीकार राकेश तिवारी इसे दुखात्मक से से हास्यास्पद की श्रेणी में खींचने का प्रयास करते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है। वह पाठक को स्वतंत्र रूप से घटना के मर्म तक पहुँचने के लिए स्वतंत्र छोड़ते हैं और अपने पाठक के प्रति आश्वस्त भी हैं कि वह इस घटना से कौन से सच को लेना चाहेगा।

इस प्रसंग को जिस तरीके से कहा गया है, उसमें आधा हिस्सा दुखात्मक है और आधा वर्णन हास्यास्पद है। इस वर्णन को देखते हैं, जब बेटी कमला ने जहर खा लिया है और उसकी मां यह घटना बता रही है-"रात में खाने के लिए

आवाज देती रह गई। जब बहुत देर तक नहीं आई तो मैं अंदर कमरे में गई। देखती क्या हूं, मुंह से गाज (झाग) निकल रहा है। मेरी तो ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की नीचे। उस बखत होश में थी। मैंने पूछा, क्या किया तूने, तो कहने लगी, चूहे मारने की दवा खा ली। पेट में जलन हो रही है। ठंडी चीज पीने को मन रहा है। मैं रोने लगी। झटपट पानी ले आई। कहने लगी, अब मर जाती हूं। बस आखिरी बार पैप्सी की बोतल पिला दे।

मृत्यु का दृश्य और उसमें बेटी अपनी मां से बस आखिरी बार पैप्सी पिला देने की इच्छा व्यक्त करती है। इसे पढ़कर पाठक हंसे या रोये। लेकिन यह रोने का ही दृश्य है। और बाजार यहां अदृश्य खलनायक की तरह इसे संचालित कर रहा है। वह दुख के, मृत्यु तक के मौके को भुनाने के लिए तैयार बैठा है। वह स्कूल से श्मशान घाट तक में अपने पैर पसार चुका है। तो एक मरती हुई लड़की के मुंह से अपनी जीत की घोषणा क्यों नहीं कर सकता! यहां जीवित बाजार होता है और हारती है लड़की और उसकी मां।

बात बाकी कहानियों पर भी हो सकती है. लेकिन उससे अच्छा यह रहेगा कि पाठक इस अपूर्ण टिप्पणी के सहारे किताब की अन्य कहानियों के पास जाए।

(मुकुटधारी चूहा, राकेश तिवारी, वाणी प्रकाशन)

बचा रहेगा जीवन

'लौटेगा नहीं जीवन' कर्मेंदु शिशिर की कहानियों का संग्रह है। इन कहानियों में किस्सागोई और सत्यनारायण कथा की भाँति गाँव देहात की कल्पना, सच और संभावना में लिपटी कथाएं भी कही गई हैं। लोक भाषा और लोकानुभाव सभी कहानियों में विशेषतः लाखनडीह की ग्यारह कहानियों में सामने आता है। आज के दौर में कहानियाँ शहरी जीवन पर केंद्रित होती गई हैं। इनमें मध्यवर्गीय और कहीं-कहीं निम्नमध्यवर्गीय जीवन का चित्रण मिलता है। इधर की चर्चित कहानियों में संवेदना का सम्प्रेषण खिलंदड़े अंदाज में हो रहा है अथवा अतिशय यातना के रूप में। कर्मेंदु शिशिर की कहानियाँ इन दोनों प्रचलित नुस्खों से बचने की कोशिश करती हैं।

संग्रह की ही एक कहानी 'कंबल' है। इसमें विषम अभाव और विकट ठंड का चित्रण है। यहाँ चित्रित शीत विकटता 'पूस की रात' कहानी की याद दिलाती है। यह संयोग ही है कि कंबल दोनों ही जगह नहीं है। सरयू भी कर्ज से दबा हुआ

है और सोचता है कि अगर कुछ धन बच जाता तो वह एक कंबल जरूर खरीद लेता। कई साल से वह यही सोच रहा है। लेकिन ऐसा संभव नहीं हो पाता। फिर वह सोचता है कि अगहन तो बीत ही गया है। पूस भर और काटना है। 'पूस की रात' हो अथवा 'कंबल' ठंड से कष्ट भोगते अभावग्रस्त भारतीय किसान की स्थिति में दशकों बाद भी जस की तस बनी हुई है। कर्मेंदु जी की एक कहानी रिक्शा चालक के परिवार पर है। इसमें वे रूप और जग्गी की जीवन कथा कहते हैं। जग्गी अभी-अभी बीमारी से उठा है। देह में जान तक नहीं बची, फिर भी रिक्शा खींचने निकल पड़ता है। घर में घोर अभाव और बुखार में तप्त बेटा नन्हका है। खाने को बासी रूखा-सूखा खाना। प्रभावित करने वाले ढंग से इस कहानी में निम्नवर्गीय जीवन में अभाव कैसे मृत्यु में पर्यवसित होता है, इसे दिखाया गया है। कुछ साल पहले एक बेटा बड़का मर चुका है। छोटा बेटा नन्हका भी अब उसी स्थिति में पहुँच गया लगता है। यहाँ स्थितियों की दारुणता है लेकिन बचने का कोई उपाय कहीं नजर नहीं आता। इस कहानी का नाम 'प्रतीक्षा' है। जो सद्य बनी रहती है।

निरुपायता की स्थितियाँ कर्मेंदु शिशिर की अधिकांश कहानियों में है। कंबल, प्रतीक्षा, डाँगर, फिदुरिया आदि कहानियों में लोभ की अंधी-दौड़ में उसके नीचे दबे लोगों की जीवन-स्थितियों को सामने लाया गया है। चोरी के काम में पुलिस

और बड़े रसूख वाले लोग कैसे भटके हुए जरूरतमंद युवाओं को इस धंधे में फँसा के रखते हैं, इससे निकलने नहीं देते। यह ‘चेंगड़ा’ कहानी का कथ्य है। यह शोषण का ही एक रूप है, यह शोषण नाना रूपों में घटित होता है। दाड़ना और जयंता कैसे निरुपाय होकर इसी धंधे में न चाहकर भी यही करने को अभिशप्त हैं। ‘रक्तदाता’ कहानी में शहर में रक्त के व्यापार और खून बेचकर जींद रहने की स्थिति को उजागर किया गया है। बीरू को रोजगार नहीं खून बेचकर जीने का रास्ता उसका मित्र दिखाता है। जब वह ऐसा करने से मना करता है तो डॉक्टर कहता है—खून नहीं बेचना है तो जा! उठ भाग यहाँ से।” यह पूँजीवादी विकास में व्यक्ति की निरुपायता को भुनाने का क्रूर तरीका है।

क्षेत्रीय शब्दों और व्यंजनों का इस्तेमाल प्रायः सभी कहानियों में किया गया है। कहानियों को पढ़कर लेखक के क्षेत्र-विशेष की पहचान उसकी निजता को कहानियों में पहचाना जा सकता है। यह निजता सामूहिकता के साथ पहचान में आती है। आजकल जो कहानियाँ पढ़ने में आती हैं उन्हें किसी क्षेत्र-विशेष के साथ जोड़कर ऐसे नहीं देखा जा सकता। वे भाषा, संस्कृति, लोक व्यवहार में महानगरीय और वैश्विक होती जा रही हैं। कर्मेंदु शिशिर इस क्षेत्रीयता को प्रगतिशीलता का पूरक मानकर चलने वाले रचनाकार हैं। यह बात कहानी-संग्रह की अंतिम ग्यारह कहानियों को देखकर भी कही जा रही है। लाखनडीह के लोक

को मिथकों को, अतीत को, उसमें छिपे शोषण, अंधविश्वास, जातिवाद और उनसे बाहर आने के प्रसंगों को इन कहानियों में देखा-दिखाया गया है। प्रायः ये कहानियाँ बंदुआ पंडित द्वारा जमीन पर तीन रेखाएं खींचते हुए खास अंदाज में कहलवाई गई हैं। लाखनडीह इस कहानियों का रंगमंच लगता है। जहाँ एक के बाद दूसरी कहानी घटित होते हुए दिखाई जाती है। बंदुआ पंडित सूत्रधार और कमाल के किस्सागो हैं। किसी कहानी में 'लाखो' की जिंदगी के बारे में बताते हैं तो किसी और में 'बुलाकी देई' की गाथा बयान करते हैं। कहीं भुआल काका की बात की जाति है- कैसे भुआल काका अपनी जान देकर भी डकैतों से लाखनडीह की मरजाद के लिए दुश्मनी छोड़कर शत्रुघर की औरतों की रक्षा करते हैं।

(लौटेगा नहीं जीवन, कर्मेन्दु शिशिर, शिल्पायन)

दलित दायरे के दर्द

अनिता भारती दलित रचनाकार हैं। दलित होने के साथ स्त्री भी हैं। वर्तमान समय में चल रहे दो सबसे लोकप्रिय लेकिन संभावनाशील विमर्शों से एक साथ जुडने का अनुभव अनिता भारती की कहानियों में मिलता है। दलित विमर्श और स्त्री मिम्रश उनकी कहानियों के अनिवार्य रचना संदर्भ हैं। इन रचना संदर्भों के साथ ही समीक्ष्य कहानी संग्रह 'एक थी कोटेवाली तथा अन्य कहानियाँ' का पाठ किया जा सकता है। लेकिन कुछ कहानियाँ विमर्शपरकता से रहित भी हैं। सोच में अंतर, जच्चा, नी हरामजादिए आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं।

जीवन, विचारधारा और साहित्य के त्रिकोण में साहित्य का आधार जीवन होना चाहिए, मात्र विचारधारा नहीं। जीवन के अभाव में रचा गया साहित्य यांत्रिक होता जाएगा। विमर्श और विचारधारा का अतिक्रमण जीवन में हमेशा संभव बना रहता है। भारती की कई कहानियाँ दलित विमर्श की बंधी-बंधाई परिपाटी का अतिक्रमण भी करती हैं।

ऐसा अतिक्रमण ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों में भी मिलता है। अनिता भारती वर्ण चेतना को वर्ग चेतना से युक्त करने का प्रयास एकाधिक कहानियों में करती हैं। बीज बैंक, नीला पहाड़ लाल सूरज आदि ऐसी कहानियाँ हैं, जहाँ

वे दलित समाज को मजदूर वर्ग के साथ देखने-दिखाने की कोशिश करती हैं। 'कुल मजदूरों में नब्बे प्रतिशत मजदूर तो दलित वर्ग के ही हैं।' यह बात दलित विमर्श का अर्थ-विस्तार करती है। और भारती के सरोकारों के दायरों को भी व्यापकता प्रदान करती है। यह दलित विमर्श को वर्गीय भाव-बोध से जोड़ना भी है।

संग्रह में छोटी-बड़ी कुल पंद्रह कहानियाँ हैं। इनके ट्रीटमेंट में लेखिका ने उन्हें आंदोलनधर्मी बनाने का भी प्रयास किया है। मतलब दलित स्त्री विमर्श दलित स्त्री चेतन और आंदोलन का रूप लेने लगता है। यह स्थिति विषमता-बोध के बाद उस विषमता को पाटने की छटपटाहट का संकेत है। इस छटपटाहट को संग्रह की कई कहानियों में देखा जा सकता है। वर्तमान पूँजीवाद के अमानवीय स्वरूप में दलित-वंचित समाज किस तरह यातना-शोषण के नए रूपों का सामना कर रहा है, इसे दिखाने की कोशिश बीज बैंक, सीधा प्रसारण और ठाकुर का कुआँ पार्ट टू में की गई है।

बीज बैंक कहानी में कुसिया गाँव का दलित नौजवान मोहन सुपर्व नाम की बहुराष्ट्रीय बीज कंपनी में अपने इलाके का प्रमुख एजेंट बना। अपनी शिक्षा का लाभ वह अपने गाँव वालों को भी देना चाहता है पर उसकी कंपनी के बीजों से तैयार फसल ने उसके गाँव के किसानों को बर्बाद कर दिया। इन बीजों से पैदा

हुई अतिरिक्त पैदावार कोसमे पर जब कोई खरीदने वाला नहीं मिला तो किसान दिवालिया होने लगे।

जल्दी ही उगाए गए टमाटर चारों ओर सड़ने लगे। दूर-दूर तक मातम का माहौल पसर गया। एक किसान चंदू ने आत्महत्या कर ली। वह मोहन का मित्र था। यह कहानी आज के दौर की सबसे भयानक घटना भूमंडलीकरण और किसानों की आत्महत्या के संदर्भ में पठनीय लगती है।

सीधा प्रसारण शीर्षक कहानी में शोषण के दो रूपों को आमने-सामने रखकर संचार माध्यमों और जाति व्यवस्था पर आघात किया गया है। दिल्ली के एक दैनिक अखबार में अपराध जगत पर कॉलम लिखने वाले भास्कर दुबे को एक साथ दो खबरें मिलती हैं। प्रियंका आत्महत्या केस और सुनीता बलात्कार, हत्या केस।

एक घटना का संबंध हाई प्रोफाइल समाज से है, दूसरी का एक पिछड़े-अविकसित गाँव छिनौरा से। भास्कर को और संचार माध्यम से जुड़े लोगों को हाई प्रोफाइल मामलों में दिलचस्पी रहती है। दलित समाज से संबंधित घटना-यथार्थ को संचार माध्यम उपेक्षित मानकर छोड़ देते हैं। यह स्थिति आज के समय और साहित्य में यथार्थ के आग्रह और उसकी जरूरत को चित्रित करती

है। समय आभासी यथार्थ अथवा उत्तर यथार्थवाद का नहीं, यथार्थ को नए सिरे से पहचानने का है।

यह कहानी दलित विमर्श को एक बेहतर पठनीय रूप में प्रस्तुत करती है। कहानी की अवश्य पढ़ी जाने वाली पंक्तियाँ हैं- “भास्कर को लगा कि सुनीता का केस बहुत ही साधारण है और आज की पत्रकारिता की भाषा में कहें तो लो प्रोफाइल है, गाँवों में ऐसी न जाने कितनी घटनाएं घटती रहती हैं। अखबारों में कितना और कब तक इनके बारे में छपता रहेगा। सुनीता के साथ बलात्कार करने वालों में अगर कोई नेता, मंत्री या ऊँचे कद का राजनीतिज्ञ शामिल होता तो खबर अच्छी बनती...” (पृष्ठ 61) ये पंक्तियाँ यह दिखाने के लिए पर्याप्त हैं कि सभी लोगों के अपने हित के अनुरूप अन्याय के हिस्से कर लिए हैं। सबके खिलाफ सबको लड़ाने की बात यह कहानी संकेत रूप में उठाती है।

भारती की कहानियों में डिटेल्स और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का अभाव है। कई कहानियाँ विवरणात्मक होकर ही रह गई हैं। पथभ्रष्ट कहानी में प्रतीकात्मक नामों का इस्तेमाल किया गया है। पर भारती की कहानियाँ स्त्री और दलित होने के दर्द का बयान करने के साथ-साथ तथाकथित प्रबुद्ध वर्ग के वैचारिक छद्म, दोहरे चरित्र को तो उघाड़ती ही हैं।

(एक थी कोटेवाली तथा अन्य कहानियाँ, अनिता भारती, लोकमित्र प्रकाशन)

मनुष्यता के पक्ष में मौजूद कविताएँ

कवि शंभु यादव सत्ता और समय के भेद को जानने-समझने वाले रचनाकार हैं। इस बात को उनकी कविता पुष्ट करती है। वर्तमान समय में जिस तरह से हजार रास्तों से अविवेक को फैलाया जा रहा है, अंधविश्वास, कट्टरता, तर्कहीनता बराबर बढ़ती जा रही है,उसे सत्ता पोस रही है। शंभु यादव एक कविता में अंधविश्वास के बढ़ने को लेकर सत्ता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए पूछते हैं - इस देश के करोड़ों लोगों के अनेक विश्वास/और अनेक प्रभुत्वशाली अंधविश्वास कुछ अनायास बने हैं/कुछ को अपनाया गया है सोच-समझ/कुछ का तो धंधा ही जोर

पकड़े है/अंधविश्वास के बैनर तले/क्या अंधविश्वास फैलाना हिस्सा है सत्ता की सोच का?

सत्ता लोगों के मन और जीवन पर सदैव काबिज बनी रहना चाहती है। इसलिए वह लोगों में इस तरह के तर्कहीन व्यवहारों को फलने-फूलने देती है। इन तर्कहीन व्यवहारों से वह खुद को दृढ़ और लोगों को पंगु बनाती है। इसी तर्कहीनता पर कवि बार-बार प्रहार करता है। वह चाहता है सभी लोग उसी की भांति देश-दशा से वाकिफ हों। लेकिन इसमें रुकावट डालने वाली एक स्थिति लोगों का अविवेकपूर्ण आचरण है। जिसे वह सत्ता की सोच का हिस्सा मानता है।

'ढकोसका' कविता में शंभु यादव अविवेक और तर्कहीनता पर व्यंग्य करते हैं। कविता तीन बंधों में है। तीन दृश्य भी इस कविता में हैं। पहले दृश्य में एक व्यक्ति सेंधा नमक, आलू-वेफर, मेवावाला मिक्सचर और पेठा खरीद लाया है। दूसरे दृश्य में वह घर में माता (वैष्णों मां) का घर सजा रहा है। वह सोच रहा है अब शहर के किस-किस मंदिर में वह माता के दर्शन करने जाएगा। शायद इस सबसे प्रसन्न होकर वैष्णों मां का बुलावा आ जाए। तीसरा दृश्य इन दोनों पूर्व-दृश्यों की संगति में नहीं है। तीसरा दृश्य ऐसा है जैसे खूब गर्म लोहे की सलाखों को ठंडे पानी में डुबा दिया गया हो। इस दृश्य में वह ऊपरी धार्मिक तैयारी से

अलग पी रहा है दारू के पैग पर पैग/खा लेना चाहता है मांस छककर/रात के बारह बजने से पहले/ गालियां देता अड़ोसियों पड़ोसियों को/ बारह बजने के बाद/नवरात्रे शुरू हैं/कल से रखने हैं व्रत।

मनुष्य और सत्ता के छद्म को कवि पकड़ना जानता है। इन पंक्तियों में एक छद्म धार्मिकता का निर्माण ऊपर के दो दृश्यों में हो रहा था। तीसरा दृश्य गुब्बारे को सुई चुभाने की तरह है। छद्म धार्मिकता का अविवेकपूर्ण आचरण इस तीसरे दृश्य के सामने अपनी वास्तविकता में आ जाता है। कविता का यह हिस्सा नाटकीय ढंग से सच को उजागर करता है। वर्तमान समय के इस दोहरे चरित्र को कवि अपने पाठकों को बताना चाहता है। एक तरफ ज्ञान-विज्ञान के नए क्षेत्र सामने आ रहे हैं, वहीं दूसरी ओर धार्मिक रूढ़ियां, तर्कहीनता भी बढ़ती जा रही है। बिल्कुल वैसे ही जैसे देश का जीडीपी और खाद्यान्न भंडार भी बढ़ता जा रहा है और किसानों की आत्महत्या की घटनाएं भी बढ़ती जा रही हैं। ज्यादा फसल उपजाने वाले बीज विदेशी कंपनी बेच रही है और किसानों की बदहाली भी इसी के साथ बढ़ती है। बहुमंजिला इमारतों, कारों, मॉलों की संख्या और कूड़े के ढेर पर खाना बीनते बच्चों, लोगों की संख्या भी समानुपात में साथ-साथ बढ़ती जा रही है। कवि इस द्वैत के कारण को जानता है। वह इस दृश्य को बार-

बार कविता में लाकर इस व्यवस्था के अमानवीय स्वरूप को बदलना चाहता है। इसी तरह का एक अंश‘जय बोलो महात्मा गांधी की’ शीर्षक कविता में है

फसल उगाने के‘हैरिटेज’बीज बिकवाली को प्रचारित है

विदेशी ब्रांड से क्रास करके बने हैं उम्दा

इस तरह के बीजों की फसल

हरित क्रांति के नये आयाम कायम करेगी, कहते हैं, सुनते हैं।

यह भी सुनते हैं, तुम भी सुनो

‘बस इसी आस में कि खूब धन-धान्य बरसेगा, किसानी डूबी

सब से ज्यादा, इस इतिहास काल में किसान आत्महत्याएं दर्ज हैं।

खूब धन-धान्य के वादे और किसानों की बदहाली एक साथ कैसे और क्यों घटित हो रहे हैं? इस विषमता को बढ़ाने के पीछे कौन-सी शक्तियां सक्रिय हैं? इसे कवि पाठकों से साझा करता है। एक शाही शादी का जिक्र करते हुए कवि इससे उपजने वाली विषमता, अभाव ग्रस्त जिंदगी पर भी लिखता है -

मैं यहां एक और बात का जिक्र करना चाहूंगा

दुल्हन की एक जूती की कीमत इतनी है कि

भारत देश के सौ गरीब

जीवन-भर के लिए

अपने खान-पान का जुगाड़ कर लें

यह विषमता को बढ़ाने वाले कार्पोरेट पूंजीवाद का समय है। एक तरफ भव्य, दिव्य संसार तो दूसरी ओर बुनियादी आवश्यकताओं को पाने की जद्दोजहद में मरता खपता संसार कवि इन दोनों दृश्यों को साथ - साथ रखकर स्थितियों की विडंबना को रचता है। उदारीकरण - निजीकरण भूमंडलीकरण की स्थितियों ने यह विषमताग्रस्त समाज निर्मित किया है। विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और बहुराष्ट्रीय कंपनियां इस स्थिति को समवेत रूप में निर्मित कर रही हैं विभिन्न देशों की सरकारें इन शक्तियों के साथ मिलकर निर्धनता, भुखमरी, विषमता को बढ़ा रही हैं। ऊपरी तौर पर यह सब आर्थिक सुधार और विकास के नाम पर किया जा रहा है।

'बैठक' शीर्षक कविता में शंभु यादव लिखते हैं-चमचमाती गाड़ियों में आए हैं/सरकार के बड़े अफसर/विश्व बैंक के अधिकारियों के साथ एक अधिकारिक बैठक/पांच सितारा होटल में आयोजित है/बैठक का मुख्य मुद्दा-

‘देश का आर्थिक सुधर और विश्व बैंक से कर्ज/विश्व बैंक की शर्त /अनुदान में कमी करे सरकार/सार्वजनिक उद्यमों का तेज गति निजीकरण करे।

समृद्धि और घोर अभाव की दुनिया को रचने वाली शक्तियां इस कविता में आ रही हैं। यह नयी विश्व व्यवस्था को बनाने वाली शक्तियां हैं। इन अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के गुप्त ध्येय को कविता में खोलते हुए कवि ने लिखा है -

सारे भूमंडल को अपना गांव बनाएं

इन अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं का गुप्त ध्येय ही यहां

कुछ प्राणियों की देह चमकने दें

बाकी अधिकतर लकवाग्रस्त रहें

कुछ प्राणियों के लिए बाकी दुनिया को अभावग्रस्त बनाने की इस प्रवृत्ति पर कवि ने एकाधिक कविताएँ लिखी हैं। बीसवीं सदी के अंत में अर्थात् इस जहन्नुम में शीर्षक कविता की पंक्तियां हैं -

उर्वर पृथ्वी हम सब की मां है

आओ हम विकास करें

आओ, सारी संवृद्धि अपनी मुट्ठी में भर लें

एक भूमंडलीय सौदागर ने दूसरे भूमंडलीय सौदागर को मारी आंख

फिर ऐसा अनर्थ किया

काट ले गया फसल मेरे खेत की

मैं कटे खेत की मेड़ पर औंधा पड़ा हूं

विकास का वादा और विनाश का दृश्य साथ-साथ चल रहा है। कवि इस विश्व व्यापी छल को तोड़ना चाहता है। अफगानिस्तान, इराक के बाद अमरीका अब सीरिया को बर्बाद करने जा रहा है। विकसित पूंजीवादी देशों की युद्धप्रियता का एक निहित आर्थिक कारण है। युद्ध का सीधा संबंध उनकी अर्थव्यवस्था से जुड़ा है। एकाधिकारी पूंजीवाद की प्रवृति और हिंसा- युद्ध का नाभि-नाल संबंध होता है। इस संबंध में डॉ रामविलास शर्मा ने 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' शीर्षक पुस्तक में लिखा है- "इजारेदार पूंजीवाद और हिंसा दोनों का आपस में घनिष्ठ संबंध है, एक दूसरे के बिना जिंदा नहीं रह सकता। हिंसा चाहे अमरीकी समाज में हो, चाहे बाहर हो, उसका मूल स्रोत यह महाजनी इजारेदार पूंजीवाद है।... इराक, अफगानिस्तान, यूगोस्लाविया कहीं न कहीं युद्ध चलता ही रहता है। मुनाफा कमाने का एक बहुत बड़ा साधन हथियारों का निर्माण है और इस

उद्योग में अमरीका सबसे आगे बढ़ा हुआ है। मानी हुई बात है कि जो हथियार बनाता है, वह उन्हें बेचकर मुनाफा भी कमाता है।" (भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, रामविलास शर्मा, किताबघर प्रकाशन, 1999, पृ. सं. 743) अमरीका की इस प्रवृति पर 'अमरीकी हुक्मरान' शीर्षक कविता में शंभु यादव लिखते हैं -

> वे शातिर बाज़ हैं जंग के
>
> पैदा जो हुए हैं जंग से जंग ही रही है उनके बाप-दादाओं की खाद
>
> जंग से उनके मंसूबे आबाद
>
> जंग से चमकी है साम्राज्यवादी खाज
>
> जंग ही है जो डॉलर को पहनावा देती है वैश्विक ताज

यह जंग मनुष्यता के खिलाफ है। कवि इसमें मुनष्य को बचाने के लिए सक्रिय है। इसलिए वह सीधे-सीधे अभिधा में समय-समाज की सच्चाई को कविता में रख देना चाहता है। वह इस सच्चाई को बयान करके रोकना चाहता है जंग जैसे बर्तोल्त ब्रेख्त तानाशाही जनरल को बताते हैं उसका नुक्स, वैसे ही शंभु गुप्त अमरीकी हुक्मरान को दिखाते हैं उनका नंगा चेहरा बर्तोल्त ब्रेख्त की कविता की पंक्तियां हैं –

‘जनरल, तुम्हारा टैंक एक मजबूत वाहन है
वह मटियामेट कर डालता है जंगल को
और रौंद डालता है सैंकड़ों आदमियों को
लेकिन उसमें एक नुक्स है
उसे एक ड्राइवर चाहिए।

यह नुक्स मनुष्य की मनुष्यता पर विश्वास है। वह युद्धोन्मादी देश के मंसूबे को रोक सकता है। शंभु यादव की कविता इसी मनुष्यता को जाग्रत करने की कोशिश करती है। मनुष्यता को बचाने की चिंता के साथ-साथ शंभु यादव की कविता प्रकृति, स्त्री, पारिवारिकता, मां, आत्मीयता सबको संबोधित करती हैं। ‘संकल्प’ कविता में गिरे दरख्त को देखकर आदमी संकल्प लेता है- ‘हरे-भरे दरख्तों को बचाकर रखा जाए यह संकल्प जीवन को चाहने वाले मनुष्य का संकल्प है। लेकिन वर्तमान विकास का प्रकृति और मनुष्य-विरोधी मॉडल मनुष्य के आदिम सहचर के बारे में विचार नहीं कर रहा है। विकास के इस मॉडल में पेड़, पानी, पत्थर, लोग गायब हो जाएंगे। कवि नरेश सक्सेना ने इस चिंता को व्यक्त करते हुए लिखा है-नक्शे में जंगल हैं पेड़ नहीं/नक्शे में नदियाँ हैं पानी नहीं/

नक्शे में पहाड़ हैं पत्थर नहीं/नक्शे में देश हैं लोग नहीं/समझ ही गए होंगे आप कि हम सब/एक नक्शे में रहते हैं।

प्रकृति से मनुष्य के टूटते संबंध को टेलीविजन में कैद करके संभाला जा रहा है। अब प्रकृति की जगह टेलीविजन के दृश्यों ने ले ली है। एक कविता में शंभु यादव इस बात को दर्ज करते हुए लिखते हैं –

बच्चा टीवी से पहचान बनाता

दिखने में सफेद होता है खरगोश

कछुआ अपनी गर्दन पीठ में छुपा लेता है

शेर जंगल का राजा है

सूंड उठा चिंघाड़ता हाथी

बच्चे की इच्छा में मोगली-सा बनना

वास्तविक प्रकृति की जगह आभासी प्रकृति ने ले ली है। अगर विकास के नाम पर प्रकृति का सफाया कर दिया जाएगा तो हमारे पास केवल यही आभासी प्रकृति ही बचेगी। कवि सूक्ष्म पर्यवेक्षण, संवेदनशीलता और विश्वबोध को क्षेत्रीय टोन और सहज भाषा के सहारे कविता में उतारता है। इन कविताओं में

कहीं मां की याद है तो कहीं 'बीरबानी' की दिनचर्या का आंखों देखा हाल है अधिकांश कविताएँ छंदमुक्त अथवा गद्यात्मक हैं। संग्रह में कुछेक कविताएँ छंद में भी हैं। भाषा में हरियाणवी टोन, शब्द चयन भी पाठकों को मिलेगा।

(नया एक आख्यान, शंभु यादव, दखल प्रकाशन)

मनुष्य में भरोसा

भोलानाथ नाथ कुशवाहा के इस तीसरे कविता संग्रह में अपेक्षाकृत छोटी लेकिन सारगर्भित कविताएँ हैं। कवि ने भाव की विपुल राशि को शब्द लाघव से बांधने की कोशिश प्रायः हर कविता में की है, वर्तमान समय में जिन शब्दों का सबसे अधिक अर्थ परिवर्तन हुआ है उसमें लोकतंत्र उल्लेखनीय है। यह शब्द आजकल अपना विपरीत अर्थ देने लगा है। अब वह लोगों की जिंदगी में

खुशहाली लाने वाली व्यवस्था न रहकर खून चूसने वाली व्यवस्था या ‘जोकतंत्र’ बन गई है। इसी सामाजिक सत्य को बयान करती कविता है ‘ताकि’:, ताकि ढहाया जा सके’ ‘जोकतंत्र’’ खड़ा किया जा सके ‘लोकतंत्र यह नवनिर्मित लोकतंत्र वास्तविक और मानवीय होगा...

संग्रह में स्त्री विमर्श को सामने रखकर भी कुछेक हैं। आज़ादी का जो अर्थ स्त्री विमर्शकार आजकल लगाते हैं उसमें निहित कितनी तरह की परतंत्रताएं समाज में मौजूद हैं उसे प्रकट करते हुए कवि लिखता है उनको पूरी आज़ादी थी अपने मिजाज से जीने की/ कुछ ने छोटे कपड़े पहनकर खुले बाजार में कैटवाक किया। यह आज़ादी बाज़ार की शक्तियों को समर्पित छद्म आजादी है। आजादी के नाम पर शोषण का एक नवीनतम रूप इसमें छिपा हुआ है जिसे उभारकर सामने लाने की सार्थक है. कोशिश यहाँ रचनाकार कर रहा है।

प्रत्येक समय में ऐसी मानव विरोधी और यथास्थितिवादी शक्तियां प्रायः मौजूद रहती हैं जो कभी कला और रूपवाद के नाम पर समाज को महत्त्वहीन बनाने का कार्य करती हैं। या फिर ‘इतिहास के अंत’ की घोषणा कर मनुष्य की अदम्य जिजीविषा और निहित संभावनाओं को नकारने का प्रयास करती हैं। ‘इतिहास बन गया’ कविता मनुष्य में कवि के अटूट विश्वास का सूचक है।

लेनिन का प्रसिद्ध कथन है - पीपुल मस्ट ड्रीम, लेकिन भूमंडलीकरण की संस्कृति ने व्यक्ति, समाज को स्वप्न विहीन कर दिया है। सपनों की जगह कभी न खत्म होने वाली अनंत इच्छाओं ने ले ली है। इन इच्छाओं को जन्म देने और पूरा करने का काम बाजार कर रहा है। 'बचपन गुम है' कविता में कवि लिखता है: नए उपक्रमों ने छीन लिए हैं। उनसे सपने चांद-तारे/ रिमझिम बारिश/ कागज की नाव गुड़िया गुड्डा, अब इनकी जगह - वीडियो गेम, कार्टून, सीरियल, चैटिंग इत्यादि ने ले ली है। हिंसा, भय और उत्तेजना को इन माध्यमों के जरिए मानव मन, विशेषतः बाल-मन तक पहुंचाया जा रहा है। और इससे जो नई पीढ़ी तैयार हो रही है, उसके बारे में कवि ने लिखा है, बहुत तेज रफ्तार फिर भी बेकार/सूचना विस्फोट में फंसी/यथार्थ से कटी/आ रही नई पीढ़ी। यह पीढ़ी अपने काम से काम रखने वाली समाज-निरपेक्ष भावशून्य पीढ़ी है|

इन दिनों एकरूपता स्थापित करने का जो विश्वव्यापी महा- परिवर्तनकारी अभियान चलाया जा रहा है उसमें गांव भी शहर हो गया है। इस बदलाव को कविता में उतारते हुए कुशवाहा लिखते हैं: नहीं हैं। वे पीपल के पेड़ जिस पर लू में कौआ और गरिया साथ-साथ पनाह लेते थे... नहीं है। अंगुली पकड़कर घर तक पहुंचा देने वाले हाथ। शहर-सा हो गया है/सब कुछ नहीं है किसी से किसी का रिश्ता खास। यह समस्त चराचर प्रकृति और मनुष्य को प्रभावित करने वाली

एकरूपता का ही दुखद परिणाम है। ‘श्रमजीवी’ कविता में श्रमिक वर्ग के माध्यम से परायेपन की अथवा ‘एलियनेशन’ की चर्चा भी कवि करता है।

संग्रह की कुछेक कविताएँ पाठकों के चित में भाव और विचार के स्फुलिंग पैदा कर खत्म हो जाती हैं। ऐसी कविताओं में मात्र वाग्वैचित्र्य ही नहीं, भाव के कुछ गंभीर विषय भी मिलते हैं। ‘दो मिनट का मौन’ कविता की पंक्तियां हैं जब वह पूरी तरह मौन हो गया/ तब लोगबाग सिर्फ दो मिनट के लिए मौन हुए।

इसी तरह की चिंताओं को इस संकलन में उठाया गया है। इन मनुष्यधर्मी कविताओं में प्रगतिशील मानवीय मूल्यों की स्थापना की कोशिश दिखाई देती है। अनेकार्थता और व्यंग्य का भाव भी कुछेक कविताओं में देखने को मिलता है। इस प्रवृत्ति से एक ओर जहां अर्थ विस्तार की संभावना बनती है, वहीं दूसरी ओर अस्पष्टता की भी स्थिति देखी जा सकती है।

इन कविताओं में छंद के व्याकरण को साधने की कोशिश न के बराबर की गई है। इसलिए आजकल जो कविताएँ लिखी जा रही है, पाठक की स्मृति और कंठ पर ज्यादा देर तक नहीं टिक पाती, कुशवाहा ने बड़ी साफगोई से अपनी इस स्थिति को भूमिका में पाठकों के सामने रख भी दिया है: "आज की कविता

में मुक्तछंद और छंद मुक्त को लेकर घमासान है। मैंने समय की मांग को देखते हुए 'मिक्स' का प्रयोग किया है। जो रचना जैसी मांग करती है, मैं उसे उसी शैली के आवरण में ढालता हूँ। इस तरह अपनी बात कहने के लिए कभी-कभी मैं अति सहज हो जाता हूँ। साफ-साफ कहूं तो सपाटयानी पर भी उत्तर जाता हूँ।" लेकिन यह सपाटबयानी कविता में वाक्य की गरिमा को पहचानती है। अर्थ का बोध वाक्य से होता है केवल शब्द से नहीं, कवि इस तथ्य से अवगत है इसलिए उनकी कविताओं में वाक्य का सौंदर्य भी विद्यमान है।

(इतिहास बन गया, भोलानाथ कुशवाहा, अंतिका प्रकाशन)

विश्व-शांति की प्रार्थना करती कविताएँ

छह और नौ अगस्त उन्नीस सौ पैंतालीस। अमिट तिथियाँ हैं जो मनुष्यता के माथे पर घाव की तरह हम सबको याद है। उसे भूलने-भुलाने के बीच दोहराने के प्रयास भी चलने लगे हैं। दुनिया के ताजा घटनाचक्र में लगता है हिरोशिमा और नागासाकी के बाद अनेक नामों की शृंखला जुड़ने वाली है इसमें। परमाणु हमले के बाद हिरोशिमा की तस्वीर को बयान करती कविता की पंक्तियां पढ़कर लगता

है। इस तरह की त्रासदी अब हुई तो कविता लिखने और उसे पढ़ने के लिए कौन बचेगा।

तट-भूमि पर पड़ी नाव से उठ रहीं चिंगारियों की
तपिश से परेशान वे अंधे
नदी की ओर आए लड़खड़ाते हुए
और उनके पैर गहरे कीचड़ में धंस गए
लाशें की लाशें बिखरी हैं चारों ओर
एक विशाल चिता-सा धधक रहा है हिरोशिमा

चिता-सी धधकती दुनिया को देखने के लिए बचने का सपना कुछ लोग पाल रहे हैं। इस समय वैश्विक परिदृश्य में परमाणु बम और उससे कुछेक लोगों को बचाने वाले बंकरों की चर्चा सामने आ रही है। अमरीका और उत्तर कोरिया के बीच युद्ध जैसी स्थितियां बन गई हैं। दोनों ही देश परमाणु बम की शक्ति से संपन्न हैं। अगर यह युद्ध हुआ तो मनुष्यता के लिए सबसे बड़ा खतरा सामने आ जाएगा। कौन बचेगा, कहना मुश्किल है। चीन ने इसी माहौल में कहा कि अब अगर युद्ध हुआ तो जीतेगा कोई नहीं। यानी अगला युद्ध परमाणु हथियारों से लड़ा जाएगा। जिसमें सबकी हार ही होगी। मुश्किल से बहत्तर साल गुजरे हैं जब दुनिया ने छह

और नौ अगस्त 1945 को जापान के हिरोशिमा और नागासाकी शहरों पर तबाही के बादल देखे थे। कुछ ही क्षणों में लाखों लोग उस अग्निवर्षा से मारे गए। जब यह हुआ तब दुनिया में केवल एक देश के पास परमाणु बम था। अब कम से कम नौ देशों के पास परमाणु बम हैं। इन बमों की संख्या कई हजारों में हैं। दो बम की तबाही दुनिया देख चुकी है। झेली अकेले जापान ने हैं। अब हजारों बमों की तबाही देखने के लिए शायद ही कोई बचे!

इतनी जल्दी इतनी बड़ी अमानवीय घटना को दुनिया भूल बैठी है। फिर से परमाणु बम को खिलौनों की तरह फोड़ने पर आमादा कुछेक देश सामने आ गए हैं। पहले यह जघन्य अपराध कर चुका अमरीका भी सचेत नहीं है। न ही वह उत्तर कोरिया के मूर्खतापूर्ण उकसावे के कार्य के बदले संवाद का सही रास्ता ही चुन रहा है।

यही स्थिति भारत और पाकिस्तान के साथ है। दोनों ही देश परमाणु बम बना चुके हैं। पड़ोस में चीन भी परमाणु बम की शक्ति से संपन्न है। तीनों ही देशों की सीमा रेखा एक दूसरे से मिलती हैं। और आए दिन सीमा पर तनातनी होती रहती है। भारत के साथ पाकिस्तान और चीन दोनों से सीमा पर विवाद बना ही रहता है। इस मुद्दे पर युद्ध भी कई बार हो चुके हैं। अगर यह युद्ध परमाणु बम का सहारा लेकर कभी हुआ तो तीनों ही देशों में रहने वाले करोड़ों लोग मारे जाएंगे। ऐसे में

दुनिया को परमाणु बम से रहित करने का सपना कितना जरूरी लेकिन कितना दूर दिखाई देता है!

वैश्विक समाज की स्मृति से हिरोशिमा और नागासाकी की घटनाएं समाप्त नहीं होनी चाहिए। अगली तबाही को रोकने का एक उपाय पिछली तबाही को लगातार मन में बनाए रखकर किया जा सकता है। जापान में इस घटना के बाद बड़ी संख्या में साहित्य रचा गया। उसके लिए एक नया नाम ही सामने आ गया- गेनबाकू बुनगाकू। इनमें कविता, कहानी, उपन्यास, डायरी, नाटक और डॉक्यूमेंटरी सब कुछ शामिल है। अन्य भाषाओं में भी इस घटना से प्रभावित होकर साहित्य रचा गया। हिंदी में 'अंधायुग' नाटक में इस घटना का अप्रत्यक्ष प्रभाव धर्मवीर भारती ने दिखाया है। इस घटना के भोगे हुए अनुभव को हिंदी पाठक नहीं जान पाया है। जापानी में परमाणु त्रासदी को व्यंजित करती कविताओं का हिंदी अनुवाद 'परमाणु बम की छाया में' साहित्य अकादेमी से प्रकाशित होकर आया है। इसका हिंदी अनुवाद हरजेन्द्र चौधरी और मिकि युइचिरो के प्रयास से संभव हो पाया है।

यह अनुवाद किसी पुस्तक को दूसरी भाषा में उपलब्ध मात्र कर देने के भाव से संभव नहीं हुआ है। इसके पीछे की प्रेरणा में 'स्थायी विश्व शांति' की कामना है। साथ ही अनुवादकद्वय का विचार है कि इस त्रासदी की काव्यात्मक तस्वीरें

देखकर दुनिया परमाणु हमलों के डर और डराने वालों से हमेशा के लिए मुक्त हो। यह अनुवाद महज अनुवाद कार्य नहीं है। इसके पीछे की प्रेरणा को व्यक्त करते हुए अनुवादकद्वय ने लिखा है-''हिरोशिमा-नागासाकी-परमाणु-त्रासदी के संबंधित घटना-क्रम और अमानवीय अनुभवों पर केंद्रित जापानी कविताओं को भारतीय पाठक-समुदाय के सामने लाने की यह परियोजना हमारे लिए सामान्य साहित्यिक अनुवाद-कार्य न होकर विश्व-शांति के महत उद्देश्य की पूर्ति हेतु संपन्न एक सद्भावनात्मक मिशन है।'' इस मिशन को संपन्न करने में लगभग दो साल का समय लगा। हिंदी में अनूदित होने के बाद भारत-पाकिस्तान की स्थिति को देखते हुए इसके उर्दू में भी तर्जुमा होने की इच्छा व्यक्त की गई है। इससे शायद दोनों देश की जनता शांति के विचार पर गहराई से विचार करे। ये कविताएँ प्रतिरोध के स्वर को प्रस्तुत करती हैं और शक्ति संपन्न अमानवीय सत्ता को उसका क्रूर चेहरा दिखाती हैं। सत्ता के मनुष्य विरोधी कृत्य और हिंसा के सभी रूपों का विरोध इन कविताओं में किया गया है। लेकिन इनका स्वर और लहजा भारतीय खासतौर से हिंदी कविताओं के मिजाज से अलग है। यहां विरोध का स्वर तेज न होकर आंतरिक और अव्यक्त है। उस व्यवस्था को शीशा दिखाया गया है। जिसमें उसकी क्रूर अमानवीय शक्ल दर्ज है।

हिंसा और युद्ध हर स्थिति में मनुष्यता विरोधी कृत्य हैं। इनमें एक पक्ष दूसरे पर अपनी प्रभुता सिद्ध करने के लिए हिंसा की पराकाष्ठा पर पहुँचना चाहता है। इसी तरह का एक उदाहरण दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति पर अमरीका और जापान की लड़ाई में देखने को मिला। अमरीकी प्रभुता के सर्वाधिक अमानवीय प्रदर्शन के अकारण भुक्त भोगी जापान के हिरोशिमा और नागासाकी शहर बने। दूसरे विश्वयुद्ध के समाप्त होते-होते छह और नौ अगस्त 1945 को अमरीका ने इस क्रूर घटना को अंजाम दिया। इसमें देखते ही देखते करीब पौने तीन लाख लोग मारे गए। इस घटना का भौतिक और मानसिक प्रभाव आज भी जीवित है। प्रस्तुत काव्य संकलन में इसी अमानवीय-क्रूर-रोमांचक घटना के प्रभाव की अनेकविध प्रस्तुतियां सुरक्षित हैं। इन कविताओं को पढ़कर ऐसा लगता है मानो परमाणु-विध्वंस के बाद उसकी स्मृति को संजोकर बनाए गए संग्रहालय में दर्शक रूपी पाठक एक-एक (कविता रूपी) दृश्य को देखता-महसूस करता है। संकलन की अनेक कविताएँ उस भयावह घटना की सचल-जीवंत और हृदयविदारक बिंबावली प्रस्तुत करती हैं। इन्हें पढ़ते हुए उस घटना को सामने होते हुए देखने का यातनाप्रद अनुभव होता है।

इस संकलन में परमाणु बम त्रासदी को बयान करतीं शताधिक कविताओं को सहेजा गया है। लगभग छियासी कवियों की जापानी में लिखी इन कविताओं को अनूदित कर यहां प्रस्तुत किया गया है।

तोगे सांकिचि अपनी प्रस्तावना शीर्षक कविता में पूरी मानवता के लिए लिखते हैं-

जब तक पृथ्वी पर जीवन है
तब तक के लिए
अमर-अनंत-अखंड शांति लौटाओ

इन परमाणु बमों ने मात्र दो शहरों को ही नहीं बर्बाद किया बल्कि अनेक संबंधों और संबंधियों को छीन लिया। उपर्युक्त कविता में ही कवि इस नरसंहार के करने वालों से कहता है-

मुझे मेरा पिता लौटाओ
मेरी मां लौटाओ
दादा-दादी लौटाओ
मेरी संतानें लौटाओ

लेकिन अफसोस इनमें से कोई नहीं लौट सकता है। इन्हें छीनने वाले भी इन्हें नहीं लौटा सकते। वे केवल छीन सकते हैं।

यह कविता उन लोगों को संबोधित है जिन्होंने इस पृथ्वी पर अशांति-क्रूरता-विध्वंस की अग्निवर्षा की है। लेकिन ऐसी कविताएँ यहां नहीं के बराबर हैं जिनमें विद्वेष, प्रतिशोध या घृणा के भाव हों। इन कविताओं में अनेक दृश्य हैं जिनमें हिरोशिमा-नागासाकी की स्मृति को बनाए रखने की अमिट चाह है। घटना के बहत्तर साल हो चुके हैं लेकिन कवि की आकांक्षा है कि हिरोशिमा को भूलने से बचाना है। नागात्सु कोज़ाबुरो अपनी कविता क्या हिरोशिमा बदल गया है, में युवा लोगों और उनके बहाने पूरे विश्व से हिरोशिमा को विस्मृत न होने देने की अपील करते हैं-

तुम भूल नहीं जाना
हिरोशिमा के लोगों के तपिश-भरे गहरे विचारों की विरासत को
हस्तांतरित करते जाना
हिरोशिमा को विस्मृत न होने देना...

इन कविताओं में कुछ स्कूली बच्चों की भी कविताएँ संकलित हैं। परमाणु बम की घटना को न भूलने की बात इन कविताओं में भी आती है। सातवीं कक्षा के छात्र इकेदा हिरोअकि की बड़ी बहन शीर्षक कविता की पंक्तियां हैं-

चाचा जी मोर्चे पर मरे

दीदी एकदम सूखकर मरी

मरते समय उसने कहा था

'पिकादोन को भूल मत जाना'

'पिकादोन' मतलब कौंध वाला धमाका या परमाणु बम। ये कविताएँ भूलने के विरुद्ध एक अभियान की तरह हमारे सामने हैं। इन्हें जापान मात्र की ही नहीं दुनियाभर की स्मृति में बनाए रखना है। तभी दूसरे 'हिरोशिमा-नागासाकी' नहीं बनेंगे।

इस संकलन में एक कविता है इतो शिंजि की दो बालिकाओं की मोम मूर्तियों के लिए। यह कविता पूरे संकलन और साथ ही साथ परमाणु त्रासदी की यातना को प्रस्तुत करतीं प्रदर्शनियों की अव्याप्ति की ओर संकेत करती है। कैसे कोई

कविता, दृश्य, लेख उस भयावह घटना को संपूर्णता में दिखा और महसूस करा सकता है - कविता की पंक्तियां हैं-

लाखों लोग पलक झपकते भस्म हो गए थे
खुले मैदानों और नदी-तालों में
खोपड़ियों के अंबार लग गए थे
जिनकी आंखों के गड्ढे बाहर झांक रहे थे
युद्ध के बाद हिरोशिमा का यह हाल था
(उन दृश्यों को आखिर आप कैसे महसूस कर सकते हैं।)

शब्द – चित्र - मूर्ति सबकी सीमाओं की ओर यह कविता संकेत करती है। छह और नौ अगस्त 1945 की क्रूर घटना ने लाखों लोगों को ही नहीं उन संबंधों, अनुभवों को भी क्षण भर में ही अनुपस्थित कर दिया। उन संबंधों और अनुभवों की स्मृतियां इन कविताओं में सर्वत्र दिखती हैं। स्मृतियों में व्याप्त टीस का अनुभव पाठक करता चलता है। इकेयामा योशिअकिरा की तरल आयोडीन में रंगी रात कविता में मां को पुकारती आवाज़.. उनकी खोजतीं आखों का बयान किया गया है-

जारी रहती है मां की अनंत सक्रियता

जैसे किसी महाशून्य को भर रही हो
रह-रहकर पुकारती मेरी आवाज़
कभी मां तक नहीं पहुंचेगी
एक पैनी तेज़ ‘धड़ाम’ सुनाई देती है
और मैं रात के अंधेरे में उठ खड़ा होता हूं
मेरी आंखें खोजती हैं मां और बड़े भाई को
जो अब इस दुनिया में नहीं हैं...

जो अब इस दुनिया में नहीं हैं। उनकी टीसभरी स्मृतियां इन कविताओं में कैद हैं। वे कभी मुक्त नहीं होंगीं। जैसे परमाणु बम के कारण दो शहर शून्य में समा गए। एक मनुष्य पत्थर पर छाया बन गायब हो गया। वह अपनी छाया से कब मुक्त होगा। सागा नोबुयुकि की हिरोशिमा-मिथक इस भाव को व्यक्त करती - अपने लिए एक सामान्य मृत्यु की कामना करती कविता है। कविता की पंक्तियां हैं-

सैंकड़ों लोग जो पारदर्शी वायु बनकर
एक क्षणिक कौंध में लुप्त हो गए थे
आकाश में टहल रहे हैं
(हमें मृत्यु ने नहीं मारा)

(मृत्यु से बचे हम और क्षणांश-भर में प्रेत बन गए)
(हमें एक बार फिर से सामान्य मृत्यु दो)
उनमें से एक की छाया
पत्थरों की सीढ़ियों पर छपी हुई है
(मैं पत्थर से क्यों बंधा हुआ हूं)
(छाया से मुक्त होकर कहां चला गया मेरा शरीर)
(मुझे किसकी प्रतीक्षा करनी है)
अग्नि द्वारा अंकित मिथक है यह बीसवीं सदी का
कब और कौन करेगा
इस छाया को पत्थर से मुक्त...

मनुष्य और विज्ञान की सबसे भयावह भूल के रूप में यह मनुष्य-छाया पत्थर पर सदैव बंधी रहेगी! लेकिन वर्तमान समय मनुष्य और विज्ञान को बहुत आगे ले आया है। अब अगर परमाणु बम से हमले की एक भी घटना घटती है तो पूरी दुनिया ही हिरोशिमा-नागासाकी बन जाएगी। और उसमें करोड़ों मनुष्य-छायाएं पत्थरों पर अंकित होंगी। इस कविता में व्यक्त हिरोशिमा-मिथक उन करोड़ों मनुष्य-छायाओं को रोकने की कोशिश के रूप में भी दिखाया गया है। लेकिन

इस कोशिश को न देखने वाली आंखों में हिंसा का अंधेरा भर गया है। ये कविताएँ उस अंधेरे को कम करने की भी कोशिश करती हैं।

परमाणु-बम के विध्वंस की यातना का दंश ऐसा है जो सदैव सामने रहता है। लेकिन जब अगस्त का महीना आता है तो इसकी टीस तीव्रतर हो उठती है। लगता है यह पुरानी नहीं मानो कल की ही बात हो। शिमा शोसुके ने अपनी कविता नदी पर उतराते पुष्प-गुच्छ के प्रति में इस टीस को व्यक्त किया है-

जब अगस्त का महीना आता है
विक्षुब्ध हृदयों में पुरानी स्मृतियां लौट आती हैं
ताज़ा और गहरी - जैसे कल की ही बात हो।

ऐसा नहीं है इन कविताओं में आक्रोश, घृणा अथवा व्यंग्य का भाव नहीं आया है। आततायी के लिए व्यंग्य और आक्रोश भी यहां मिलता है। लेकिन ऐसी कविताएँ एकाध ही हैं। 'बटन' शीर्षक एक कविता है जिसे हिराकारा हिराको ने लिखा है। 1980 के बाद रचित यह कविता हिरोशिमा और नागासाकी को छोटे-छोटे दो बच्चों का रूपक प्रदान करती है। इसमें दो खिलौने हैं। ये खिलौने उपहार स्वरूप 'प्रेम-भूमि' अमेरिका ने छह और नौ अगस्त को उन्हें दिए। इन खिलौनों

के नाम हैं-लिटिल बॉय और फैट मैन। विदित है कि ये दोनों खिलौने वे परमाणु बम हैं जो क्रमशः हिरोशिमा और नागासाकी पर गिराए गए। इन्हें संचालित करती बटन आकाश में है। ज्यों ही ये खिलौने हिरो-चान् और नागा-चान् की ओर उड़े उसी समय ये बटन दबाए गए। और दोनों बच्चे लुप्त हो गए। जलती हुई उल्का ने पूरे शहर को लपेट लिया और दोनों शहर लुप्त हो गए। वहां के लोग -पेड़-पौधे सब कुछ जीवित से निर्जीव में बदल गए। इस कविता में अमेरिका को व्यंग्य और घृणा में 'प्रेम-भूमि' कहकर अपना आक्रोश व्यक्त किया गया है। कविता की पंक्तियां हैं-

छह अगस्त

प्रेम-भूमि अमेरिका ने उसे उपहार दे डाला

'लिटिल बॉय' उसकी तरफ उड़ा

और आकाश में पहला बटन दबाया गया

कुकुरमुत्ते जैसे बादल ने शहर को छा लिया

और हिरो-चान् लुप्त हो गया...

नौ अगस्त

न्याय-भूमि अमेरिका ने उसे एक विश्वसनीय उपहार दे डाला

'फैट मैन' उसके पास पहुंचा

और दूसरा बटन दबा दिया गया

जलती हुई उल्का ने पूरे शहर को लपेट लिया

और नागा-चान् लुप्त हो गया।

कवि ने इन दो बटनों के बाद एक तीसरे बटन की ओर भी संकेत किया है। लेकिन उसके सामने कोई अड़ा खड़ा है। यह मनुष्यता को पूरी तरह खत्म करने वाला तीसरा बटन होगा। इसके सामने विश्व शांति की कामना करने वाले सभी लोग और विचार खड़े हैं। उसके सामने ये कविताएँ भी मौजूद हैं। इन कविताओं का हिंदी में अनूदित-प्रकाशित होना ऐसे लोगों की संख्या में इजाफा करेगा - जो दुनिया को अगले परमाणु हमले से हमेशा के लिए बचा सकें।

एक अन्य कविता में युद्ध का मानवीकरण किया गया है। उसे एक बूढ़े - ताकतवर व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। युद्ध नाम का यह बंदा अनेक रूप धरता है। वेश बदलता है। इसे चमचमाते तमगे मिले हैं। यह पूरी भद्रता से लाशों को गिनता है। भले ही बूढ़ा हो चला हो लेकिन इसकी ताकत ज्यों की त्यों बनी हुई है। यह संकेत किसी देश पर नहीं बल्कि विश्व के सभी युद्धोन्मादी देशों पर किया जा रहा है। त्सुजिमोतो योशिफुमि की युद्ध नाम का बंदा शीर्षक कविता है-

जीवन और मृत्यु आते-जाते रहते हैं

युद्ध धम्म से आ धमकता है

विविध वेश बदलता अनेक रूप् धरता

कैमरों के सामने भंगिमाएं बनाता

निर्दय

इसे पसंद कर पाना बहुत मुश्किल है

इसे चमचमाते तमगे मिले हैं

यह पूरी भद्रता से गिनता है लाशों को

यह बंदा बूढ़ा हो चला है

पर इसकी ताकत ज्यों की त्यों बनी हुई है...

युद्ध – हिंसा - परमाणु बम का हमला सभी मनुष्य विरोधी जीवन-विरोधी स्थितियां हैं। इन्हें मनुष्य ही सृजित करता है और विनाश भी मनुष्य का इससे होता है। ये कविताएँ मनुष्य की उसी अविस्मरणीय आपराधिक भूल की ओर इशारा करती हैं। इनमें मनुष्यता को बचाने का भाव निरंतर आता रहता है। परमाणु बम ने मनुष्यों को नहीं उसके चिर सहचर पेड़-पौधों को भी हमेशा के लिए खत्म कर दिया। हिरोशिमा के कोकुताइजी मंदिर में लगे बहुत पुराने कपूर के पेड़ के बहाने परमाणु त्रासदी के एक और परिप्रेक्ष्य को सामने लाती है यह कविता। मंद

मंद गंध शीर्षक इस कविता को लिखा है शिमोमुरा काज़ुको ने। इसकी कुछ पंक्तियां हैं-

मनुष्य-निर्मित परमाणु बम ने
केवल मनुष्यों की ही नहीं
वृक्षों की भी हत्या की
हिरोशिमा के कोकुताइजी मंदिर का वह पुराना कर्पूर-वृक्ष
जो प्राकृतिक निधि के रूप में नामित था
विस्फोट के झोंके से
जड़ से उखड़ कर धराशायी हो गया

आज का समय-समाज बहुत आगे बढ़ चुका है। हिंसा पहले के मुकाबले अब ज्यादा बड़े और अचूक तरीके से मनुष्यों पर बरपाई जा सकती है। बरपाई जा भी जा रही है। पहले के मुकाबले आज अनेक देश परमाणु शक्ति संपन्न और असहिष्णु हो चुके हैं। ऐसे में यह कविता संग्रह न केवल जापान के हिरोशिमा और नागासाकी शहरों की बात करता है बल्कि दुनिया में फिर से कहीं पर भी परमाणु बम के प्रयोग की आशंका मात्र को दूर करने की इच्छा जाहिर करता है।

(परमाणु बम की छाया में (हिरोशिमा-नागासाकी परमाणु-त्रासदी से निःसृत कविताएँ) 'हिंदी अनुवाद हरजेन्द्र चौधरी और मिकि युइचिरो, साहित्य अकादेमी)

इस बेहद संकरे समय में एक बेचैन कवि का एकालाप

समकालीन कविता को वर्तमान बेचैनियों से भर देने की कोशिश अच्युतानंद मिश्र की कविताओं में देखी जा सकती है। ये कविताएँ एक ओर जहां परिवर्तन, बदलाव की आग लिए हैं वहीं इनमें निराशा व हताशा की राख भी है। कवि का अपने लिए सचेत लेकिन निष्क्रिय रहने का भाव आत्मधिक्कार को जगाता है। वह रात भर बाहर ठंड में ठिठरते हुए बच्चे और विचारों की चादर ओढ़े कवि-व्यक्ति की टक्कर करा देते हैं। यह विडंबना ही है कि जो विचारवान सचेत लोग हैं वे प्रायः निष्क्रिय बने रहते हैं। यह निष्क्रियता 'जो है' और 'जो होना चाहिए' के बीच के फासले को बढ़ा रही है। अनेक कविताओं में इस फासले की बेचैनी दर्ज है।

कवि मुक्तिबोध की तर्ज पर ऐसे गंभीर प्रश्न खड़े करता है जो वास्तविक संसार ही नहीं कविता के संसार में भी खतरनाक और त्याज्य बना दिये गए हैं। वर्तमान और लगातार संकरे होते जा रहे समय में जीने की जरूरी कोशिश करते लोगों की आवाज इन कविताओं में मिलती है। प्रकृति के गतिशील बिंबों से खुद को जोड़ते हुए रास्तों की तलाश और उसकी बेचैनी का स्वर भी यहां मिलता है।

विद्रोह की चेतना को अग्नि देने का भाव इन कविताओं की विशेषता है। यदि समाज में अत्याचार और दमन है। लोग इसे झेल रहे हैं। कोई इसका विरोध भी कर रहा है, तो लोगों को चाहिए कि अत्याचार का खुलकर विरोध करें। 'म्यांमार की सड़कों पर खून नहीं था' (आंग सान सू की के लिए) शीर्षक कविता में विद्रोह की स्थितियां हैं। लेकिन विद्रोह नहीं हो रहा है। एक अकेले का संघर्ष है लेकिन लोग चुप हैं। दुनिया और देश भर के लोग चुप हैं। लोग भूखे हैं और आत्महत्या कर रहे हैं। इनके ठंडे खून को खून नहीं माना जा सकता। घरों से बाहर आ जेल की दीवारें तोड़ सकने का भाव इनके मन में क्यों नहीं आ रहा है। इसी बेचैनी के भाव को यह कविता व्यक्त करती है।

आजकल देशभक्ति बनाम व्यक्ति की जंग चल रही है। अदृश्य देशभक्ति जीते जागते आदमी को भीड़ का रूप धरकर मार रही है। इससे परेशान वह भी है जिसके सिर पर देशभक्ति का सबसे अधिक दारोमदार है। यानी एक सैनिक। एक

सैनिक भी व्यक्ति है। उसका भी मन है। परिवार है। पत्नी बच्चे हैं। वह भी आराम चाहता है। युद्ध का माहौल. कठिन जीवन स्थितियां उसके जीवन को सुखा रही हैं। ऐसी ही एक कविता है 'निहाल सिंह'। निहाल सिंह के पैरों में, मन में उसके गांव की हरियाली है। वह अपनी बीवी-बच्चों के पास लौट जाना चाहता है। वह छुट्टी लेकर पहुँच जाना चाहता है उन सबके पास। लेकिन उसकी छुट्टी की दरख्वास्त नामंजूर हो गई है। एक ऐसी लाचारी इस कविता में व्यक्त है जो समाज में व्यक्त होने से रह गई है। जिसे व्यक्त करने वाली आवाज 'देशभक्ति' के नारे और शोर के नीचे दबा दी गई है। इंसान को इंसान के खिलाफ फौजों को फौजों के खिलाफ करने वालों के खिलाफ एक दिन खड़ी होंगी फौजें। यह सपना निहाल के बहाने कवि और कवि के बहाने उसके सभी संवेदनशील पाठक सोचते हैं।

व्यक्ति, समाज और देश के बारे में अनेकविध चिंताएं इन कविताओं में व्यक्त हैं। कवि उस व्यक्ति के इतने नजदीक होकर सोचता है कि वह प्रायः 'मैं' रूप में आता है। कथा में वाचक की तरह इन कविताओं का भी वाचक है। वह कवि से ज्यादा साधारण जन है। जो देश के सबसे जरूरी और जरूरतमंद का प्रतिनिधित्व करता है। वह 'मैं' या कहें साधारणजन 'मिलों में, मंडियों में, खेतों में घिसटता हुआ, लुढ़कता हुआ' दिख जाएगा। जिसके पास पैसे नहीं गुजरे दिनों की पूंजी

है सिर्फ। जिसके सामने देश और उसके लोगों के बदले तपेदिक से खांसते पिता का चित्र आता है। देशभक्ति के प्रतीक झंडे को देखकर वह सोचता है ऐसे कितने झंडों को जोड़कर उसकी मां की साड़ी बन सकती है। आजकल तो ऐसी प्रचंड और सर्वव्यापी देशभक्ति फैली है कि झंडों का आकार और देशभक्ति के नारे की आवाज बढ़ती जा रही है। इतने बड़े झंडे जिनसे न जाने कितनी (भारत) माताओं की साड़ियां बन सकती हैं। भारत माता की अदृश्य उपस्थिति के सामने दृश्यमान माताओं को हाशिये पर फेंक दिया गया है।

स्त्री के दुख को व्यक्त करती कविताएँ भी इस संकलन में हैं। 'आंख में तिनका या सपना' और 'सबसे उदास औरत' कविताओं में सपने और उनके टूटने का दर्द बयान किया गया है। टूटने से निकलने वाले आंसुओं को कभी चूल्हे से धुएं और कभी किसी और कारण के नीचे छिपाने की कोशिश मनिया की मां करती है। मिस जोजो भी उसी दुख से जुड़ी है। लेकिन वह इसे छिपाने की कोशिश नहीं करती बल्कि स्पष्ट कह देती है। दुख की निरंतरता चलती ही रहती है दोनों ही स्थितियों में।

प्रकृति को बचाने की चिंता किस प्रकार महज दिखावा बन कर रह गई है इसे 'आखिर कब तक बची रहेगी पृथ्वी' कविता में व्यक्त किया गया है। दुनिया के बड़े शक्तिशाली बीस देश बढ़ते तापमान पर अपनी छद्म चिंताओं में डूबे हैं। वे

नहीं बचा रहे हैं किसानों को। उनकी फसलों को। हरियाली को वे केवल दिखावटी चिंताओं में लिप्त हैं। किसानों की आत्महत्याएं उनके एजेंडे से बाहर हैं। ऐसे में कवि प्रश्न करता है ‘आखिर कब तक/ बची रहेगी पृथ्वी’

दुनिया जैसी है उसे कवि स्वीकार नहीं करता है। जैसी चाहता है वह बना नहीं सकता। दुनिया का वर्तमान स्वरूप या नक्शा बदलकर एक ऐसी दुनिया की तमन्ना कवि करता है ‘जहां हर उठे हुए हाथ में फावड़ा/और हर झुके हुए हाथ में रोटी’ हो। यह दुनिया विषमता से जर्जर है। यहां जो मेहनतकश है ‘पत्थरों को तोड़ते हाथ’ हैं। उन हाथों को ‘फूलों को सहलाने का वक्त’ और सुविधा मयस्सर नहीं। दुनिया के हर शहर में ‘सड़कों पर बहुत है भीड़/पर इंसान नजर नहीं आते’। भीड़ और इंसान का फर्क इन दिनों लगातार बढ़ता जा रहा है। आदमखोर भीड़ शहरों और गांवों में बढ़ती जा रही है। उनमें एक अदद इंसान नहीं मिलता। लेकिन भीड़ जब एक विचार और सार्थक बदलाव की चिंगारी से संचालित होगी इसका इंतजार कवि और समाज को है।

कवि को लोगों का सहते चले जाना, उनका निष्क्रिय रहना नापसंद है। उनमें बेचैनी - चिंगारी और परिवर्तन की इच्छा का अभाव है। वे दाढ़ी बनाते हुए कटने पर उफ्फ तो करते हैं लेकिन सड़कों पर पड़े लाल खूनी धब्बे देखकर चुप रहते हैं। ऐसे लोग सब जगह, सब देशों और शहरों में हैं। कवि इनमें चेतना जगाकर

वर्तमान शोषण पर आधारित व्यवस्था को तोड़-बदल देने की इच्छा व्यक्त करता है।

समाज और व्यवस्था दिनोंदिन मनुष्य विरोधी हो रही है। कवि ऐसे में उल्लास और शांति की बात कैसे कर सकता है। बोलने पर जब जितने पहरे बिठाए जाएंगे कविताएँ उतनी ही तेज आवाज में विरोध का झंडा बुलंद करेंगी। 'आंख में तिनका' संग्रह की कविताएँ अपने समय की अमानवीयता के खिलाफ विरोध की आवाज हैं।

ये कविताएँ वर्तमान मनुष्य, समाज और व्यवस्था से अपना विरोध और बेचैनी दर्ज कराती हैं। इनमें जितनी निराशा है उतनी ही आशा भी है। जो है उसे बदल देने की इच्छा का अभाव निराशा पैदा करती है। ये कविताएँ किसी दिवास्वप्न की भांति नहीं हैं। ये कल्पना की दुनिया में विचरण नहीं करती हैं। इनमें यथार्थ के कांटे और पत्थर हैं। बेचैनी और निराशा इनमें भरी हुई है। बेचैनी पहाड़ से बहती तेजधार नदी की तरह इन कविताओं में सर्वत्र प्रवाहित होती है। इसी बेचैनी से कोई न कोई रास्ता निकालने की कोशिश कवि अपने समय में कर रहा है। वह इस बेहद संकरे समय में अपनी बेचैनी के साथ जी रहा है और रास्ते की तलाश कर रहा है-

सभ्यता की शिलाओं पर
बहती नदी की लकीरों की तरह
हम तलाश रहे थे रास्ते
इस बेहद संकरे समय में!

हमारे समय को बेहद संकरा बनाने वाली कौन-सी स्थितियां और शक्तियां हैं। इसकी पहचान कोई मुश्किल काम नहीं है। ये कविताएँ मानकर चलती हैं कि पाठक उन स्थितियों से वाकिफ है जो हमारे समय को निरंतर संकरा बना रही हैं। ऐसी कम ही कविताएँ हैं जहां उन स्थितियों का वर्णन-चित्रण किया गया हो। मुक्तिबोध और धूमिल की परंपरा से जुड़ा कवि मुक्तिबोध की भांति उस 'प्रोसेशन' में शामिल व्यवस्था के क्रूर चेहरे को कविता में स्पष्ट नहीं करता है। इसका कारण संभवतः यह है कि वे चेहरे अब किसी से छिपे नहीं हैं। उन्हें जान पाना मुश्किल नहीं है। जिन्होंने पूरी व्यवस्था को अपने अधीन बना लिया है वे रात के अंधेरे में नहीं दिन के उजाले में सक्रिय हैं। मुक्तिबोध के समय जो 'प्रोसेशन' अंधेरे में चल रहा था वह अब दिन में बेखौफ खौफ जगाता चल रहा है।

कवि की मूल चिंता व्यवस्था के अमानवीय होने से बनी स्थितियों को दर्ज करने की है। यानी यहां अमानवीय स्थितियों का प्रभाव दिखता है। समय को संकरा

बनाने वाली स्थितियां नेपथ्य में हैं। उस प्रभाव की अनेक बार, अनेक रूपों में प्रस्तुतियां यहां दिखती हैं। यह प्रभाव इतना करीब से दर्ज है कि वह आपका-हमारा लगता है। उसमें मां, पिता, बहन, पत्नी और बेटी सब हैं। एक घर है। जो कहने को ही घर है। अभाव-बेरोजगारी के समुद्र में यह घर डूब रहा है। उसे बचाने की बेचैनी पाठक महसूस करता है।

बेचैनी और उसकी आग कवि जन-मन में जगाना चाहता है। लेकिन जब ऐसा नहीं होता है तो चारों ओर दिखता है ठंडापन। यही ठंडापन कवि-मन में निराशा बनकर उभर आती है। वह प्रश्न करता है इस ठंडेपन पर। इस ठंडेपन से उपजी निष्क्रियता पर। और निष्क्रियता से उपजी-निर्मित अमानवीय स्थितियों पर। कवि को यह प्रश्नाकुलता कबीर और मुक्तिबोध से मिली है। भूख और पेट की आग सतत जल रही है। चूल्हे और मनुष्य में रहने वाली आग अनुपस्थित है। भीतर की आग बाहर के इस ठंडेपन पर चीख रही है। यह चीख इन कविताओं में अनेक जगह सुनी जा सकती हैं-

बस सुलगती हुई इच्छाएं
दम तोड़ती आशाएं
मुंह फाड़े ठंडा चूल्हा था
जो अब तक टूटा नहीं था

आग नहीं थी उसमें

आग सिर्फ भीतर थी

बाहर के ठंडेपन पर

चीखती हुई-सी।

कवि अपने प्रश्नों, बेचैनियों से इस ठंडेपन को खत्म करना चाहता है। ये कविताएँ अग्नि की अनुपस्थिति के साथ-साथ उसकी आकांक्षा की कविताएँ भी हैं। ये कविताएँ अपने समय के प्रश्नों को दर्ज करती हैं। ठंड में बाहर मरते बच्चे और सोते समाज को यहां आमने-सामने रखकर दिखाया गया है। चांद और उसकी भरमाने वाली झूठी रोशनी को नापसंद करता कवि लिखता है-

मैं चांद से बहुत डरता हूं

मुझे सबसे खतरनाक लगती है

चांद की रोशनी

जो उजाले और अंधेरे को झुठलाती है

वह बच्चा भी तो अब तक

किसी पत्थर पर सिर रखे

सोया होगा

पर क्या , उसने कुछ खाया होगा

क्या उसके कपड़ों से बाहर उधड़ी देह

जिससे रिस रहा था खून

सूख गया होगा

क्या किसी ने उसे चादर ओढ़ाया होगा

क्या कल फिर सुबह

सड़कों पर वह यूं ही निकल पड़ेगा

रात को कहां लौटेगा वह

क्या उसने भी मेरी तरह

चांद को गुस्से से देखा होगा

क्या वह बच्चा मैं था

क्यों नहीं था

मैं वह बच्चा

वह बच्चा कोई और क्यों है

अगर पत्थर देश का है

तो बच्चा देश का क्यों नहीं

देश गहरी नींद में सोया था

बच्चा पूरी रात ठिठुरता रहा

और मैं

विचारों की चादर ओढ़े

रात भर भटकता रहा!

इस लंबे काव्य-उद्धरण में वह बच्चा - उसके शरीर से रिस रहे खून और गहरी नींद में सोते देश को एक साथ देखने पर अपने समय की एक तस्वीर सामने आती है। बड़ी भयावह तस्वीर। बड़ी दिलचस्प बात है कि मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'अंधेरे में' में भी एक बच्चा आता है। उसमें भी कवि एक व्यक्ति को देख प्रश्न करता है।

वह फटे हुए वस्त्र क्यों पहने है

उसका स्वर्ण-वर्ण मुख मैला क्यों है

उसके वक्ष पर इतना बड़ा घाव कैसे हो गया

उसने कारावास का दुख क्यों झेला

उसकी स्थिति इतनी भयानक क्यों है

उसे रोटी कौन पहुंचाता है

पानी कौन देता है।

वह बच्चा 'अंधेरे में' नवस्वतंत्र देश का प्रतीक लगता है। यहां वही बच्चा खून बहाता ठंड में ठिठुरता बाहर लेटा है और पूरा देश उसकी जनता गहरी नींद में सो रही है। कवि उस नींद को तोड़ना चाहता है। 'देश बच्चा और मैं' शीर्षक इस कविता में भी चांद को सौन्दर्य का प्रतीक नहीं माना गया है। हिंदी कविता के सौन्दर्य-बोध को यह मुक्तिबोध की देन है। इसे परवर्ती पीढ़ी ने आत्मसात किया है।

अच्युतानंद मिश्र की कविताओं में प्रश्नाकुलता और बेचैनी सर्वत्र उपस्थित है। 'शहर में एक बस्ती थी' कविता में अपार विषमता के दृश्यों पर कवि प्रश्न खड़े करता है। यहां भी वह बच्चा है। गंभीर तथा खतरनाक प्रश्नों को कवि कविता में पूछने की कोशिश करता है। इन प्रश्नों के जवाब यहां अनुत्तरित हैं। ये सवाल हैं-

सवाल यह भी था

कि वह बच्चा

किस देश - किस मिट्टी

किस हवा - किस शहर का है

सवाल था कि उसकी मां
किस युग से चली आई थी
उसका पिता पीठ के बल रेंगकर
शहर की कोठियों में
क्यों चिराग जला रहा था
सवाल था कि
शहर में बस्ती क्यों थी
ये सवाल उदास आंखों की उदासी
हंसते चेहरों के उजास का
पता देते थे
शहर जिनके पांव तले थी
ये बस्तियां
जिनकी छाती पर पैर रख
जवान हुए शहर

कवि इन परजीवी शहरों की आलीशान कोठियों के उजाले और बस्तियों के अंधेरे में अंतर्संबंध बताता है। एक की छाती है तो दूसरे के पैर। एक में अंधेरा है

तो दूसरे स्थान पर उजाला। यह अंधेरा उन उजालों की कीमत पर आया है। वहां के उजाले ने यहां अंधेरा किया है। इसी विषमता पर कवि प्रश्न खड़े करता है।

विषमता और बेरोजगारी, अभाव और गरीबी की स्थितियां इतनी दुर्दमनीय हो गई हैं कि पूरा परिवार उसमें पिस रहा है। सभी असहाय हो गए हैं। सभी एक-दूसरे से पूछते हैं-'क्या करें। करने की निरर्थकता के बाद यह प्रश्न पैदा हो रहा है। कैसे स्थितियों को बदलें। 'शायद कोई बाहर गया' कविता में बहन, मां और पिता पूछते हैं-क्या करें और टूटते घर के साथ टूटते जा रहे हैं-

बहन पूछती है क्या करें

मां पूछती है क्या करें

पिता पूछते हैं क्या करें

आखिर क्या करें

यह घर टूट नहीं रहा

बस धीरे-धीरे तोड़ रहा है सबको

सब धीरे-धीरे टूट रहे हैं इस घर में

एक दिन बचा रह जाएगा बस ये घर

पर क्या घर बचा रह जाएगा

दीवारों से चिपकी ये बुझी आंखें सवाल करती हैं

बदले समय में कविता का प्रयोजन भी बदला है। अब कविता स्वांत सुखाय नहीं रह गई है। न ही कविता का उद्देश्य आनंद की प्राप्ति है। ऐसे में कवि साफ शब्दों में बताना चाहता है कि कविता लिखने का प्रयोजन विरोध और बदलाव है। वह हिंसा, दमन को रोकने वाले हाथों को हाथों से जोड़ने का उद्देश्य लेकर चल रहा है। वह बलिदान के भाव में भरकर कविता नहीं लिखता है बल्कि प्रतिरोध का भाव, एकजुटता जगाने का भाव भरकर कविता रचता है-

मैं इसलिए नहीं लिख रहा हूं कविता
कि मेरे हाथ काट दिए जाएं
मैं इसलिए लिख रहा हूं
कि मेरे हाथ तुम्हारे हाथों से जुड़कर
उन हाथों को रोकें
जो इन्हें काटना चाहते हैं

विषमता के अनेकविध दृश्य हमारे चारों ओर नजर आते हैं। इसे कवि नजर अंदाज नहीं कर सकता। इसे वह कविता में लाकर इनकी विद्रूपता को प्रकट कर देता है। इनमें जहां एक ओर गर्म पकौड़ियां हैं। रोशनी के झाड़ फानूस हैं। वहीं

दूसरी ओर पटरियों पर 'भूख की कतारें' हैं। 'भूख की कतारें' बड़ा ही मारक बिंब है। असंख्य-बेघर भूखी जनता कतारों में बैठी है।

विषमता के देशव्यापी दृश्यों के बीच कवि विडंबना को भी पहचानता है। एक ओर विकसित होने की वैश्विक घोषणा तो दूसरी ओर आत्महत्या करते लाखों किसान हैं। किसे सच मानें-घोषणाओं को या मरते किसानों को। यह समय 'उत्तर-सत्य' का है। ऐसे में जो सच नहीं है उसे सच बताया-बनाया जा रहा है। कवि और कविता 'उत्तर-सत्य' के भ्रम को तोड़ती है। 'ठीक उसी समय' शीर्षक कविता में कवि ने लिखा है-

जब प्रधानमंत्री लौट रहे थे

राष्ट्रपति भवन के जलसे से

जो कि रखी गई थी

किसी विदेशी मेहमान के स्वागत में...

ठीक उसी समय

जब मंत्री ने

साथी अधिकारी के साथ

तय किया

किस विदेशी कंपनी को

बुलाने से ज्यादा फायदा है...

ठीक उसी समय

जब देश के

किसानों ने

तय किया ऐसे में सबसे बेहतर है

आत्महत्या करना

ठीक उसी समय

मिन्टो ब्रिज के नीचे

कड़ाके की सर्दी से

ठिठुरता हुआ एक भिखारी

मरता है

यह सब कुछ ठीक उसी समय

जब अमरीका के राष्ट्रपति ने

घोषणा की-

भारत अब विकास कर रहा है।

भारत के विकास की तेज होती घोषणाओं और किसानों की आत्महत्या की बढ़ती घटनाओं का क्या कोई साम्य है। इस पर विचार करने के लिए कविता बाध्य करती है।

मनोरंजन और सूचना क्रांति ने वास्तविकता को 'आस्वाद्य' बनाकर प्रस्तुत करना शुरू कर दिया है। वे वास्तविकता की प्रस्तुति करते हुए उसे खबर मात्र में बदल देते हैं। भूखा बच्चा उनके लिए खबर है। बाढ़ में डूबता गांव एक खबर है। पानी में डूबते बच्चे की फूली हुई लाश उनके लिए मात्र खबर है। कवि इन मर्मांतक दृश्यों के मात्र खबर बन जाने पर चिंता जाहिर करता है। 'बाढ़-2' कविता की पंक्तियां हैं-

डूबता हुआ गांव एक खबर है

डूबता हुआ बच्चा एक खबर है

खबर के बाहर का गांव

कब का डूब चुका है

बच्चे की लाश फूल चुकी है

फूली हुई लाश एक खबर है

इन खबरों की भरमार और सपाट या चटखदार प्रस्तुतियों ने दर्शकों का मनोरंजन कर दिया है। उसकी संवेदना को बढ़ाने का कार्य वह नहीं कर सकती है। खबरें इतनी तेज और ज्यादा हो गई हैं कि वे भूलने वाला समाज निर्मित कर रही हैं। कविता ‘भूलने के विरुद्ध’ एक प्रयास है। कवि पाठक को चेताता है कि वे हमें भूलना सिखा रहे हैं। अब यह हम पर है कि हम भूलने के विरुद्ध हैं या साथ, ‘बाढ़-4’ कविता में कवि ने लिखा है-

एक डूबते हुए आदमी को

एक आदमी देख रहा है

एक आदमी यह दृश्य देखकर

रो पड़ता है

एक आदमी आंखें फेर लेता है

एक आदमी हड़बड़ी में देखना

भूल जाता है

याद रखो

वे भूलना सिखाते हैं

कवि इस चौथे प्रकार के समाज के विस्तार को रोकना चाहता है। वह हड़बड़ी में सब कुछ जरूरी देखना भूल रहा है। यह भूमंडलीकरण की अपसंस्कृति में जन्मा नया मनुष्य है। संवेदना नहीं उपभोग की चेतना मात्र से संचालित यह नया मनुष्य भूमंडलीकृत समाज बना रहा है। अच्युतानंद मिश्र की कविताएँ इसी समाज को बदलने की बेचैनी से निर्मित कविताएँ हैं।

इस विषमता ग्रस्त देश में सबसे बड़ी आबादी युवकों की है। बिना शिक्षा, रोजगार और साधन के लाखों युवक सड़क पर हैं। अनेक कामों में शामिल होने के लिए स्वतंत्र लेकिन दिशाहीन। ऐसे जवान होते लड़के गरीबी का स्वाद और अमीरी का स्वप्न एक साथ भोग-देख रहे हैं। भूख की खातिर नकली जुलूसों में शामिल हो रहे हैं। सचमुच की भूख से बिलबिलाते इन जवान लड़कों को अलग-अलग बहानों से मारा जा रहा है। ऐसे युवक मर भी रहे हैं और भीड़ बनकर मार भी रहे हैं। 'जवान होते लड़के' कविता उन मरने वाले लड़कों के बारे में है। जब इन्हें मार दिया जाता है तब पुलिस इन्हें 'खूंखार, तस्कर, पॉकेटमार और नशेड़ी' बताती है। मां-बाप के लिए उनकी आंखों के तारे थे। भूखे और जवान दोनों थे। चुपचाप भूखे रहकर मर जाने का हुनर इन्होंने नहीं सीखा था। इन्हें शिक्षा-रोजगार मिलता तो देश आगे बढ़ता। लेकिन ऐसे लाखों-करोड़ों जवान लड़के भविष्यहीन, रोजगार विहीन भूख से परेशान देश भर में घूम रहे हैं।

चुनाव आते हैं और जाते हैं। वादों से देश को बदलने की कोशिश कुछ दिन चलती है। उसके बाद वही स्थिति बनी रहती है जो पहले थी। या कहें स्थितियां पहले से भी बदतर होती जा रही हैं। वादों की संख्या और तरीके नये हो रहे हैं। 'इस चुनाव के बाद' कविता की पंक्तियां हैं-

इस चुनाव के बाद

दिन को कुछ और कहा जाएगा

रातें ऐसी नहीं होंगी

बच्चे खुश रहेंगे हरदम

पत्नी की साड़ी का रंग

हरा – नीला – पीला - लाल

और गुलाबी होगा

पैर और सड़क के बीच

एक जोड़ी अदद चप्पल हुआ करें

लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं होता

बेरोजगारी के प्रभाव और किसानों की स्थिति पर इस संकलन में कई कविताएँ हैं। संग्रह की 'किसान' शीर्षक कविता की अंतिम पंक्तियां आज के समय में

किसान की स्थिति को अचूक तरीके से व्यक्त करती हैं। एक दिन किसान भी किसी विलुप्त प्रजाति की तरह हो जाएंगे। जमीन के भीतर से उनके अवशेष मिलेंगे। लोग कहेंगे यह किसान का माथा है। इसमें से फसल की गंध आ रही है। लोग कुतूहल से यह सब देखेंगे। यह भयावह कल्पना कई सदियों के बाद की है। लेकिन क्या तब तक दुनिया बची रहेगी तब किसान ही लुप्त हो जाएंगे ।

इस प्रश्न का जवाब बहुत मुश्किल नहीं है। कविता की आज के समय में बेहद प्रासंगिक पंक्तियां हैं-

कई सदी बाद

धरती के भीतर से

निकलेगा एक माथा

बताया जाएगा

देखो यह किसान का माथा है

सूंघों इसे

इसमें अब तक बची है

फसल की गंध

यह मिट्टी के

भीतर से खींच लेता था जीवन रस

डायनासोर की तरह

नष्ट नहीं हुई उनकी प्रजाति

उन्हें एक एक कर

धीर-धीरे नष्ट किया गया।

एक सचेत और बेचैन कवि की इन कविताओं का संसार बहुत विस्तृत है। यह कवि का पहला काव्य संग्रह है। आशा है अन्य आगामी संग्रहों में कुछ ऐसे विषयों पर भी कविताएँ होंगी जो यहां दर्ज नहीं हो पाई हैं। कविता में छंद की अनुपस्थिति वर्तमान कविता की पहचान बन गई है। अगर कविताएँ छंद में आने लगें तो उनका विस्तार भी अधिक हो सकेगा।

(आँख में तिनका, अच्युतानन्द मिश्र, यश पब्लिकेशन)

देवनागरी लिपि और हिंदी संघर्ष की यात्रा

देवनागरी लिपि का इतिहास लगभग तीन हजार साल पुराना है। लेकिन इसमें पर्याप्त संदेह है। आज से बाईस सौ वर्ष पूर्व अशोक ने सिंह स्तम्भ पर 'सत्यमेव जयते' नागरी में लिखवाया था, लेकिन यह तथ्य भी पूर्णतः निर्दोष नहीं कहा जा सकता। मुंडकोपनिषद में लिखा हुआ 'सत्यमेव जयते' बौद्ध धर्म ग्रहण कर चुके

अशोक ने अपने धर्मचक्र में क्यों लिखवाया होगा? इस पर विद्वानों की एक राय नहीं है। खैर ईसवी सन् 1000 के आसपास देवनागरी लिपि के अभिलेख बड़ी संख्या में प्राप्त होने लगते हैं, लेकिन जैसा कि विदित है अपभ्रंश और उससे पूर्व पालि, प्राकृत और संस्कृत की लिपि देवनागरी ही थी, इस तरह कहें तो हिंदी और देवनागरी के जन्म का समय-इतिहास अलग-अलग है। अब दोनों एक साथ मौजूद हैं। इस बीच अनेक भाषाएं और लिपियाँ अस्तित्व में आईं और गईं।

समीक्षित पुस्तक 'देवनागरी लिपि और हिंदी: संघर्षों की ऐतिहासिक यात्रा' में शोधपरायण लेखक रामनिरंजन परिमलेंदु ने देवनागरी लिपि के इतिहास और उसकी संघर्ष यात्रा को तथ्यपूर्वक सामने रखा है।

हिंदी भाषा से पहले अपभ्रंश का चलन था। यह तथ्य सबको पता है, लेकिन कभी-कभी यह विचार भी मन में आता है कि अगर अपभ्रंश की लिपि देवनागरी न होकर कोई और रही होती तो भी क्या हिंदी की लिपि देवनागरी ही होती? शायद नहीं, भाषा और लिपि का आवयविक संबंध नहीं होता है। भाषा और लिपि दोनों का अलग-अलग अस्तित्व होता है। दोनों की दो सत्ताएँ हैं। उन्हें एक साथ बैठाने का काम बाद में होता है। इसी रूप में हिन्दी और देवनागरी पर भी बात करनी चाहिए।

हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास एक हजार वर्ष पुराना है। कुछ विद्वान इसे आठवीं शताब्दी तक ले जाने की बात करते हैं। हिन्दी के अस्तित्व में आने के बाद से ही उत्तर और मध्य देश की भाषा को एक चुनौती मिली। यह चुनौती अरबी-फारसी भाषा और लिपि से मिली। सल्तनत काल, खिलजी काल, मुग़ल काल की भाषा और लिपि फारसी थी। सत्ता की भाषा ही हमारे देश में स्वीकृत भाषा बनती रही है। जनता धीरे-धीरे मन-बेमन से उसी भाषा की ओर बढ़ती दिखाई देती रही है, इसलिए फारसी ज़बान और लिपि ने हिन्दी और देवनागरी को पीछे ढकेल दिया। लेकिन उसका प्रयोग आम लोगों में होता रहा। रामनिरंजन परिमलेंदु ने इस संदर्भ में लिखा है- "भारत में मुसलमानों का युग पृथ्वीराज की पराजय और शहबुद्दीन गोरी (मुहम्मद गोरी) की विजय के बाद ही प्रारंभ हुआ। भारत में मुगल राजत्वकाल के प्रारंभ से ही देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा के अतिरिक्त फारसी लिपि और फारसी भाषा का प्रचार हुआ।" (पृ. 13)

फारसी के प्रचलन से हिन्दी भाषा और देवनागरी का प्रयोग बंद नहीं हुआ। वह जनता और शासन के कार्यों में भी कमोबेश चलती रही। अब जीविकोपार्जन की भाषा फारसी बन गई। जैसे आजकल अंग्रेजी बन गई है। राजकाज के अधिकांश कार्यों में फारसी का प्रयोग किया जाने लगा। सरकार के कार्यों की भाषा फारसी बन गई तो हिन्दी और देवनागरी का वह स्थान और सम्मान न रहा

जो इससे पहले था। इस तथ्य के साथ यह भी उल्लेखनीय है कि अकबर ने अपने पौत्र खुसरो को 1593 ई. में हिन्दी विद्या दिलवाना प्रारंभ किया था। रामनिरंजन परिमलेंदु ने लिखा है- ''बादशादी दफ्तरों से हिन्दी भाषा और उसकी लिपि के बहिष्कार करने के बावजूद, अकबरनामा के अनुसार, अकबर ने अपने पौत्र खुसरो को 7 आज़र सन् 38 जलूसी तदनुसार अगहन सुदी 6 विक्रम संवत 1650 से हिन्दी विद्या का प्रारंभ कराया।'' (पृ. 15)

बादशाहों के सिक्कों में भी देवनागरी का प्रयोग कुछ-कुछ होता रहा। यानी मुग़ल शासन में देवनागरी का बहिष्कार नहीं था। जिस भाषा को वे जानते थे उसमें राजकाज किया। देवनागरी के प्रति भी समाज का स्वीकार्य नजरिया बना रहा। जिसका प्रमाण अकबर के संदर्भ में देखा गया।

अंग्रेजों के आगमन और सत्तासीन होने के बाद भी देवनागरी का प्रचलन अंग्रेजी और फारसी के साथ होता रहा। ईस्ट इंडिया कंपनी ने 1793 में एक संविधान बनाया। उसके पहले अनुच्छेद की दूसरी धारा देवनागरी लिपि को सरकारी मान्यता दी गई। लेकिन पिछले शासकों की तरह वे समन्वयकारी की जगह विभाजन पसंद मनोवृत्ति पर चलने के पक्षधर थे। इसलिए उन्होंने अपनी एक राय नहीं बनाई। भाषाई आधार पर लोगों को बाँटते और अपनी राय बदलते रहे। 1835 ई. में उन्होंने नियम बनाकर देवनागरी लिपि को सरकारी कार्यों से बाहर

कर दिया। यानी के नियम के बाद दूसरा नियम बनाकर अपनी नीति बदल ली। रामनिरंजन परिमलेंदु लिखते हैं- “अधिनियम संख्या 10 धारा, 3 सन् 1809 ई. के तहत ईस्ट इंडिया कंपनी सरकार के सिक्कों पर फारसी और देवनागरी लिपियों की प्रविष्टि हुई थी। किन्तु उसके मात्र छब्बीस वर्ष बाद अधिनियम संख्या 17, सन् 1835 ई. के अंतर्गत जो 1 सितंबर, 1835 ई. से प्रभावी हुआ, सिक्कों से देवनागरी लिपि का उन्मूलन कर दिया गया।” (पृ. 23)

इस तरह से देखें तो देवनागरी लिपि का इतिहास काफी संघर्षों से भरा रहा है। कभी उसे सत्तापक्ष ने स्वीकार कियूआ, कभी अस्वीकार। लेकिन ईस्ट इंडिया कंपनी में भी कई ऐसे लोग थे देवनागरी लिपि के पक्षधर थे। उनमें से एक थे फ्रेडरिक जान शोर। उन्होंने देवनागरी के क्षण पर रोमन लिपि के सुझाव की आलोचना की। इससे होने वाली असुविधा और करोड़ों लोगों की चिंता समझी। उनके पक्ष को सामने रखते हुए रामनिरंजन परिमलेंदु ने लिखा है- “फ्रेडरिक जान शोर ने ‘वर्नाक्यूलर लैंग्वेज अर्थात देशीय भाषा के रोमन लिप्यंतरण के सुझाव की बड़ी तीखी आलोचना की और इस सुझाव को अमान्य कर दिया। रोमन लिपि भारत की लिपि नहीं है। यह वेडेसही लिपि है। किसी आती विशाल जनसंख्या पर विदेशी लिपि का बलपूर्वक लड़ने के औचित्य को उसने अस्वीकार किया।” (पृ. 28) इसमें एक मोड़ भी आया, इसका समय हंटर

कमीशन से पहले का है। सर विलियम जोन्स ने कलकत्ता में एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की। उन्होंने 1784 में सभी एशियाई भाषाओं के लिए एक लिपि प्रदान करने का विचार प्रस्तुत किया। उन्होंने इसके लिए रोमन लिपि को संशोधित कर स्वीकार करने का सुझाव दिया। यह सुझाव लेकिन दूर तक नहीं चला।

19 वीं शताब्दी के अंत में 1882 ई. में अंग्रेज सरकार ने हंटर आयोग की स्थापना की। इस आयोग ने भी भाषा-विवाद को बढ़ाया, हिन्दी-उर्दू, देवनागरी-फारसी का विवाद इस समय का बड़ा विवाद बना। यह विवाद भाषा के साथ लिपि का भी विवाद था। अनेक विद्वानों ने हिन्दी और देवनागरी के समर्थन में अपनी बात रखी। इस समय चल रहे आंदोलन को देवनागरी लिपि का आंदोलन था- यह भाषा का आंदोलन नहीं था। यह उर्दू अक्षरों के स्थान पर देवनागरी लिपि की सरकारी मान्यता का आंदोलन था। सरकारी कामकाज में इस लिपि को जनहित में व्यापक रूप से प्रचलित करने का आंदोलन था।" (पृ. 69)

भारतेन्दु युग में भाषा-विवाद और लिपि का आंदोलन नए सिरे से चला। भारतेन्दु हिन्दी भाषा को सब उन्नति का मूल मानते थे। बिना 'निज भाषा के ज्ञान के हृदय की पीड़ा नहीं मिट सकती। लेकिन देवनागरी और फारसी लिपि विवाद में उन्होंने विशेष रुचि नहीं ली। इस संबंध में परिमलेंदु जी लिखते हैं-"अपने साहित्यिक

जीवन के पूर्वार्द्ध में भारतेन्दु हरिश्चंद्र देवनागरी लिपि आंदोलन की सम्पूर्ण व्यापक गतिविधियों से सुपरिचित थे, किन्तु उसके प्रति उन्होंने नकारात्मक दृष्टिकोण ग्रहण कर लिया था। वे हिन्दी भाषा की उन्नति एवं समृद्धि के कट्टर पक्षधर थे। वे देवनागरी और फारसी लिपियों के विवाद को तुच्छ समझते थे और इस विवाद में अपनी ऊर्जा, अपना समय नष्ट करना, उनकी दृष्टि में निरर्थक था।" (पृ. 69) वहीं राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का विरोध किया लेकिन देवनागरी का समर्थन किया। वे फारसी को दुष्पाठ्य बताते हैं। पंडित बालकृष्ण भट्ट ने देवनागरी लिपि को न केवल हिन्दी भाषा के लिए बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं के लिए प्रयोग करने पर बल दिया। भटतजी के मत को व्यक्त करते हुए परिमलेंदु जी ने लिखा है- "हिन्दी प्रदीप' अप्रैल, 1882 ई. में 'प्रार्थना' शीर्षक संपादकीय अग्रलेख में यह मत व्यक्त किया कि देवनागरी लिपि अर्थात नागराक्षर सम्पूर्ण भारत के राजकार्य में प्रचलित किए जाएं, सभजी न्यायालयों एवं दरबारों में फारसी लिपि के स्थान पर देवनागरी लिपि में कार्यवाही हो और इस लिपि में हिन्दी, उर्दू, मराठी, पंजाबी आदि भाषाओं की पुस्तकों का प्रकाशन हो क्योंकि इस लिपि में प्रत्येक व्यक्ति की बोलचाल के अनुकूल उच्चारण निकलते हैं।" (पृ. 84) इस बात का समर्थन बाद में अनेक प्रख्यात विद्वानों ने किया।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 1903 में ‘सरस्वती’ पत्रिका में तीन लेख लिखे। इन लेखों में उन्होंने ‘देशव्यापक भाषा’ के रूप में हिन्दी और लिपि रूप में देवनागरी की अनुशंसा की। उनके मत को व्यक्त करते हुए परिमलेंदु जी ने लिखा है- “आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ‘देशव्यापक भाषा’ शीर्षक से एक तर्कपूर्ण विवेचनात्मक गंभीर विनिबंध लिखा था जो ‘सरस्वती’ में सितंबर से नवंबर तक धारावाहिक रूप में तीन अंकों में प्रकाशित हुआ। उक्त विनिबंध में द्विवेदी जी ने हिन्दी को देशव्यापक भाषा का गौरव प्रदान करने हेतु भारत की प्रांतीय भाषाओं के देवनागरी लिप्यंतरण की अनुशंसा की।” (पृ. 87) बाबू श्यामसुंदर दास ने भी भारत की समस्त भाषाओं की लिपि देवनागरी बनाने का विचार रखा। लोकमान्य तिलक ने देवनागरी लिपि को भारतीय भाषाओं के लिए एकमात्र लिपि माना।

देवनागरी लिपि को लेकर महात्मा गांधी के विचार अपने समय के साहित्यकारों और नेताओं से भिन्न थे। वे हिन्दी भाषा के पक्षधर अवश्य थे लेकिन उन्होंने देवनागरी और फारसी दोनों ही लिपियों को बरतने की छूट देने की बात कही। देश की परिस्थिति और लोकतान्त्रिक रुख के कारण यही मान्यता उचित भी जँचती है, जैसे अन्य भाषाएं और लिपियों को भी हिन्दी का भय नहीं दिखाया जाना चाहिए। अंग्रेजी और रोमन की जो भूमिका हिन्दी और देवनागरी के संदर्भ

में है वही भूमिका हिन्दी और देवनागरी को अन्य भारतीय भाषाओं के प्रति नहीं अपनानी चाहिए।

इस पुस्तक में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के इतिहास और भौगोलिक विस्तार की खोज की गई है। इसकी रह मेन अब तक जीतने उतार चढ़ाव आए, विरोध-समर्थन के दौर आए-हाए, उन्हें तथ्यपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया गया है। साहित्यकारों, नेताओं और हिन्दी क्षेत्र और हिंदीतर क्षेत्रों, हिन्दी भाषी और अहिंदी भाषी विद्वानों के विचारों और देवनागरी लिपि का पक्ष प्रस्तुत किया है, इसमें लेखक का पक्ष साफ तौर प्रा देवनागरी के लिए जाहीर होता है। इन विचारों का प्रस्तुतीकरण देवनागरी की स्थिति और महत्त्व को दिखाता है। लेकिन इसमने लेखक रामनिरंजन परिमलेंदु ने फारसी लिपि के पक्षधरों की बात उतनी नहीं की है जितनी हिन्दी और देवनागरी के पक्षधरों की। कहीं-कहीं हिदनी और देवनागरी का पक्ष लेते-लेते लेखक हिन्दू धर्म से भाषा का संबंध जोड़ देते हैं, जबकि भाषा का संबंध क्षेत्र से होता है धर्म से नहीं। दुनिया के सभी धर्मों के लोग अपने-अपने क्षेत्रों में बोली जाने वाली भाषाओं और लिपियों का प्रयोग करते हैं न कि धर्मानुसार किसी एक भाषा का।

टोडरमल की अदूरदर्शिता पर अपना रोष प्रकट करते हुए रामनिरंजन परिमलेंदु उन्हें हिन्दू मानकर हिन्दी का स्वाभाविक पक्षधर होने की बात करते हैं। लेकिन

जब ऐसा नहीं हुआ तो वे लिखते हैं- “निष्कर्ष यह कि प्रायः एक हजार वर्षों तक मुस्लिम बादशाहों के दफ्तरों में देवनागरी लिपि प्रचलित रही। किन्तु एक हिन्दू प्रधानमंत्री और हिन्दी के कवि राजा टोडरमल की अदूरदर्शिता से हिन्दी बादशाही दफ्तरों से खारिज कर दी गई।” (पृ. 15)

भाषा, लिपि और धर्म में कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। इसे कट्टरता अपने पक्ष मे बनाने का घृणित कार्य करती रही है। इसमें लचीला रुख ही सर्वथा व्यावहारिक होता है। भाषा और लिपि सदैव एक जैसी न रही हैं। न रहेंगी। इनके प्रति लेखक का अतिरिक्त बल स्वाभाविक है लेकिन कहीं-कहीं यह अतिरंजित भी लगता है।

बहरहाल, इस पुस्तक में देवनागरी लिपि पर काम करने वाले शोधार्थियों के लिए विपुल सामग्री का संकलन रामनिरंजन परिमलेंदु जी ने किया है जिसकी सराहना की जानी चाहिए।

(देवनागरी लिपि और हिन्दी संघर्षों की ऐतिहासिक यात्रा, रामनिरंजन परिमलेंदु, राधाकृष्ण प्रकाशन)

गुरु की खेती-बारी

साहित्यकार विश्वनाथ त्रिपाठी ने गुरु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का पुण्यस्मरण कर उनकी जीवनी लिखी है: 'व्योमकेश दरवेश'। अब आकाशधर्मा गुरु के समान शिष्यवत्सल गुरु विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपनी आत्मीयता के अनुभव के आस्वाद - शिष्यों पर पुस्तक लिखी है: 'गुरुजी की खेती-बारी' । इस पुस्तक में शिष्यों के बारे में लिखने से पूर्व अपने आदिगुरु रच्छा राम पंडित का स्मरण किया गया है। ये उनके गांव बिस्कोहर के गयाप्रसाद शिवाला में फूलपुर गांव से आकर पढ़ाते थे। उस पाठशाला में उन दिनों न नाम लिखाया जाता था और न लाड़-प्यार का दिखावा किया जाता था! पढ़ाना और पीटना साथ-साथ चलता था। न पाठ्यक्रम, न पुस्तकें, न परीक्षा। इतना अनौपचारिक विद्यालय- जो आ जाए सो विद्यार्थी। जो न आ पाए तो उसे पंडित रच्छा राम घर जाकर स्कूल लिवा लाते।

लेखक विश्वनाथ त्रिपाठी के बचपन की ऐसी ही एक घटना है- "एक बार मैं बीमार पड़ गया। दो-तीन दिन तक स्कूल नहीं गया। चौथे या पांचवें दिन पंडित रच्छा राम मेरे घर आए और अगले दिन मेरे घर आकर मुझे अपने साथ स्कूल ले गए।" बिना दाखिले वाले विद्यालय के मास्टर भी अपने विद्यार्थियों की हाजिरी मन में लेते ही होंगे। दुर्लभ गुरु-शिष्य संबंध तब सामान्य था। अब अकल्पनीय लगता है ।

एक घटना और है। यह इस किताब में दर्ज नहीं है। लेकिन किताब में दर्ज संस्मरणों की पूर्वपीठिका है। यह घटना बिस्कोहर से दूर बनारस की है। लेखक तब कानपुर से बनारस आ गए थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का शिष्यत्व पाने उनके घर गए। गुरु और शिष्य के प्रथम मिलन की यह घटना संवादों में दर्ज है "मैंने लपककर चरण-स्पर्श किया। 'कैसे आए हो?' 'आपकी शरण में आया हूं। असहाय हूं। आपके चरणों का आश्रय पाकर मेरा जीवन बन जाएगा।' 'कोई दूसरा किसी का जीवन नहीं बनाता। तुम अपना जीवन खुद बना बिगाड़ सकते हो।' 'मैं एम.ए. में प्रवेश पाना चाहता हूं। आपका शिष्यत्व मुझे प्राप्त हो जाएगा।' 'कैसे नंबर थे बी.ए. में?' 'लगभग साठ प्रतिशत, तीन अंकों की कमी से फर्स्ट क्लास रह गया। हाई स्कूल, इंटर में फर्स्ट क्लास था। कानपुर में अध्यापक आशा करते थे कि यूनिवर्सिटी में टॉप करूंगा। प्रथम श्रेणी भी नहीं आई। शर्म के मारे वहां से भाग आया हूं। पं. राम सुरेश त्रिपाठीजी ने कहा था।' मैं पता नहीं कैसे यह सब कह गया। बोलते समय घबराहट में मैंने क्या कहा, पंडितजी ने क्या सुना कह नहीं सकता। 'कुछ आर्थिक कष्ट है?' 'उसका प्रबंध मैं कर लूंगा। मुझे बस आपकी कृपा चाहिए।' 'जब तुम मेरे शिष्य हो गए तो गुरु-शिष्य से बढ़कर आत्मीय संबंध और कौन होता है?"

यही अंतिम वाक्य- गुरु-शिष्य से बढ़कर आत्मीय संबंध और कौन होता है- उन चालीसेक वर्षों की अध्यापकीय यात्रा का पाथेय-मंत्र बना, जिसे इन संस्मरणों में प्रकट किया है।

इस पुस्तक में उन छात्र-छात्राओं के संस्मरण हैं, जो अपनी जीवन-स्थितियों में असामान्य थे। जहां असामान्यता वाली बात निकलकर नहीं भी आ रही है, वहां ऐसी घटनाएं जरूर हैं जो अध्यापक-लेखक के मन पर अमिट निशान छोड़ गई हैं।

उनकी इस विचित्र मास्टरी का पहला अनुभव भी बिस्कोहर से ही जुड़ा है। अध्यापक विश्वनाथ त्रिपाठी और विद्यार्थी चंद्रकलाधारी त्रिपाठी। यानी छोटे भाई शेर सिंह यहां भी पढ़ाई-पिटाई साथ-साथ इस संस्मरण का शीर्षक है पिटते-पिटते बचे 'गुरुजी'। गुरुजी यानी लेखक ! शेरसिंह छोटे बस उम्र में ही थे, डील-डौल में नहीं। हाथ से कैनी छीन कर गुरुजी मुद्राधारी बड़े भाई को भी लगाने का भाव और सामर्थ्य रखते थे। पीटने पर आमादा मास्टरी मुद्रा वाले बड़े भाई ने जानबूझकर मुश्किल सवाल दिया। गलत करने पर पीठ पर छड़ी लगाई। एक-दो बार की पिटाई से हुए दर्द को आंसू बहाते हुए शेरसिंह ने सह लिया। लेकिन जब "तीसरी बार हाथ उठाया तो उसने हाथ पकड़ के कैनी हाथ से छीन ली। अब आंसू छलछलाने वाली बात नहीं थी। हिचक-हिचककर रो रहा था, कैनी उठाकर

रोते हुए ही बोला “अब्बै हम एक ठो जमा दें तो कैसन लागी ?" गुरुजी पीटते हुए पिटते पिटते बचे।

अध्यापकी का दूसरा अनुभव बनारस से जुड़ा है। शिष्य थे लालजी और गिप्पी । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के पुत्र । यहां भी लालजी यानी मुकुंद द्विवेदी बिलकुल शेरसिंह की भांति प्रस्तुत । जब गुरुजी - लेखक विश्वनाथ त्रिपाठी ने लालजी के कान खींचे तो वे गुरुजी को अपने दादा टाइप मित्रों का हवाला देकर पिटवाने की धमकी देते।

विधिवत अध्यापकी मिली 1958 में नैनीताल के देवीसिंह बिष्ट महाविद्यालय में। लगभग ग्यारह महीने वहां अध्यापन किया। उम्र तब 27 की थी। दुबले-पतले होने के कारण लगते और भी कम के। ऐसे, लड़के जैसे लगने वाले अध्यापक को तंग करने की योजना छात्रों ने बनाई। अध्यापक का विद्यार्थियों से पहला विधिवत मनोरंजक परिचय इस प्रकार हुआ - "मैं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कक्षा-अनुशासन और अध्यापन प्रद्धति का उत्साह लेकर क्लास में दाखिल हुआ। क्लास में खचाखच भीड़। 75 लड़कों का नाम रजिस्टर में, संख्या कम से कम 150 की थी। छात्र-छात्राओं ने कहा, "नया टीचर आया है, लड़के जैसा लगता है। चलो, मजा लें। आज पहली क्लास है उसकी।" सीनियर अध्यापक डॉ. पुत्तुलाल शुक्ल ने

समझाया, “घबराइएगा नहीं। एक है— चंद्रशेखर चंदोला। एक नंबर का शातिर है। बच के रहिएगा। क्लास में इतनी चीख-पुकार कि हाजिरी लेने में छात्र-छात्रा का नाम ही न सुनाई पड़े। मुझे उन जाति-नामों से परिचय नहीं था। वे मुझे अपरिचित लगते। रोमन लिपि में लिखा उनका नाम भी मैं ठीक से नहीं ले पाता। सानवाल, थपलियाल, बड़थ्वाल, कपकोटी- इनका ठीक-ठीक उच्चारण करने में गड़बड़ा जाता। मैं रुआंसा, कहां फंस गया? काशी की सारी विद्या व्यर्थ! सारा तेज - हवा! क्लास में ऐसी चिल्ल-पों कि मैं असहाय अध्यापक कुछ बोलने का प्रयास करूं तो चीख, चिल्लाहट, शोर और बढ़ जाए।" हुई होगी।

इसके बाद का वृत्तांत और रोचक किंतु विस्तृत है। चंद्रशेखर ने भी अपने ढंग से तंग किया। अध्यापक बनने का रोमांस चूर-चूर होने लगा। लेकिन यह स्थिति जल्द ही आत्मीयता में बदल गई। जब नौकरी दिल्ली के किरोड़ीमल कॉलेज में लगी तो वहां से मयसामान बस से काठगोदाम आकर दिल्ली की ट्रेन पकड़ी। स्टेशन पर विदाई देने अनेक छात्र आए। उनमें चंद्रशेखर भी। छात्रों के स्नेह को देखकर एक यात्री ने पूछा- कब से आप पढ़ा रहे थे?" मैंने कहा, ग्यारह महीने से।" उस समय में बने और बनने जा रहे देश और उसकी राजधानी की एक अच्छी-खासी छवि इसमें मिलती है। बिल्कुल ऐसी मानो दिल्ली के पचास साल पहले के चित्रों की प्रदर्शनी लगी हो। इतनी मनोहर प्रदर्शनी, जिसमें सबके

लिए कुछ-न-कुछ दृश्य सुरक्षित हैं। दिल्ली आए तो दिल्ली की चकाचौंध मन में बस गई। राजनेता से लेकर बड़े रचनाकारों तक सबसे मिलना सुलभ था। वे सब यहां आसानी से मिलते-दिखते थे। लेखक इस माहौल का इतना तटस्थ और प्रभावशाली वर्णन करते हैं कि खुद को खुद से अलग करके देखने लगते हैं। खुद को कई जगह अन्य पुरुष में भी लिखते हैं। इसी दुनिया में गुरुजी भी हैं और उनके अपने विद्यार्थियों की दुनिया भी। इसमें योग्य-अयोग्य विद्यार्थी हैं । निम्नवर्गीय-निम्नमध्यवर्गीय उम्रदराज होते बेरोजगार लड़के-लड़कियां हैं। उनकी महाकाव्य पीड़ा है। उनका टीस भरा असहाय कर देने वाला बयान है। पढ़ने और आगे बढ़ने के साथ-साथ पीछे छूट गए विद्यार्थी हैं। उनकी पारिवारिक स्थितियां, दुख-दर्द, संघर्ष, खुशियां गम यहां दर्ज हैं।

छात्र-छात्राओं की इन मनोदशाओं का जिक्र किताब में बार-बार आता है। हिंदी पढ़ने वाले विद्यार्थियों की आर्थिक पारिवारिक स्थिति और सपने कमोबेश एक जैसे होते हैं। लड़के लड़कियां नौकरी लायक होकर अनेक वर्षों तक इंतजार की सलीब पर टंगे रहते। यह स्थिति कमोबेश आज भी वैसी ही है। कुछ बढ़ोतरी ही हुई होगी। लेकिन शिष्यों की ऐसी दशाओं पर सोचने और उसे लिखने वाले अध्यापक अब हैं नहीं।

इस अनिश्चय में अनेक तरह के रोजगारपरायण कौशलों का भी प्रयोग किया जाता था। चापलूसी, चुगली, निंदा-प्रशंसा, संपर्क साधन की गतिविधियां होतीं। नौकरी पाने की जुगत लगाई जाती। अच्छे-बुरे सभी तरह के काम करने पर लड़के-लड़कियां मजबूर होते। अध्यापक इन सब गतिविधियों और उनके निहित कारणों को समझते। फिर दया, घृणा, करुणा, उपेक्षा, जो उपयुक्त समझते, देते। इनमें सभी छात्र-छात्राएं जुगाड़ू नहीं होते। लेकिन जो जुगाड़ू होते, उन्हें भी पुस्तक ने खलनायक नहीं माना। उनके अंतर्मन को खोलने की कोशिश की है।

एक थे श्री धवन। उनका किस्सा बड़ा नाटकीय है। उन दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री सी. डी. देशमुख थे। बड़ा ही ऊंचा कद था उनका। धवनजी ने अपने कॉलेज के प्रिंसिपल को सलाह दे डाली कि उपकुलपति को आमंत्रित करें, कुछ को योग्यता का, विशिष्ट योग्यता का प्रमाणपत्र उनके हाथ से दिलवाते हुए फिर खुद उपकुलपति को भी विशिष्ट सम्मान से विभूषित करें। प्रिंसिपल सेठी सीधे-सादे आदमी थे। धवन के कहने में आ गए। धवन ने चुन-चुनकर अपने लोगों को पुरस्कार समारोह में उनके हाथों योग्यता के प्रमाण-पत्र दिलवाए। अचानक लोगों ने देखा कि उपकुलपति चिंतामणि द्वारिकानाथ देशमुख ने एक सबसे विशिष्ट बड़े प्रमाण-पत्र को बीचोंबीच से फाड़कर दो टुकड़े करके फेंक दिया। उनका चेहरा लाल पुरस्कार

का वह प्रमाण-पत्र खुद उपकुलपति के लिए था। उसके बाद श्री देशमुख ने भाषण भी नहीं दिया। सभागार से बाहर निकलते हुए प्रिंसिपल सेठी से कहा, "मेहरबानी करके मुझसे कल आप सबेरे दस बजे ऑफिस में मिल लीजिए।" विद्या जगत में चापलूसी के और उन्हें रोकने के भी इस तरह के किस्से भी 'गुरुजी की खेती-बारी' में हैं।

ऐसे छात्र-छात्राओं का भी स्मरण पुस्तक में किया गया है, जिनकी याद सालती है। वे अब इस दुनिया में नहीं हैं। इनमें से एक थे सतीश वशिष्ठ । वे हिंदुस्तान के संपादकीय विभाग में नौकरी करने लगे थे। कई बार गुरुजी से सतीश वशिष्ठ मिलने आए लेकिन दुर्भाग्यवश भेंट नहीं हो पाई। बाद में उनकी असामयिक मृत्यु हो गई। अब उनकी याद गुरुजी को बड़ी सालती रहती है। एक शिष्य थे श्रीप्रकाश रंग काफी दबा हुआ। औसत से लंबे-पतले बिहार के मुजफ्फरपुर के एक साधारण से परिवार से परिवार और बहनों की शादी की चिंता से दबे हुए। लड़के-लड़कियों का हाथ भी देखते थे। भाग्यफल बताते थे। किसी-किसी साथी का हाथ देखकर चेतावनी भी देते। साथी नीरज कुमार की उंगलियों का देखकर कहा, आपमें आत्महत्या की प्रवृति है। बच के रहना। लेकिन खुद को ऐसा करने से नहीं रोक पाए।

इसी प्रकार एक छात्र थे- दीपक, जिनमें इस तरह की आत्महंता प्रवृति तो नहीं थी लेकिन वे अपने अडिग विचारों और मानसिक तनाव की भेंट चढ़ गए। वे अपने आदर्श, विचार और असामयिक निधन की वजह से गुरुजी की स्मृति में हैं: “दीपक सांवले से कुछ दबे हुए रंग का सलोना, स्वस्थ और खुल कर बात करने वाला छात्र था। बेकार की बात नहीं करता। एक और सिफत थी। झूठ नहीं बोलता था। बात न करनी हो, तो पूछने पर भी नहीं बताता, चुप्पी मार लेता, लेकिन झूठ नहीं बोलता। खद्दर का कुर्ता, खुली मोहरी वाला पाजामा पहनता। पोशाक छात्र नेता जैसी। बोलते समय उच्चारण और लय में अतिरिक्त दृढ़ता प्रकट होती। जिसकी आलोचना करता - सर्वत्र करता, उसके सामने भी, पीठ पीछे भी।"

बहुत कम उम्र में ही कैंसर से उनका देहांत हो गया। अंतिम समय में गुरुजी उन्हें देखने गए। संज्ञाहीन शरीर में गुरु को देखकर हलचल हुई। आंखों में हरकत हुई। गुरु ने शिष्य के चरणों का स्पर्श किया और कहा, जाओ। वहां कोई नहीं है। तुम्हारे लिए शांति पाने की जगह वहीं है।

अपने छात्रों का जीवन, परेशानियां, दुख-दर्द, जीवन-संघर्ष, सफलताएं-असफलताएं, छल-कपट तक सब यहां दर्ज हैं। दो छात्र ऐसे थे जिन्होंने अपनी अपंगता को अपने जीवन की बाधा नहीं बनने दिया और आज बेहतर सुखद

जीवन बिता रहे हैं। दोनों ही दृष्टिहीन। भाई-बहन, माता-पिता ने उन्हें सामान्य दुनिया में रहने-सहने के लिए तैयार किया। अब दोनों दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन कर रहे हैं- प्रीति अडालजा और नीरव अडालजा दक्षिण कोरियाई छात्रा किम और उसके दो घूंसे भी संस्मरणों में सुरक्षित हैं।

आत्मविश्वासी अपरिग्रही और गुरु को आश्वस्त निश्चिंत करते छात्र नीरज और वेदप्रकाश के बारे में गुरु ने लिखा- "ये अत्यंत साधारण घरों के थे। नौकरी की इन्हें सख्त जरूरत थी। नीरज ने कभी जबान नहीं खोली। वेदप्रकाश की शादी बचपन में ही हो गई थी। दो संतानें भी थीं। खुद उम्र तब 26 की रही होगी। एक दिन मुझे परेशान समझकर बोले, आप हम लोगों की चिंता न करें। मेरा काम तीन-चार हजार रुपए महीने में चल जाएगा और इतना मैं कमा लूँगा।" शिष्य विद्वान हों, यशस्वी हों, इससे अध्यापक को गौरव बढ़ता है, लेकिन वे ऐसे अपरिग्रही हों, तो उनका व्यक्तित्व ही उस सौंदर्यबोध का प्रतीक बन जाता है, जिसकी हमें, हमारे दौर को प्रतीक्षा है।"

इन लेखों में कोई समाजशास्त्री पिछले 80 वर्षों में बदले बने समाज को देख सकता है, शिक्षाशास्त्री शिक्षा की बदलती परिपाटी को पकड़ सकता है। इन लेखों में दिल्ली और छात्र अध्यापक संबंध ही नहीं, देश का एक दौर जीवंत दृश्य रूप में मौजूद है। इतना जीवंत, जिसे हम इन पन्नों पर धड़कते, सांस लेते

देख सकते हैं। गद्य ऐसा कि हर घटना दृश्य बनकर सामने आती है। घटनाएँ इतनी तटस्थ और नाटकीय रूप में प्रस्तुत हैं कि इस किताब की कई घटनाओं का मंचन भी आसानी से किया जा सकता है।

(गुरुजी की खेती-बारी, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन)